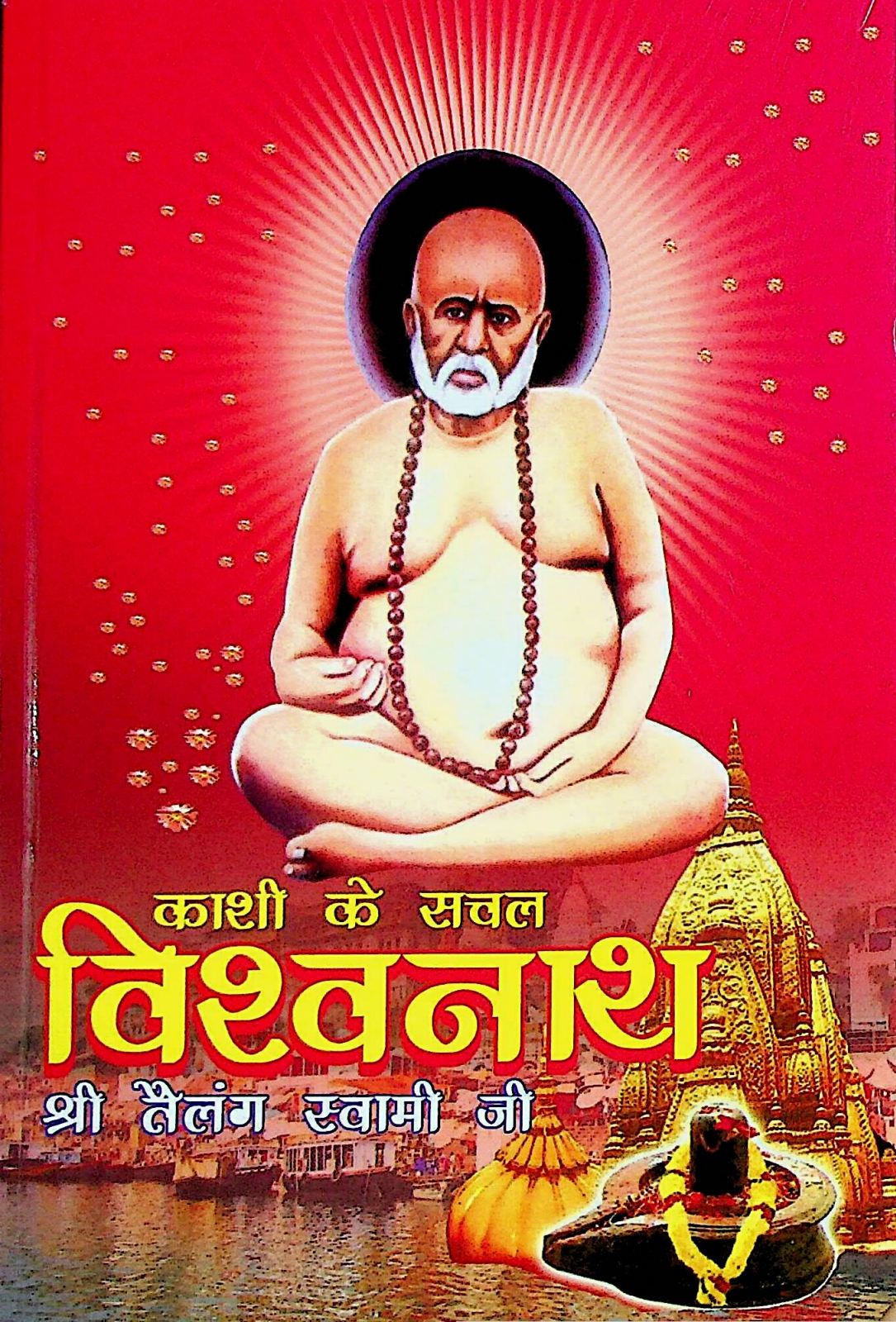
काशी के सचल
विश्वनाथ
श्री तैलंग स्वामी जी

काशी के सचल विश्वनाथ

महायोगेश्वर श्री तैलंग स्वामी जी

लेखक
श्री काली मोहन मुखोपाध्याय
डॉ0 इला सिन्हा

अनुवाद
श्यामा सिंह

प्रकाशक
श्री तैलंग स्वामी मठ
के. 23/95, पंचगंगा घाट, वाराणसी - 221001

काशी के सचल विश्वनाथ

महायोगेश्वर श्री तैलंग स्वामी जी

प्रकाशक : श्रीश्री तैलंग स्वामी मठ

भारतीय कॉपीराइट कानून के अनुसार सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन सुरक्षित हैं। किसी भी प्रकार से पुस्तक के सम्पादन, आंशिक या पूर्ण रूप से किसी पुस्तक या समाचार पत्र में मुद्रण के लिए प्रकाशक की अनुमति लेना आवश्यक है। ऐसा न करने वाले को कानूनी कार्रवाई का समना करना होगा।

सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : 2004 (1000 प्रतियाँ)
द्वितीय संस्करण : 2009 (1000 प्रतियाँ)
तृतीय संस्करण : 2017 (1000 प्रतियाँ)

प्राप्ति स्थान : तैलंग स्वामी मठ, पंचगंगाघाट, वाराणसी

सहयोग राशि : रु. 200.00

मुद्रक : एस.टी.एस.जे. कम्प्यूटर्स
बुलानाला, वाराणसी

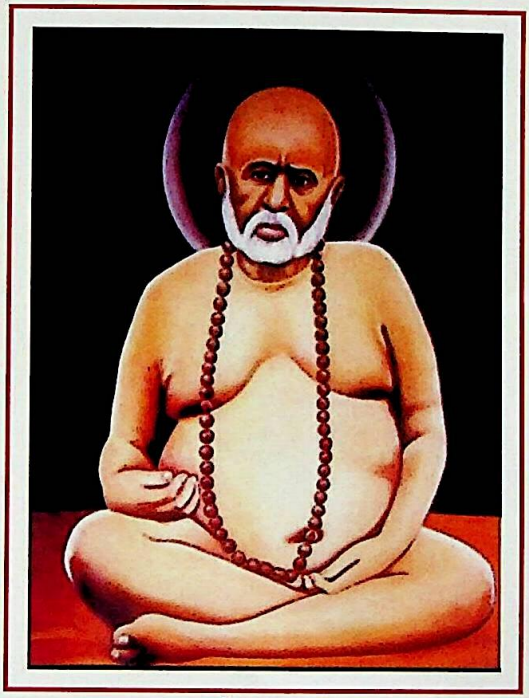

श्री श्रीमद् तैलंग स्वामी जी

श्रीमद् शिव रामानन्द सरस्वती

आविभार्व : 1607 ई.
पौष शुक्ल एकादशी : 1014 बी.एस.

तिरोधान : 1887 ई.
पौष शुक्ल एकादशी : 1294 बी.एस.

योगीन्द्राय नमस्तुभ्यं त्यागीष्वराय वै नमः।
भूमानन्द स्वरूपाय तैलंग स्वामीने नमः ।।

उत्सर्ग

'करुणाघन सचल विश्वनाथ', महायोगेश्वर तैलंगस्वामी महाराज जो विश्व के नाथ तथा सभी जीवों के आश्रयस्थल हैं। जिनकी क़रुणा कटाक्ष से असंभव भी संभव हो जाता है, उनकी कृपा के बिना उनकी लीलाओं को लिपिवद्ध करना असम्भव है। उनके जीवन में किसी को भी उनके बारे में कुछ लिखने की अनुमति नहीं मिली थी, उनके बारे में जो भी लिखा गया है, वह उनकी अनुमति से एवं उनके अंतर्ध्यान के बाद ही लिखा गया है। अनेक वर्ष बाद इसका संकलन एवं प्रकाशन उन्हीं की कृपा से संभव हो पाया है।

गंगाजल से गंगा की पूजा की तरह, उनकी कथा उन्हीं के श्री चरणों में समर्पित है।

इला सिन्हा

मुझे कुछ कहना है.....

जय गुरु बाबा तैलंग स्वामीजी की प्रेरणा से तथा उनके भक्तजनों के सतत् आग्रह एवं आकांक्षा से उनके जीवन चरित्र को दुबारा लिखने का यह प्रयास किया गया है।

श्री उमाचरण मुखोपाध्यायजी की मूल पुस्तक 'महात्मा तैलंग स्वामी का जीवन चरित और तत्वोपदेश' के आधार पर तथा स्वामी जी की जीवन लीलाओं की कुछ अप्रकाशित घटनाओं का संयोजन कर "काशी के सचल विश्वनाथ" नामक इस पुस्तक को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है।

पुस्तक का दूसरा भाग तत्वकथाएँ मूल ग्रंथ से अभिप्रेरित है। अन्तर सिर्फ इतना है कि प्रत्येक तत्वकथा के नीचे लघु आकार में दिया हुआ उसका सारांश डा. इला सिन्हा का संयोजन है, आशा है कि इस प्रयास से पाठक एवं भक्त जनों को तत्वकथा को याद रखने में आसानी होगी।

इस पुस्तक के लेखन में हम 'महात्मा तैलंग स्वामी का जीवन चरित', लेखकः श्री उमाचरण मुखोपाध्याय तथा इसके हिन्दी अनुवादक : डा. वासुदेव चटर्जी का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहेंगे क्योंकि उनके लेखन से हमें इस पुस्तक को लिखने में विशेष सहायता प्राप्त हुई है। इस निमित्त हम उन्हें आभार ज्ञापित करना कैसे भूल सकते हैं।

जय गुरु बाबा को श्रद्धांजलि स्वरूप प्रकाशित इस पुस्तक में जो त्रुटियाँ रह गई हों, उनके लिये हम पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं। आशा है 'काशी के सचल विश्वनाथ' आपको पसंद आएगी।

श्री कालीमोहन मुखोपाध्याय
उत्तरपाड़ा

आभार स्वीकार

तैलंगस्वामी जी के जीवन में किसी को उनकी जीवनी लिखने की अनुमति प्राप्त नहीं थी। स्वामी जी कहा करते थे 'अगर हमें जीव समझते हो तो मेरी जीवनी लिख सकते हो'। उनके अंतर्ध्यान होने के बाद उनके अंतिम शिष्य द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'महात्मा तैलंगस्वामी का जीवन चरित एवं तत्वापदेश' से इस पुस्तक के मूल उपादान संग्रहित हैं, मैं हृदय से उनका आभार व्यक्त करती हूँ।

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का संपादन 'सन्मार्ग' समाचार पत्र के सम्पादक श्री राधाकृष्ण प्रसाद एवं उसी समाचार पत्र के उप सम्पादक श्री एस. आनन्द जी के सहयोग से ही संभव हो पाया। मैं उनकी आभारी हूँ।

मेरे गुरुदेव श्री कालीमोहन मुखोपाध्याय जी, जो श्री तैलंग स्वामी के अनन्य भक्त हैं तथा तैलंग स्वामी मठ, वाराणसी से विगत 60 वर्षों से जुड़े रहे हैं, ने इस पुस्तक की सभी घटनाओं के संयोजन एवं उनके सत्य विवरण को बनाये रखने में निरंतर मेरा मार्गदर्शन किया है। गुरु कृपा के बिना यह प्रयास संभव नहीं होता।

मैं डा. सुकुमार साहा की अत्यंत आभारी हूँ जिन्होंने इस कार्य में सहयोग देने के साथ ही सतत् मेरा उत्साहवर्द्धन किया है।

मैं बनारस स्थित तैलंग स्वामी जी के मठ में रोज आनेवाले असंख्य भक्त एवं श्रद्धालुओं की भी आभारी हूँ ,जिनका वर्षों का निरंतर आग्रह इस पुस्तक को लिखने के लिए प्रेरणा स्रोत बना, उनके कातर आग्रह के बिना यह प्रयास शायद कभी संभव नहीं हो पाता।

स्वामी जी के प्रति श्रद्धांजलि स्वरूप प्रकाशित इस पुस्तक के पाठकों को पसंद आने पर ही प्रयास सार्थक हो सकेगा। इस पुस्तक में अगर कोई त्रुटि रह गई हो तो सुधी पाठक उसके लिए क्षमा करें।

विनीता
डा. इला सिन्हा
262,जी.टी. रोड,
उत्तरपाड़ा – पिन :712258

अनुक्रमणिका

पहला भाग

	पृष्ठ संख्या
1. गुरु–वंदना	
2. श्री श्री तैलंग स्वामी जी की आरती	
3. द्वितीय प्रकाशन की भूमिका	
4. प्राक्कथन	
5. तैलंग स्वामी जी का जीवन चरित्र	1–103

दूसरा भाग

तत्वोपदेश	104
1. ईश्वर	107
2. सृष्टि	116
3. संसार	129
4. गुरु–शिष्य	139
5. चित्तशुद्धि	148
6. धर्म	154
7. उपासना	162
8. पूर्वजन्म एवं परजन्म	176
9. आत्मबोध185	
10. तन्मयत्व	191
11. कुछ सार बातें	205
12. तत्वज्ञान	212

श्री गुरु वन्दना

नमः तैलंग शिव लिंगम महायोगी महेश्वरम्।

प्रसीदत्वम् जगद्गुरु तस्मै श्री गुरवे नमः।।

नमः योगानन्दे महानन्दम् शिवानन्दे शक्तिप्रियम्।

ज्ञान भक्ति प्रियम् प्रियम् तस्मै श्री गुरवे नमः।।

नमः ज्ञान चक्षु दिव्य दानं चराचर गुरु ज्ञानं।

भूत भ्रांति उपशमनम् तस्मै श्री गुरवे नमः।।

नमः सृष्टि कल्पे चतुर्मुखम् स्थितिकल्पे चतुर्भुजम्।

निर्विकल्पे महेश्वरम् तस्मै श्री गुरवे नमः।।

नमः परंब्रह्म कल्पातीतं कोटि कल्प अंक स्थितम्।

गुरुदेव परंब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

नमः गुरुदेव गर्वहरं सर्व पाप हरं हरं।

मोक्ष देव महेश्वरम् तस्मै श्री गुरवे नमः।।

—:—

श्री श्री तैलंग स्वामी जी की आरती

जय जय श्री योगेश्वर तैलंग स्वामी।
जय जय श्री विश्वेश्वर परमहंस नामी।।
जयदेव–जयदेव।।
प्रकटे शुभ तैलंग प्रान्त होलियास्थान।
मातु–पिता विद्यावती श्री नृसिंहधर जान।।
श्री तैलंग, धरनामी तत्सद्गुरु महान।
स्वामी भगीरथ कहते गणपति स्वामी समान।।
जयदेव–जयदेव।।
विरक्त बालकपन सो त्यागत धन गृह द्वार।
शिव स्थान वासी भे गुरु दे ज्ञान अपार।।
भव्य दिव्य वपु सुंदर तेज पुंज रविसार।
भक्त अंग बरसावत सदा प्रेम घन धार।।
जयदेव–जयदेव।।
श्री शिव काली भैरव यंत्र त्रय गणपाल।
दण्डपाणि दामोदर प्रभु साक्षी गोपाल।।
भीष्म पितामह शिववपु हनुमत खल दलकाल।
पंचगंगा तट सुरगण संग रहत सब काल।।
जयदेव–जयदेव।।
आत्मलिंग यह थाप्यो भक्त हेतु गुरुनाथ।
दर्शन तनमन पावन प्रेम भक्ति कर साथ।।
सांग योग सह जप तप विद्या फल सुत हाथ।
देत भक्ति अन पायिनि प्रेमी सद्गुरु नाथ।।
जयदेव–जयदेव।।
असंख्य जनहित प्रभु तब चमत्कार जगमो।
विधिहरि विश्वेश्वर तुम पर ब्रह्म सब मो।।
हिय सुख पर सुख दानी लीन करत निजमो।
मंगल आरती सह प्रभु चरण असंख्य नमो।।
जयदेव– जयदेव।।

—:—

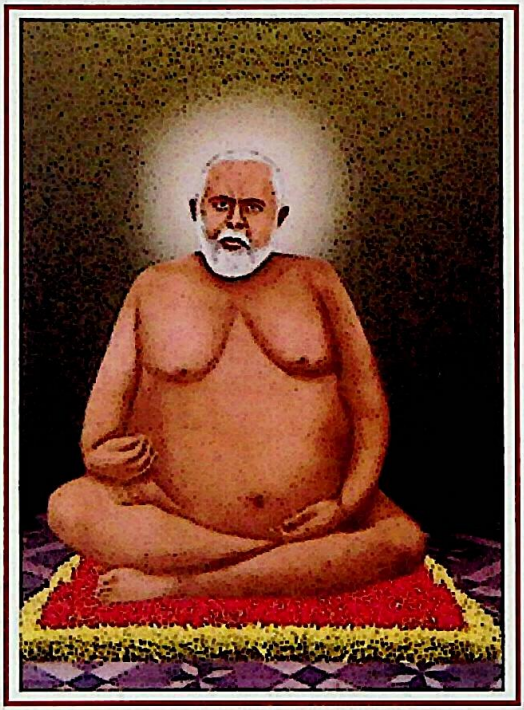

श्मशानचारी

श्री श्री तैलंग स्वामी जी

महादेव महाप्राण महायोगी महेश्वरम्।
महापाप हरं देव मकाराय नमो नमः।।

ॐ नमः भगवते तैलंग स्वामिने नमः

प्राक्कथन

परमपिता परमेश्वर का लीला क्षेत्र भारतवर्ष सनातन धर्म की पवित्र भूमि है। सृष्टि के आदिकाल से सनातन धर्म की रक्षा के लिए तथा उसकी अस्मिता को अक्षुण्ण रखने के लिए भगवान स्वयं अवतार रूप में बार–बार यहाँ अवतरित हुए हैं। गीता के दो श्लोकों में उन्होंने अवतार रूप में जन्म लेने का हेतु और उद्देश्य स्पष्ट किया है –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे ।। (गीता 4/7/8)

जब–जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होगी तब–तब मैं अपने आपको साकार रूप में प्रकट करूँगा। साधुओं के उद्धार के लिए तथा पापियों के विनाश के लिए और धर्म को पुनःस्थापित करने के लिए मैं युग–युग में प्रकट होऊँगा। यह उनकी कृपा है ।

इसी कारण वश महान पुरुषों को बार–बार इस पवित्र भूमि में जन्म लेना पड़ता है ।

मनुष्य जीवन में धर्म तथा अध्यात्म विद्या का स्थान अति उच्च है। जिस प्रकार बाहरी ज्ञान–विज्ञान, शिल्पकला आदि मानव के लिए आवश्यक हैं उसी तरह योग व परमार्थ विज्ञान का महत्व भी अतिशय जरूरी है। वास्तव में लौकिक विषय से भी धर्म का महत्व अधिक मूल्यवान है क्योंकि वाह्य ज्ञान–विज्ञान देश और काल तक ही सीमित हैं जबकि आत्म विज्ञान की महिमा यत्र, तत्र, सर्वत्र विद्यमान और विस्तीर्ण है ।

मनुष्य के आत्म साक्षात्कार के लिए योगी, ज्ञानी तथा भक्त महापुरुषों का महान चरित्र अनुशीलन का विषय है। वर्तमान युग में जितने भी महापुरुषों ने जन्म लिया है उनमें महात्मा तैलंग स्वामी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। हम बचपन से ही उनकी योग विभूति तथा अचिन्त्त महिमा के बारे में सुनते आये हैं पर ये सभी योग विभूतियाँ असाधारण होने पर भी उनके आध्यात्मिक जीवन का परिपाक नही हैं। केवल योग–विभूति के आधार पर उनका विचार करना असम्पूर्ण है तथा उनके साथ अन्याय है। उन्होंने हिन्दू धर्म के साधन मार्ग पर रहकर उसी

धर्म का अनुशीलन कर उसमें चरम स्थान प्राप्त कर, जल, थल, आकाश, पाताल सभी स्थानों में अवस्थान करने की क्षमता प्राप्त कर ली थी। वे शिव स्वरूप होकर ब्रह्ममय हो गये थे। उन्होंने योगबल से 280 साल तक भौतिक देह में रहकर मुमुक्षु व्यक्तियों को रास्ता दिखाया है और उसके बाद स्वेच्छा से ही अपनी भौतिक काया का परित्याग कर ब्रह्मलीन हो गये थे।

महात्मा तैलंग स्वामीजी जैसे महात्मा का जीवन चरित हजारों धर्म प्रचारकों से भी अधिक कल्याणकारी है। उनके एक–एक कार्य और विभूति हजारों धर्म सभाओं के भाषण से भी अधिक लाभदायक हैं और लाखों शास्त्रों के पठन पाठन से भी ज्यादा मूल्यवान है ।

स्वामी जी आजन्म उदासीन, आत्म–प्रशस्ति में उत्साहीन, प्रचाराविमुख, मौन व्रतधारी तथा विराट महापुरुष थे। उनकी जीवन कथा यों तो तीन शताब्दियों तक विस्तीर्ण है तथा उसके सभी तथ्यों, तत्वों को ठीक–ठाक जानना हम जैसे अज्ञानी, मनुष्य के लिए असंभव है। स्वामी जी ने कृपा कर अपनी शिष्य मण्डली में कभी–कभी जो बातें कही हैं, उनमें उनके बंगाली शिष्य उमाचरण मुखर्जी जी की प्रकाशित पुस्तक "महात्मा तैलंग स्वामी का जीवन चरित तथा तत्व उपदेश" ज्ञानपिपासु मुमुक्ष व्यक्तियों के लिए बहुत ही उपयोगी पुस्तक है। इस पुस्तक के अलावा और भी कई पुस्तकों में तथा महापुरुषों की अन्य पुस्तकों में भी उनके साक्षात्कार के लिखित विवरण तथा उनके दर्शन प्राप्त जीवंत व्यक्तियों के श्रीमुख से वर्णित घटनाओं का सकंलन करके इस पुस्तक में लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है। प्रतिवर्ष उनके जन्मोत्सव समारोह पर उनके अनन्य भक्तगण उनके मठ में काशी आते रहते हैं और उनके बारे में अधिकाधिक जानने का आग्रह करते हैं। इसलिए सम्पूर्ण रूप से अयोग्य होने पर भी भक्तिभाव से इस उत्तम एवं गुरुतर कार्य का प्रयास कर रहे हैं। स्वामीजी का जीवन तथा उनकी जीवन कथा, अनादि एवं अनन्त है। इसे लिपिबद्ध करके कभी सम्पूर्णता नहीं दी जा सकती है।

तृतीय संस्करण की भूमिका

जो स्वयं प्रकाशित हैं, उन्हें प्रकाशित करने के लिए किसी रोशनी की आवश्यकता नहीं होती। भगवान तैलंग स्वामी जी स्वमहिमा से प्रकाशित एक ऐसे ही महापुरुष हैं कि अगर उनके बारे में कभी कुछ न भी लिखा जाये, तब भी वे उस ब्रह्माण्ड में उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में विराजमान रहेंगे। जीवनी ईश्वरं की नहीं होती, जीव की होती है क्योंकि हम जीवनी का आशय जीवरूप में शक्ति की लीला या भोग युक्त जीवन एवं खण्डकाल के सीमित चित्र को मानते हैं। जीव शब्द के 'ज' – का अर्थ जन्म, 'ई' का अर्थ कुण्डलिनी शक्ति एवं 'व' का अर्थ है सृष्टि योनि; अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति के सृष्टि योनि में बीजाकार में घट के अंदर स्थित होने पर जीव पद का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार जीव में 'अन' अर्थात् वायु प्रयुक्त होने पर जीवन की रचना होती है। ईश्वर की श्रेणी में रखे जाने योग्य महापुरुष जीवों के त्राता होते हैं, 'अहं बीजप्रद पिता' – के रूप में शक्ति के आधार, अखण्ड की ही लीला का विलास है अतः महापुरुषों की जीवनी लिखना जीव कोटि के मनुष्यों के लिए असाध्य होता है क्योंकि महापुरुष सृष्टि योनि के ऊपर ब्रह्म योनि में स्थित रहते हैं।

इस प्रसंग में तैलंग स्वामी पर केन्द्रित एक घटना अध्यात्म पिपासुओं के लिए अनुधावन एवं प्रणिधान के योग्य है। स्वामी जी की देहलीला के काल में एक जीवनी लेखक सन्यासी द्वारा जीवनी लिखने की अनुमति माँगने पर उन्होंने कहा था – 'अगर हमें जीव समझते हो तो जीवनी लिख सकते हो'। स्वामी जी का उत्तर सुन वह जीवनीकार भागने का मार्ग तलाशने लगा।

यह रचना धर्मपिपासु, जिज्ञासु, मुमुक्षु एवं कातर भक्तों के अनुरोध पर की गई संकलन की एक कोशिश मात्र है। यह जीवकुल के कल्याण के लिए उनके महान सर्वकल्याणमय आदर्श के संकलन की लिपि है।

यह देवभूमि भारत में अनादिकाल से ईश्वर के लीलाविलास का क्षेत्र और उनकी विचरण स्थली रहा है। भारत की शक्ति उसकी आध्यात्मिकता में निहित है।

उस आध्यात्म को समुज्ज्वल रखने के लिए तथा धर्म के संस्कार एवं संस्थापना के लिए ईश्वर ने हर युग में मानव रूप में प्रकट होकर अपनी श्रेष्ठ रचना मानव कुल का कल्याण किया है। यह भारत अध्यात्म एवं ब्रह्मविद्या का रक्षणागार है, इसीलिये इस भारत भूमि में इतने महात्मा प्रकट हुये हैं, जितने पृथ्वी पर अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देते।

महापुरुषों ने कठोर साधना द्वारा चरम शिखर पर पहुँच कर यह प्रमाणित किया है कि साधना के बल पर मनुष्य के लिए ईश्वर का आसन प्राप्त करना भी असंभव नहीं है। महात्मा तैलंग स्वामी जी ने भी ईश्वर का पद प्राप्त कर इसी सत्य को प्रमाणित और स्थापित किया है। वे हमेशा कहा करते थे – 'ईश्वर ने मनुष्य को अपने जैसा ही बनाया है, मनुष्य में इच्छा हो और वह कोशिश करे तो हर मानव ईश्वर जैसा बन सकता है।'

ऐसे महापुरुषों को समझने के लिये, उनके बारे में कुछ लिखने के लिए अपने को उसी स्तर तक उठाना होता है, कम से कम उनकी साधना के मार्ग का यात्री बन कर कुछ दूर तक जाना होगा अन्यथा सारा परिश्रम व्यर्थ हो जायेगा।

इस विषय में स्वामी विवेकानन्द की एक उक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस मर्त्यधाम का त्याग करने के अंतिम क्षणों में स्वामी जी ने स्वगतोक्ति के रूप मे कहा था–'एक और विवेकानन्द होता तो वह समझ सकता था कि इस विवेकानन्द ने क्या किया है'।

महात्मा तैलंग स्वामी के 280 वर्ष के दीर्घ जीवन काल में से अधिकांश समय हिमालय के दुर्गम अंचलों और मानसरोवर के दुरुह पर्वतीय क्षेत्रों में बीता था। यह जानना मुश्किल है कि वहाँ के अगणित धर्मपिपासु व्यक्तियों में वे किस अमूल्य सम्पदा का वितरण कर गये हैं।

अपनी देहलीला के अंतिम 150 वर्ष स्वामी जी ने वाराणसी के श्मशान घाट पर खुले आसमान के नीचे व्यतीत किये थे। इस समय में भी वे हिमालय एवं सुमेरु तीर्थ में विचरण करते रहे।

अपनी देहलीला के अंतिम 80 वर्ष स्वामी जी ने अपने सेवायत भक्त शिष्य

मंगल भट्ट जी के आंगन में खुले आकाश के नीचे एक वेदी पर बिताये, वह स्थान वर्तमान समय में 'तैलंग स्वामी के मठ' के नाम से प्रसिद्ध है। 'मठ' शब्द सुनते ही साधारण तौर पर साधू–सन्यासियों का निवास स्थान एवं शास्त्रों के पठन–पाठन स्थल का बोध होता है पर 'तैलंग स्वामी का मठ' तथाकथित मठ नहीं है। क्योंकि अपने सेवायत मंगल भट्ट की सेवा से संतुष्ट होकर योगीवर ने उन्हीं के आंगन में अपनी पार्थिव जीवन लीला के अंत तक निवास किया था और भक्तों के अनुरोध पर उनकी मनोकामना पूरी करने के लिये अपनी मूर्ति में स्वयं प्राण प्रतिष्ठा कर गये हैं। इस प्रकार यह मठ केवल स्वामी जी के सेवायतों का निवास स्थान है तथाकथित मठ या मंदिर नहीं है।

भगवान तैलंग स्वामी जी के मठ में रोज आनेवाले भक्त, मुमुक्षु लोगों, विशेष कर हिंदी भाषियों के स्वामी जी के बारे में हिंदी में कुछ लिखने का आग्रह और व्याकुल प्रार्थना मेरे मन को विचलित करती थी। मैं उन सबकी प्रार्थना स्वामी जी के चरणों में निवेदित करती थी कि वे उनकी इच्छा पूरी करें। इसी प्रकार कई वर्ष बीतने के बाद परम करुणामय स्वामी जी की कृपा से यह पुस्तक सन् 2004 में उन्हीं के मठ से पहली बार हिंदी में प्रकाशित हुई और उन्हीं के आशीर्वाद से उसे सराहा गया। इस पुस्तक में स्वामी जी महाराज की देहलीला के अंतिम पाँच वर्ष का विवरण स्वर्गीय उमाचरण बाबू की 'महात्मा तैलंग स्वामी जी का जीवन चरित एवं तत्वोपदेश' पुस्तक के आधार पर लिखा गया है।

तत्पश्चात् बंगाली भक्तों के अनुरोध पर उसी वर्ष पुस्तक का बंगला अनुवाद किया, अल्प समय में ही प्रथम संस्करण के समाप्त हो जाने पर मैंने दूसरा संस्करण प्रकाशित करने का प्रयास किया है। भक्तों को आनन्द और संतुष्टि मिलने पर मैं इस प्रयास को सार्थक समझूँगी। इस संस्करण के प्रकाशन में मेरे भ्रातृतुल्य श्री सोमदत्त मुखोपाध्याय ने विशेष सहायता की है। उनकी सहायता के बगैर इस तृतीय संस्करण का प्रकाशन असंभव था, मैं स्वामी जी से उनके लिए आशीर्वाद माँगती हूँ। मैं उन असंख्य भक्तों की आभारी हूँ जिनके आग्रह और सहयोग से इस ग्रंथ को सम्मान प्राप्त हुआ है।

– वन्दे श्री गुरु चरणम्–

– इला सिन्हा

तैलंग स्वामीजी का जीवन चरित्र

प्रथम अध्याय

आज से चार सौ वर्ष पहले की बात है। दक्षिणात्य प्रदेश के अंतर्गत विजना नामक जिले के होलिया प्रदेश के अंतर्गत नृसिंह धर नामक एक ऐश्वर्यशाली जमींदार निवास करते थे। वे दयालु, सुच्चरित्र, धार्मिक एवं परोपकारी ब्राह्मण थे। कर्तव्यनिष्ठता और उदारता उनमें कूट–कूटकर भरी थी। उनका विवाह विद्यावती नाम की एक बुद्धिमती, धर्मप्राणा, भक्तिमती, स्नेहमयी देवीस्वरुपा कन्या से हुआ था। वैभव मनुष्य को ईश्वर से दूर हटा देता है, परन्तु ये आदर्श दम्पति निष्ठावान, धार्मिक, दया, और करुणा के सागर थे एवं ईश्वरीय भक्ति भावना से परिपूर्ण थे।

उनके घर में शिवजी का एक विग्रह था जिसकी नित्य पूजा ये दम्पति भक्तिभाव तथा मनोयोगपूर्वक किया करते थे। प्रजाजनों के साथ नृसिंहजी बड़े ही आनन्द पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन्हें किसी चीज की कमी नहीं थी अगर कोई कमी थी तो मात्र इतनी कि उनके कोई संतान नहीं थी। काफी लम्बे समय तक संतानहीन रहने के कारण तथा परिवार परम्परा के सूत्र को कायम रखने हेतु नृसिंहजी ने अपनी पत्नी विद्यावती के अनुरोध पर दूसरा विवाह किया। विद्यावती पुत्र कामना से भक्तिभाव के साथ गौरीशंकर की आराधना करती रहीं। उसी समय उन्होंने पूर्ण निष्ठा के साथ 12 ब्राह्मणों की सेवा भी की।

सन् 1607 ई. के जनवरी महीने तथा बंगीय 1014 साल के पौष महीने की शुक्ला एकादशी को रोहणी नक्षत्र के शुभ लग्न में विद्यावती देवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। नवजात पुत्र का मुखावलोकन कर नृसिंह जी के घर में असीमित आनन्द, उल्लास फैल गया। आनन्द के उन क्षणों में उन्होने दीन दुखियों को बहुत से धनरत्न बाँटे तथा यथोचित धर्मिक एवं लौकिक कर्मानुष्ठान सम्पन्न कर पुत्र का नाम तैलंगधर रखा। पुत्र जन्म के बाद विद्यावती देवी एक दिन शिवजी की आराधना पूजा कर रही थीं, अचानक उन्होंने देखा कि एक ज्योति शिवलिंग के

अंदर से प्रस्फुटित होकर पूरे मंदिर को आलोकित कर रही है और शनैः–शनैः यह ज्योति मंदिर के बरामदे में सुलाये हुए उनके पुत्र के शरीर में प्रविष्ट हो गयी। यह दृश्य देखकर वे आश्चर्यचकित रह गयीं। उन्होने जाकर इस पूरे घटनाक्रम को अपने पति नृसिंहजी को बताया। उनके धार्मिक, निष्ठावान् पति ने सब कुछ सुनने के बाद कहा– तुम धन्य हो देवि! तुम्हारा यह पुत्र तुम्हारी शिव–आराधना का ही प्रतिफल है। यह कोई साधारण पुत्र नहीं है। इसने शिवजी के अंश से जन्म ग्रहण किया है और यह ईश्वर का ही काम करेगा।

इसीलिये माता ने इनका नाम शिवराम रखा। उचित समय पर नृसिंह धर ने पुत्र का चूड़ाकरण और उपनयन संस्कार करवाया। बालक बचपन से ही अत्यन्त बुद्धिमान और शांत स्वभाव का था। उसकी स्मरणशक्ति अत्यन्त प्रखर थी। एक बार जो सुनता था उसे अनायास याद रखता था। उम्र बढ़ने के साथ–साथ उसमें दो और गुणों का विकास हुआ। दूसरों के दुःख से उनका हृदय अत्यधिक विचलित और कातर हो उठता था। वे समय–समय पर एकाकी बैठकर चिन्तन–मनन किया करते था। माँ विद्यावती देवी पुत्र को शिव ज्ञान से अत्यधिक प्यार के साथ उसका लालन–पालन करती रही।

कुछ दिन बाद नृसिंहजी की दूसरी पत्नी को भी एक पुत्र लाभ हुआ जिसका नाम श्रीधर रखा गया। दोनों बच्चों का लालन–पालन काफी लाड़ प्यार से होता रहा। विद्यावती देवी प्रतिदिन बिना शिव–आराधना किये अन्न जल ग्रहण नही करती थीं। माता और पुत्र दोनों एक साथ बैठकर हाथ जोड़कर परिपूर्ण भक्ति के साथ शिवजी का स्तोत्र पाठ करते थे। भाव विभोर होने की दशा में उनके नयनाश्रु से उनके कपोल भीग जाते थे। पूजा और ध्यान के समय विद्यावती देवी का मुखमण्डल एक दिव्य ज्योति से उज्जवल हो उठता था। ऐसा लगता था जैसे स्वर्ग की कोई देवी पृथ्वी पर ध्यानामग्न बैठी है। ऐसी अवस्था में एकमात्र शिवरामजी को छोड़कर और कोई उनके सम्मुख जाने का साहस नहीं करता था।

विद्यावती देवी आरम्भ से ही पुत्र के मानसिक भाव पर दृष्टि रखकर और उनके कार्यों को देखकर अनुभव करने लगी थीं कि उनका पुत्र शिवराम धर्म–पथ का पथिक बनने चला है। वह अनित्य संसार की माया में फँसना नहीं चाहता है। पुत्र में यह भाव देखकर माँ अतीव आनंदित होती थीं, जबकि पुत्र में इन हताश भावों को

(2)

देखकर नृसिंहजी दुखी रहते थे और सोचते थे कि पुत्र कहीं वैराग्य के कारण संन्यास लेकर घर–द्वार न छोड़ दे। पुत्र के मन को परिवर्तित करने के लिए उन्होने एक दिन पुत्र के विवाह का प्रस्ताव रखा, परन्तु शिवराम विवाह करने के लिए किसी प्रकार से भी राजी नहीं हुए। पिता के बार–बार अनुरोध करने पर एक दिन उन्होंने अतिशय विनम्रता के साथ अपने माता–पिता से कहा कि "यह संसार तो अनित्य है, न इसमें कोई स्थायी सुख है और न ही इस नश्वर जीवन की कोई स्थिरता है। तब इस मायाजाल में फँसाने का प्रयोजन क्यों? इस संसार में एकमात्र नित्य, सत्य, अनश्वर और स्थायी हैं ईश्वर। मै उन्हीं को ढूंढना और पाना चाहता हूँ। आप आज्ञा दें कि मैं उसी चेष्टा में निरन्तर लगा रहूँ।"

नृसिंह धर ने पुत्र के मन परिवर्तन का काफी प्रयास किया पर उन्हें अंततः असफलता ही हाथ लगी और उनकी पीड़ा घनीभूत होती चली गयी, परन्तु उनकी धर्मपत्नी विद्यावती देवी दुःखी होना तो दूर बल्कि अपने पुत्र का ईश्वर के प्रति गंभीर भक्तिभाव को देखकर मोहित होती चली गयीं और उन्होने एक दिन अपने पति से कहा– तैलंगधर के विवाह से इनकार करने के कारण आप इतने उदास व दुःखी क्यों हो रहे हैं? विवाह का उद्देश्य क्या है? अगर परिवार की परम्परा एवं वंश–रक्षा की बात है तो श्रीधर के विवाह करने से भी यह उद्देश्य पूरा हो सकता है। शिवराम जब विवाह नहीं करना चाहता तो बलपूर्वक उसकी शादी कराने से उसे सुख नहीं मिलेगाा बल्कि इसका परिणाम भयानक हो सकता है। इसलिए वह जिस रास्ते पर चलना चाहता है उसमें हमलोगों को बाधा नहीं डालना चाहिए। उसकी कामना पूर्ण होने पर माता–पिता के रूप में हम भी गौरवान्वित ही होंगे। इससे देश और मानव समाज का कल्याण होगा। हमें चाहिए कि हम इसकी इच्छापूर्ति में इसकी सहायता करें तथा इसका उत्साह बढ़ायें, जिससे उसकी मनोकामना पूरी हो सके।

नृसिंह धर ने जब पत्नी का यह सांत्वना भरी बात सुनी तो मारे प्रसन्नता के फूले नहीं समाये और ऐसे पुत्र का पिता होने पर अपने को महासौभाग्यशाली तथा धन्य अनुभव करने लगे। उन्होंने श्रीधर का विवाह कर दिया। इस विवाह से विद्यावती देवी और शिवराम दोनों प्रसन्न हुए।

शिवरामजी के हृदय में माता–पिता के आशीर्वाद से प्रबल शक्ति का संचार हुआ और वे ईश्वर चिन्तन में लीन हो गये।

वे बचपन से ही अत्यन्त मेधावी थे। अल्पायु में ही उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन पूरा कर लिया था। वे जब एकान्त में ध्यान लगाकर बैठते तो लोग उनके सुन्दर, सुगठित शरीर, प्रशांत ललाट, दिव्य ज्योति से भरी हुई आँखें, ऊँची नाक, चौड़ी छाती, घुटने से लम्बी बाँहें, कोमल चरण आदि महापुरुषों जैसे लक्षण देखकर मोहित हो जाते थे।

आयु बढ़ने के साथ–साथ शिवरामजी के हृदय में धर्माकांक्षा और बलवती हो उठी। उन्हें अपनी अन्तरात्मा में किसी अमूल्य रत्न के अभाव बोध होने लगा। उनकी माता ने देखा कि पुत्र के हृदय में ईश्वर के प्रति अत्यन्त व्याकुलता है तथा उसकी आहार–विहार में कोई रुचि नहीं रह गयी है तो उन्होंने पुत्र को समुचित उपदेश देना आरम्भ किया। इससे उनके मन का आन्नद द्विगुणित हो गया। माता के उपदेश उनके कानों में अमृत वर्षा करने लगे। उपदेश सुनते–सुनते वे स्वर्गीय आन्नद में डूब जाते थे। उनके मन की व्याकुलता रूपी मोहजाल छिन्न–भिन्न होकर विद्युत आलोक फैल रहा था।

वे क्रमशः माता के दिखाये रास्ते पर बढ़ने लगे उनके हृदय में ज्ञानालोक प्रकाशित होने लगा तथा मानसिक स्थिति भी उन्नत होने लगी। भगवत् भक्ति का विरवा क्रमशः फूलने–फलने लगा।

शिवरामजी जब 40 साल के थे तब अचानक उनके पिता नृसिंहजी बीमार पड़ गये। सेवा और इलाज में कोई कमी नहीं थी, परन्तु परिणाम ढाक के तीन पात ही थे। बीमारी के पाँचवे दिन उनका देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु से गाँव के सभी लोग शोकाकुल हो गये। पतिव्रता विद्यावती देवी पति के वियोग में मृतवत् हो गईं। पति की मृत्यु के पश्चात् विद्यावती देवी ने पारिवारिक दायित्व से छुटकारा ले लिया और अपने को ईश्वर भजन कीर्तन में सन्नद्ध कर लिया। शिवराम जी भी अपनी माता के साथ रहकर ईश्वर के चिन्तन–मनन में मग्न हो गये।

इस प्रकार 12 साल व्यतीत हो गये। शिवरामजी जब 52 साल के थे तो अचानक उनकी माताश्री का भी देहान्त हो गया। इससे उनके जीवन में आनन्द की नदी सूख गयी। माता की मृत्यु के बाद संसार उनके लिए विषतुल्य प्रतीत होने लगा।

(4)

वे सांसारिक बंधनों से पूरी तरह मुक्त हो गये। जिस स्थान पर माता का अंतिम संस्कार हुआ था, वही स्थान उनको परम पवित्र और मनोरम लगने लगा। उसी दिन से वे धन, सम्पत्ति और परिवार का मोह त्याग कर उसी श्मशान में निवास करने लगे। माता की चिताग्नि से उनका चित शुद्धता की पूर्णता को प्राप्त हो गया, संसार का सारा वैभव उन्हें असहनीय लगने लगा। उन्होंने माता का संस्कार कर उस पुण्य विभूति को अपने मस्तक पर धारण किया तथा उसे अपने पूरे शरीर पर भी लगा लिया। उसी मातृ श्मशान को अपनी साधना–स्थली बना ली और वहीं रहने लगे।

उनके इस कार्य से उनका छोटा भाई श्रीधर अत्यन्त दुःखी हुआ। उसने घर लौट आने के लिए उनसे काफी अनुनय–विनय की परन्तु परिणाम नकारात्मक ही रहा। श्रीधर हताश–निराश होकर घर लौट आया और पुनः कुटुम्बीजनों के साथ लेकर उनके पास गया तथा उनसे घर लौटकर पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनने के लिए विशेष रुप से निवेदन किया।

पर वे नहीं माने क्योंकि जो भगवत् भण्डार के अमूल्य रत्नों से तृप्त होना चाहता था उसे आकर्षित करने में संसार का प्रलोभन असमर्थ रहा। उन्होंने सभी को अपने बारे में चिन्ता न करने का अनुरोध करते हुए ससम्मान विदा किया। श्रीधर से कहा "तुम मेरे लिए क्यों इतना कष्ट उठा रहे हो? घर लौटकर सारी सम्पत्ति के अधिकारी बनकर उसकी देखभाल करो तथा उसका भोग करो। मुझे धन सम्पत्ति की कोई आवश्यकता नहीं हैं। हम कदापि घर नहीं लौटेंगे। इस क्षण भंगुर शरीर को लेकर हम इस अनित्य संसार में डूबना नहीं चाहते। मैंने यह मन और शरीर उन्हीं परमेश्वर के चरणों मे सौंप दिया है। अब मेरे लिए यहाँ से लौटना असंभव है। मुझसे अब पुनः घर लौटने का अनुरोध मत करो।"

बहुत प्रयास करने पर भी जब श्रीधर अपने भाई के मन और विचार बदलने में सफल हो नही सका तब दुःखी होकर घर लौट आया। खुले श्मशान में रहने से भाई को कष्ट होगा, यह सोचकर उसने उनके लिए वहाँ एक कुटिया बनवा दी और उनके आहार आदि की व्यवस्था कर दी। अब शिवरामजी अपनी माता के सिखाये हुए मार्ग पर ही अपनी योग साधना करने लगे।

इस प्रकार 20 साल का लम्बा समय बीत गया। एक दिन अचानक उनके मन में किसी महापुरुष से साक्षात्कार करने की इच्छा बलवती हुई।

सन् 1679 ई. में स्वामी भागीरथानन्द सरस्वती नाम के सुप्रसिद्ध योगी, जो पश्चिम प्रदेश के पटियाला राज्य के वस्तूर गाँव के रहने वाले थे, वे अचानक शिवरामजी के मातृ श्मशान आ पहुँचे। दोनों में परस्पर वार्ताएँ हुई और वे एक दूसरे से काफी प्रभावित हुए तथा प्रसन्नता का अनुभव किया। कुछ दिन तक साथ रहने के बाद स्वामी भगीरथानन्द शिवराम जी को साथ लेकर पुष्कर तीर्थ चले गये। वहाँ दोनों काफी दिनों तक एक साथ रहे। वहीं पर भगीरथ स्वामी ने सन् 1685 ई. में उन्हें दीक्षा दी और तदुपरान्त उनका नाम गणपति स्वामी हुआ। तत्पश्चात् दोनों ने एक साथ रहकर दस वर्षों तक साधना की। वे गुरुजी के साथ रहकर उनके दिखाये मार्ग पर साधना करते रहे। सन् 1695 ई. में भगीरथ स्वामीजी ने पुष्कर तीर्थ में ही अपना शरीर त्याग दिया।

शिवरामजी ने बचपन से ही मन में संकल्प लिया था कि माता की मृत्यु के बाद वे सन्यास लेंगे। अचानक उन्हें माता की एक बात याद आयी। माँ ने उनसे कहा था कि 'देखो बेटा, जब हमें कोई संतान आदि नहीं हुई थी तब मैंने गौरी शंकर जी की आराधना की थी और साथ ही उसी समय हमने विधि विधान पूर्वक 12 ब्राह्मणों की सेवा भी की थी, उसके बाद तुमने मेरे पुत्र रुप में जन्म लिया, पर हमें पता नहीं कि 12 ब्राह्मणों की सेवा का क्या फल होता है? शिवराम तुम संन्यास ग्रहण करने के पहले इसका पता जरुर लगाना। यह हमारी इच्छा है। मेरी यह बात तुम हमेशा याद रखना।'

माता की उक्त बात याद कर वे तीर्थ भ्रमण के लिए निकले और काशी आ पहुँचे। उन्होंने काशी में बड़े–बड़े पण्डितों से अपनी माता के प्रश्न का जवाब पूछा पर उनके प्रश्न का जवाब किसी से नहीं मिला। काशी के एक पण्डित ने उनसे कहा– तुम बंगाल जाओ वहाँ बर्दवान जिले के कटवा गाँव में गंगाजी के तट पर उद्धारणपुर नाम का एक महाश्मशान है और वहीं रघुनाथ भट्टाचार्य नाम के एक स्मार्त पण्डित जी 'नव स्मृति' ग्रंथ की रचना कर रहे हैं, वही तुम्हारे प्रश्न का जवाब दे सकते हैं।

शिवराम जी बंगाल में रघुनाथ पण्डित के पास जा पहुँचे और उनसे अपनी

माता के प्रश्न का जवाब माँगा। रघुनाथ पण्डित ने कहा– एक ब्राह्मण की सेवा का फल ही नहीं बताया जा सकता है और 12 ब्राह्मणों की सेवा का फल कैसे बतायें? तुम नर्मदा तट पर जाओ और एक सप्ताह तक मार्कण्डेय चण्डी का सम्पुट करो। सम्पुट खत्म होने से पहले तुम्हारे समक्ष एक महापुरुष आयेंगे, वही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देंगे। शिवरामजी उनके कथन के अनुसार नर्मदा तट पर पहुँचे और वहाँ एक निर्जन एवं शांत स्थान पर बैठकर सूर्योदय से पहले चण्डी का सम्पुट आरंभ किया। दो–चार दिन बीतने के बाद पक्षियों सहित सभी प्राणीगण उनके चारों तरफ एकत्रित होकर सम्पुट सुनने लगे। पाँच दिन के बाद बाघाम्बर पहने, जटाधारी हाथ में त्रिशूल लिये एक महापुरुष उनके पास आकर खड़े हो गये। कुछ देर बाद गेरुये वस्त्र पहने एक भैरवी भी आ पहुँची।

एक सप्ताह बाद सूर्यास्त के समय सम्पुट समाप्त कर शिवरामजी ने उस पुरुष से अपनी माता के प्रश्न का उत्तर पूछा। शिवराम का प्रश्न सुनकर महापुरुष ने महायोगिनी को सम्बोधित करते हुए कहा– हे देवी! तुम्हारे झोले में तीन गोलियाँ हैं। वे गोलियाँ तुम इन्हें दे दो। फिर शिवरामजी से कहा– यहाँ एक पर्वतीय राजा हैं, जिनको कोई संतान नहीं है। उस राजा की रानी को ये गोलियाँ खिलाने पर उनको एक बेटा होगा। वही नवजात शिशु तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देगा, इतना कहकर वे महापुरुष प्रस्थान कर गये।

सात दिनों तक सम्पुट पाठ करने के कारण शिवराम जी काफी कमजोर हो गये थे तथा उन्हें भूख भी लगी थी। वे एक बनिये की दुकान से कुछ भोजन कर एक वृक्ष के नीचे आकर बैठ गये। उसी समय एक आदमी घास का गट्ठर सिर पर उठाये उसी पेड़ के नीचे आकर बैठ गया। शिवरामजी ने उससे पूछा–भाई तुम किस जाति के हो? उस आदमी ने कहा– मैं ग्वाला हूँ। रात भर यहाँ आराम कर सुबह राजधानी जाऊँगा। शिवरामजी बोले– मैं भी सुबह राजमहल जाऊँगा, इसलिए दोनों साथ चलेंगे। वे लेट गये और घसियारे से बोले 'तुम जरा मेरे पैर दबा दो।' यह कहकर वे सो गये। ग्वाला आधी रात तक उनके पैर दबाता रहा और अंत में सो गया। सुबह उठकर शिवरामजी उसे पुकारने लगे, पर वह ग्वाला नहीं उठा, उसका देहान्त हो गया था। उन्होंने बनिये से पूछा कि वह उस घसियारे को जानता है या नहीं? बनिया उसे नहीं जानता था।

शिवरामजी ने सोचा रात भर इस आदमी ने पैर दबाकर मेरी सेवा की इसका संस्कार करना मेरा कर्तव्य है। दुकान से लकड़ी आदि लाकर नर्मदा के पावन तट पर उसका अंतिम संस्कार करने के बाद फिर नहाकर राजधानी की ओर बढ़ चले।

राजधानी पहुँचकर, पता चला कि राजा निःसंतान है। राजमहल जाकर उन्होंने कहा कि उनके पास दैवी जड़ी–बूटी है, जिसे खिलाने से राजा जी को पुत्र होगा। मंत्री ने यह बात राजा को बतायी पर महाराज ने कोई विशेष आग्रह नहीं दर्शाया क्योंकि वे रानी को पहले ही बहुत सारी दैवी–जड़ी बूटियाँ खिला चुके थे, परन्तु कोई सुफल नहीं मिला था। मंत्री ने फरमाया– महाराज! यह दवा खिलाने के बाद रानी जी को जब तक पुत्र नहीं होगा तब तक यह ब्राह्मण आपके राजमहल में रहना चाहता है। तब महाराजा ने शिवरामजी को बुलाया और उनसे दवा माँगी।

शिवरामजी ने उनसे कहा– हमें पैसे आदि देने की कोई जरूरत नहीं है, पर मेरी एक शर्त है कि पुत्र जन्म लेते ही सूतिका गृह में प्रवेश कर मुझे पुत्र को देखने की इजाजत मिलनी चाहिए। राजा उनकी बात से सहमत हो गये। ब्राह्मण से दवा लेकर रानी को खिला दिया ।

दस महीने बाद एक शुभ दिन प्रातःकाल रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। सभी लोग चकित होकर देखने लगे कि पुत्र जन्म लेते ही आनन्दित होकर जोर–जोर से हँसने लगा। राजमहल में हलचल मच गयी और सभी दवा देने वाले ब्राह्मण को बुलाने के लिए बेचैन हो उठे।

राजा के प्रहरी ने जाकर शिवराम से कहा कि रानी ने पुत्र को जन्म दिया है। वे शिवरामजी को सूतिका गृह ले गये। उन्होने अन्दर प्रवेश किया और देखा कि नवजात पुत्र जोर से हँस रहा है।

उन्होने शिशु को पहले प्रणाम किया फिर पूछा– आप कौन हैं? उन्होंने ध्यान लगाकर पता लगाया कि इसने एक रात निष्काम भाव से एक ब्राह्मण की सेवा की थी और उसी के फलस्वरूप उसने ग्वाले के कुल से राजकुल में जन्म लिया है। अतएव 12 ब्राह्मणों की निष्काम सेवा मनुष्य को ब्रह्मगति दे सकती है, इसमें कोई संदेह नहीं रहा।

स्वामीजी सन् 1697 ई. में तीर्थ भ्रमण करने निकले और सेतु बंध रामेश्वर पहुँचे। कार्तिक शुक्ल पचंमी तिथि को रामेश्वरजी की पूजा होती है और वहाँ

एक विशाल मेला लगता है। इस समारोह में अनेक देश के लोग तथा साधु–महात्माओं का समागम होता है। मेले में घूमते–घूमते शिवराम जी का अपने क्षेत्र के निवासी कई व्यक्तियों के साथ साक्षात्कार हुआ। वे लोग बहुत दिनों के बाद उनको देखकर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने शिवरामजी को घर वापस लौटाने की वहुत कोशिश की पर सफल नहीं हो सके। मेले के दूसरे दिन एक ब्राह्मण गर्मी से पीड़ित होकर मेले में गिर पड़ा और कुछ ही देर में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके तमाम साथी बहुत दुःखी हुए और रोने लगे और मेले में शोर मच गया। दो घंटे बाद शोर थमने पर उसके साथी उसका अंतिम संस्कार करने का प्रयास करने लगे, ठीक उसी समय शिवरामजी ने वहाँ उपस्थित होकर कहा – आप इनके अंतिम संस्कार का प्रबंध न करें। यह कहकर उन्होंने अपने कमण्डल से पानी लेकर मृत व्यक्ति के मस्तक पर चार–पाँच बार छिड़क दिया। तत्पश्चात धीरे–धीरे उस व्यक्ति की संज्ञा लौट आयी। शिवरामजी ने उसके साथियों को उसे थोड़ा दूध पिलाने की आज्ञा दी ओर वहाँ से चल पड़े। इस आश्चर्यजनक घटना को देखकर मेले में उपस्थित लोग आश्चर्यचकित हो गये तथा धन्य–धन्य कहने लगे।

वहाँ से निकलकर शिवरामजी देश भ्रमण के लिए कांचीवरम्, कांचीपुरम्, नासिक, पम्पा सागर होते हुए सन् 1699 में सुदामपुरी पहुँचे। वहाँ एक दरिद ब्राह्मण, जिसने रामेश्वरम् में स्वामीजी का चमत्कार अपनी आँखों से देखा था, अत्यन्त आदर और श्रद्धा के साथ अनुरोध कर उन्हें अपने घर में ले गया। ब्राह्मण की अवस्था, भक्ति–भाव और सेवा से संतुष्ट होकर स्वामीजी ने उस ब्राह्मण से उनको अपने घर लाने का अभिप्राय पूछा। उस ब्राह्मण ने धन और पुत्र की कामना की। स्वामीजी ने उसकी मनोकामना पूर्ण होने का वरदान दिया। एक वर्ष के भीतर ब्राह्मण धनी भी हो गया और उसे पुत्र भी प्राप्त हुआ। इस बात का प्रचार होते ही लोग आकर स्वामीजी को परेशान करने लगे, जिससे उनकी साधना में विघ्न उपस्थित होने लगा। तीन साल तक सुदामपुरी में रहने के बाद सन् 1701 ई. प्रभास क्षेत्र से द्वारिकापुरी होकर वे नेपाल राज्य में पहुँचे। वहाँ एक वन में निर्जन स्थान में रहकर योगाभ्यास करने लगे। एक दिन नेपाल के महाराजा सेना के साथ शिकार के लिए वन में गये। उनके प्रधान सेनापति ने शेर पर गोली चलायी, पर गोली शेर को नहीं लगी।

शेर प्राण भय से भयभीत होकर विचित्र आवाज करता हुआ भागने लगा। सेनापति अन्य सैनिकों को पीछे छोड़ शेर का पीछा करने लगे। शेर भागता हुआ जहाँ स्वामीजी ध्यानमग्न बैठे थे वहाँ पहुँचकर उनके चरणों पर गिर पड़ा। उस शेर की विचित्र आवाज से स्वामीजी का ध्यान भंग हो गया। आँख खोलते ही उन्होंने शेर को देखा और सारी बातें समझ गये तथा उसके शरीर पर हाथ फेरने लगे। शेर का पीछा करने वाला सैनिक वहाँ आ धमका।

यह असाधारण दृश्य देखकर वह चकित हो कठपुतले की तरह खड़ा रह गया। स्वामीजी ने इशारे से उस सैनिक को अपने समीप बुलाया। सैनिक सहमा–सहमा स्वामीजी के समीप आया और उन्हें प्रणाम किया। स्वामीजी ने मुस्कुराकर कहा– इतना भयभीत और आश्चर्यचकित होने का कोई कारण नहीं है? अगर तुम अपने मन में हिंसा वृत्ति छोड़ दो तो हिंस्र पशु भी तुम्हारे प्रति हिंसा नहीं करेगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखो कि यह शेर कैसा शांत होकर लेटा है। अभी तक तुमने इसका वध करने का संकल्प किया था, अब यह शेर अनायास ही तुम्हारे प्राण हरण कर सकता है। तुम भी अब उसी भय से भीत हो रहे हो। किसी को किसी का प्राण लेने का अधिकार नहीं है। अगर होता तो तुम बहुत पहले ही इसका वध कर सकते थे। इस संसार में सभी प्राणी समान हैं, किसी को किसी की हिंसा करना उचित नहीं है। अब तुमको कोई डर नहीं है तुम निर्विघ्न अपने अनुचरवर्ग के पास जाओ और आज से हिंसावृत्ति त्यागने का प्रयत्न करना।" स्वामीजी की बात सुनकर सैनिक निरुत्तर हो गया। वह स्वामीजी की चरणरज लेकर तथा उनके उपदेश को मन में बैठा कर वहाँ से चला गया। कुछ देर बाद शेर भी चला गया।

सैनिक ने राजा के पास पहुँच कर उन्हें सारी घटना सुनाई। नेपाल के महाराजा सैनिक से इन सारी बातों को सुनकर हतबुद्धि से हो गये।

वे बड़े ही धर्मपरायण थे और स्वामीजी की इस असाधारण क्षमता का वर्णन सुनकर उन का दर्शन करने के लिए उत्सुक हो उठे। स्वामीजी के दर्शन की प्रबल इच्छा से वे एक दिन अपने पार्षदों को साथ लेकर स्वामीजी के पास उपस्थित हुए। स्वामीजी के चरणों में बहुमूल्य रत्न, धन आदि की भेंट चढ़ा कर उन्होंने स्वामीजी को प्रणाम किया स्वामीजी ने नेत्र खोले, राजा और सैनिकों को देखकर मुस्कुराये पर राजा के दिये उपहार को हाथ भी नहीं लगाया।

जो विश्वम्भर के रत्न भण्डार का अमूल्य रत्न उपभोग करके तृप्त हों, उनके लिए इन नश्वर पार्थिव द्रव्यों का क्या आकर्षण है? स्वामीजी ने राजा को उचित सम्मान तथा बहुत सारे सदुपदेश देकर विदा कर दिया।

धीरे–धीरे स्वामीजी के अलौकिक कार्य एवं असाधारण चमत्कार के राज्य में प्रचारित होने से उनके पास लोक समागम बढ़ने लगा। जिससे उनके पारमार्थिक कार्य में विघ्न उपस्थित होने लगा और वे नेपाल राज्य छोड़ने को विवश हो गये।

सन् 1707 ई. में स्वामीजी भीमरथी तीर्थ पहुँचे। भीमरथी तीर्थ में रहने के समय वे संन्यास लेने और सतगुरु लाभ करने के लिए व्याकुल हो उठे। उस समय वहाँ श्रृंगेरी मठ के बह्मतेज सम्पन्न स्वामी विद्यानंद सरस्वती जी स्वयं उपस्थित थे। स्वामीजी उनके पास गये और उनके शिव तुल्य ब्रह्म तेज और धीर–गंभीर आनन को देखकर मोहित हो उठे। उन्होने अपनी मंशा उनके समक्ष जाहिर की और उनके चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया। स्वामी विद्यानंद सरस्वती ने सर्वगुण सम्पन्न और आत्मज्ञान पिपासु शिवराम को पाकर अतीव प्रसन्न हुये। शुभ दिन देखकर उन्होंने शिवराम को संन्यास की दीक्षा दे दी। उनके संन्यास आश्रम का नाम पड़ा रामानन्द सरस्वती। स्वामीजी ने गुरुजी के पास रहकर वेद, वेदांग, वेदांत आदि शास्त्रों का नियमपूर्वक पाठ कर अध्यात्म शास्त्र के सभी गूढ़ तत्वों को आत्मसात् कर लिया। वहाँ रहकर उन्होंने, काम्य, निष्काम, नित्य, नैमित्तिक सभी प्रकार की साधना का अभ्यास कर अपने अन्तःकरण को निर्मल और पवित्र बना लिया।

इसके बाद वे शम, दम आदि राजयोग की साधना कर तीव्र वैराग्य भाव और मुमुक्षता द्वारा निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना के वास्तविक अधिकारी बन गये। गुरुजी ने उन्हें निराकर ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया और तदनुरुप मार्ग को प्रशस्त किया। इसके बाद विद्यानन्द सरस्वती दक्षिण की ओर चले गये।

उन्होंने जाने के पहले शिवराम को भीमरथी में कुछ दिन और रहकर योगाभ्यास करने के बाद तिब्बत और मानसरोवर जाने और आत्मज्ञान में मग्न रहने का आदेश दिया। स्वामीजी पाँच वर्ष तक भीमरथी में रहे। उन्होंने मातृश्मशान में मंत्रों की सहायता से अभ्यास किया था। यहाँ उन्होंने क्रियायोग एवं राजयोग की साधना में सिद्धि प्राप्त की तथा आत्म साक्षात्कार कर सफल हुए। उन्हें साधना द्वारा आकाश, पृथ्वी, पाताल और जल में प्रवेश करने की सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं।

1710 में उन्होंने भीमरथी से मानसरोवर जाने के लिए यात्रा आरम्भ की एवं वहाँ रहकर बहुत समय तक योगाभ्यास किया। मानसरोवर में रहने के समय उन्होंने कई अलौकिक कार्य किये। एक दिन एक विधवा स्त्री अपने सात साल के एकमात्र मृत पुत्र को लेकर जोर–जोर से रोते हुये उसका अंतिम संस्कार करने जा रही थी। वह बालक ही उसके लिए अंधे की लाठी था तथा पिछली रात्रि में उस बालक की सर्पदंश से मृत्यु हो गयी थी। उस बालक के सिवा उस विधवा का इस संसार में कोई नहीं था। उसके दुःख से मर्माहत अनेक ग्रामवासी भी उसके साथ थे। श्मशान में पहुँचकर जब वे सब बालक के अंतिम संस्कार की तैयारी कर रहे थे, उसी समय स्वामी जी वहाँ आ उपस्थित हुये। उन्हें देखते ही विधवा में अचानक आशा का संचार हुआ। वह अपना दुःख भूल कर कुछ पल तक दैवीमूर्ति के समान स्वामीजी की ओर एकटक देखने लगी। उसके अंर्तमन में आशा की किरण फूटी कि ये महात्मा ही हमारे मृत पुत्र को प्राण दे सकते हैं। उसे एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हुआ और उसकी आँखों से प्रेमाश्रु कि अविरल धारा बहने लगी। वह अपने पुत्रशोक को भी कुछ देर के लिए भूल गई। शान्त होने पर उसने अपने पुत्र को स्वामी जी के पैरों के पास लिटा दिया और उनसे पुत्र की प्राणों की भीख माँगने लगी। विधवा की ऐसी अवस्था देखकर स्वामीजी के दयालु हृदय में करुणा जाग उठी। उन्होंने उस बालक के शरीर को स्पर्श किया। उनके स्पर्श मात्र से मृत बालक की चेतना लौटने लगी। यह दृश्य देखकर विधवा स्वामीजी के पैरों पर गिरकर अपने आनन्दाश्रु से उनका पांव धोने लगी। यह घटना देखकर श्मशान में उपस्थित सभी लोग स्तंभित हो गये। स्वामीजी ने सबको उपदेश देकर विधवा को अपने बेटे के साथ हँसी–खुशी घर लौटने को कहा और उस स्थान से अदृश्य हो गये।

स्वामीजी ने मानसरोवर में कई वर्षों तक निवास किया। इसके पश्चात् कुछ समय तक रेणुका तीर्थ और बराह तीर्थ में रहे। एक दिन नर्मदादेवी ने तैलंगधर का आह्वान किया। स्वामीजी मानसरोवर से नर्मदा के लिए चल पड़े और सन् 1727 ई. में नर्मदा के तट पर मार्कण्डेय ऋषि के आश्रम में आकर रहने लगे। वहाँ अनेक साधू–महात्माओं से मिलकर उन्हें आत्मिक प्रसन्नता हुई। इस आश्रम में खाकी बाबा नाम के महापुरुष बहुत दिन से रहते थे।

वे रोज नर्मदा तट पर जाकर योगाभ्यास करते थे। एक दिन नदी तट पर जाकर उन्होंने देखा कि नदी का जल दूध का रुप धारण कर वेग से प्रवाहित हो रहा है और एक नग्न व्यक्ति नदी में खड़ा होकर अंजलि भर–भर कर उस दूध का पान कर रहा है। यह अभूतपूर्व दृश्य देखकर खाकीबाबा एकदम हतबुद्धि हो गये और सोचने लगे कि नर्मदा का गहरा जल उस व्यक्ति के घुटनों तक ही क्यों पहुँच रहा है। अगले दिन भोर में स्नान के लिये नर्मदा पहुँच कर घुटने भर जल में खड़े होकर उन्होंने काफी देर तक जल को दूध में परिवर्तित करने का प्रयास किया और अंत में असफल होकर वापस आश्रम लौट आये। आश्रम में लौटकर अन्य आश्रमवासी महात्माओं से देखी हुई समस्त घटना का यथार्थ रुप में वर्णन किया। यह असाधारण घटना सुनकर आश्रमवासी स्वामीजी से अत्यंत प्रभावित हुए और उनको पहले से भी अधिक श्रद्धा करने लगे। इस प्रचार की वजह से उन्हें उस स्थान का भी त्याग करना पड़ा। कहने कि आवश्यकता नहीं है कि वे नग्न देही महापुरुष कोई अन्य नहीं, स्वयं जीवन्मुक्त भगवान तैलंग स्वामी जी थे।

उक्त घटना के पश्चात् सन् 1733 ई. में स्वामीजी मार्कण्डेय ऋषि के आश्रम को छोड़कर प्रयाग धाम आ गये। वहाँ वे निर्जन स्थान पर रहकर योगाभ्यास करते थे। एक दिन वे प्रयाग में गंगा तट पर बैठे थे, उसी समय गंगाजी में यात्रियों से भरी एक नाव दूसरे किनारे से प्रयाग घाट की ओर आ रही थी। नाव नदी के बीच पहुँची ही थी की अचानक जोर से आँधी तूफान आ गया और मूसलाधार बरसात होने लगी। स्वामी जी उस समय भी गंगा किनारे बैठे थे, अन्य लोग वहाँ से जाने लगे थे। उनमें रामतरन भट्टाचार्य नामक एक ब्राह्मण स्वामी जी को पहचानते थे, उन्होंने स्वामी जी के पास जाकर उन्हें उठ जाने के लिए कहा, पर वे वहाँ से टस से मस नहीं हुए। हँस कर बोले– तुम मेरे लिए इतना परेशान क्यों हो रहे हो? मुझे कोई कष्ट नहीं हो रहा है। मैं अभी यहाँ से नहीं जा सकता। एक नाव आ रही है, वह अभी डूबने वाली है, उसके यात्रियों को बचाना होगा। यह बात कहते–कहते ही नाव डूब गई और स्वामी जी अदृश्य हो गये। ब्राह्मण हैरान होकर किनारे पर खड़ा परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा। पल भर में उसने देखा कि वह डूबी हुई नाव फिर से प्रकट हो गई और कुछ ही देर में किनारे पहुँच गई। उसमें से यात्रियों के साथ स्वयं स्वामी जी को उतरते देख वह हतबुद्धि हो गया।

नौका के यात्री भी एक नग्न व्यक्ति को अपने बीच देखकर हैरान रह गये तथा सोचने लगे कि वे कब और कहाँ से उनकी नौका में आ गये। सबके जाने के बाद ब्राह्मण स्वामी जी के पास जाकर उनके चरणों में गिर गया, वह उनसे कुछ पूछना चाहता था। उसके मन की इच्छा को भाँपकर स्वामीजी ने उससे कहा– इसमें आश्चर्यचकित होने का कोई कारण नहीं है। ऐसी शक्तियाँ सभी मनुष्यों में होती हैं पर मनुष्य इस अनित्य संसार में डूबा रहता है और अपनी उन्नति पर ध्यान नहीं देता। प्रत्येक मनुष्य के शरीर में ईश्वरीय शक्ति विद्यमान है। मानव इस नश्वर संसार के लिए जितना परिश्रम करता है अगर उसका सौवाँ हिस्सा भी भगवान के लिए लगाये तो ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। संसार का कोई भी कार्य उसके लिए असंभव नहीं रह जाता। तुम व्यर्थ ही गीले एवं भीगे वस्त्रों में कष्ट उठा रहो हो। अब घर जाओ, इतना कहकर स्वामीजी वहाँ से अदृश्य हो गये।

प्रयाग तीर्थ में चार साल तक रहने के बाद सन् 1737 ई. में 130 वर्ष की आयु में स्वामीजी वाराणसी आये और 150 वर्ष तक वहीं निवास किया। काशी में स्वामीजी अस्सी घाट पर संत तुलसीदासजी के बगीचे में रहने लगे। वे सदैव खुले आसमान के नीचे रहते थे। दया, क्षमा, और परोपकार उनके आभूषण थे।

किसी का दुःख, पीड़ा, मृत्यु आदि देख कर वे विचलित हो उठते थे और मानव जाति को उनसे छुटकारा दिलाने के लिए तत्पर रहते थे। अस्सी घाट पर प्रवास के दौरान स्वामी जी बीच–बीच में लोलार्क कुण्ड पर जाया करते थे। एक दिन वहाँ अजमेर निवासी ब्रह्म सिंह नाम के एक वधिर–कुष्ठ रोगग्रस्त व्यक्ति को सोया देखकर उन्हें दया आ गयी तथा उन्होंने उसके शरीर को छुआ तो वह व्यक्ति जाग उठा और अपने सामने स्वामीजी को देखकर उनकी स्तुति करने लगा। उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर स्वामीजी ने उसको एक विल्व पत्र दिया और कहा कि लोलार्क कुण्ड में नहाकर इसे धारण करने से तुम रोग मुक्त हो जाओगे।

स्वामीजी के आदेश का पालन करने के कुछ दिन बाद उसकी वधिरता दूर हो गई और पीड़ादायक कुष्ठ रोग से भी उसे मुक्ति मिल गई। तब से मृत्यु पर्यन्त ब्रह्म सिंह उनकी सेवा करता रहा।

इसके बाद स्वामीजी तुलसीदास के बगीचे को छोड़कर वेदव्यासजी के आश्रम में रहने लगे।

(14)

सतिनाथ बंद्योपाध्याय नामक एक ब्राह्मण लम्बे समय से क्षय रोग से पीड़ित था। बहुत इलाज करने पर भी उसे कोई लाभ नहीं हो रहा था। एक दिन गंगा स्नान करने के लिए वह गंगा तट पर आया और अचानक उसको खांसी आने लगी जिससे वह परेशान हो गया। पीड़ा बढ़ने के कारण वहीं तट पर लेट गया और कातर एवं असहाय महसूस कर रोने लगा। वह चेतना शून्य सा हो गया। लोग उसे देखकर हाय–हाय करने लगे। कई लोगों के प्रयास के बाद भी जब उसकी चेतना नहीं लौटी तो सबने उसके जीवन की आशा छोड़ दी।

उसी वक्त स्वामीजी गंगा स्नान करने वहाँ आये और उसे देखते ही सारी बात समझ गये। उन्होंने सबको वहाँ से हटने के लिए कहा और ब्राह्मण के निकट जाकर उसकी छाती को छुआ एवं उसका हाथ पकड़ उठाकर बैठा दिया। वह उठा और स्वामीजी को देखकर उनके चरणों पर गिर कर अपनी व्यथा–कथा कहने लगा। करुणावतार स्वामीजी ने गंगा से थोड़ी मिट्टी उठाकर उसे दे दी तथा गंगाजी में स्नान कर भक्ति पूर्वक उसे खाने को कहा और वहाँ से स्नान के लिए चल दिये।

ब्राह्मण ने स्नान कर भक्ति पूर्वक स्वामीजी के आदेश का पालन किया। थोड़े ही दिनों में वह व्यक्ति क्षय रोग से मुक्त हो गया और उसी समय से वह स्वामीजी को भगवान जैसा मानने लगा तथा उनकी आराधना करने लगा साथ ही स्वामीजी की सेवा भी करने लगा।

कुछ दिन बाद स्वामीजी वेदव्यास आश्रम छोड़कर हनुमान घाट पर आ गये। वहाँ कोई मराठी महिला प्रतिदिन विश्वनाथजी की पूजा करने आती थी। एक दिन वह स्वामीजी को वस्त्र विहीन देखकर लजा गयी और उनका तिरस्कार करने लगी। स्वामीजी ने उस पर रंचमात्र भी ध्यान नहीं दिया। विश्वनाथ जी की पूजा करके वह घर लौट आयी। उसी रात उसने सपने में देखा कि स्वयं विश्वेश्वरजी कह रहे हैं कि तुम जिस मनोकामना को पूर्ण करने के लिए मेरी पूजा कर रही हो, वह मुझसे पूरी नहीं होगी। तुमने आज जिस स्वामीजी को तिरस्कृत किया है, उन्हीं से तुम्हारी मनोवांछा पूरी होगी। सपना देखने के बाद उस स्त्री को अतिशय पश्चाताप हुआ। सवेरा होते ही वह हनुमान घाट पर जाकर स्वामी जी के चरणों पर गिर पड़ी और क्षमा याचना करने लगी।

उसने स्वामी जी से कहा कि उसके पति के पेट में बड़ा सा घाव है जिसकी आरोग्य–कामना से रोज विश्वेश्वरजी की पूजा कर रही थी। उसकी प्रार्थना सुनकर स्वामी जी ने उसको थोड़ी सी भस्म दी और रोगी की छाती पर लेप लगाने के लिए कहा। वह महिला निष्ठापूर्वक स्वामी जी के चरण छूकर उनके द्वारा प्राप्त भस्म लेकर घर लौट आयी। पति के घाव पर उसने स्वामीजी के निर्देशानुसार लेप लगा दिया। वह बहुत जल्द ही पूरी तरह स्वस्थ हो गया।

एक दिन स्वामी जी नहाने जा रहे थे कि अस्सी घाट पर एक करुण दृश्य देखकर उनका हृदय करुणा से पिघल उठा। सर्पाघात से एक स्त्री के पति की मृत्यु हो गयी थी। महिला पति के शव को पकड़कर जोर–जोर से रो रही थी और किसी भी हालत में अपने पति के शरीर को गंगा में विसर्जित करने के लिए नहीं दे रही थी। यह देखकर स्वामीजी उसके पास आये और गंगाजी से थोड़ी सी मिट्टी लाकर मृत व्यक्ति के सर्पाघात वाले स्थान पर लगा दिया। कुछ ही पल में स्वामीजी गंगाजी में कूदकर अदृश्य हो गये। थोड़ी ही देर बाद मृत व्यक्ति के शरीर में चेतना जाग्रत हो गयी। यह चमत्कार देखकर घाट पर उपस्थित सभी लोगों ने दातों तले अंगुली दबा ली।

इस प्रकार स्वामीजी के चमत्कारों का प्रचार चारों तरफ फैल गया। लोग अपनी–अपनी मनोकामनाएँ पूरी करने के लिए उन्हें परेशान करने लगे। इससे बचने के लिए स्वामीजी ने मौन व्रत धारण कर लिया। उस दौरान वे किसी से बात नहीं करते थे। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही वे किसी से दो–एक बात कर लिया करते थे।

एक बार काशी में गायों की बीमारी फैल गयी। गाय के दूध की कमी पड़ गयी और दूध के लिए हाहाकार मच गया। यह देखकर स्वामीजी का उदार हृदय बेचैन हो उठा। वे बरामदे में एक छोटा–सा पुरवा (कुल्हड़) लेकर बैठ गये और सभी लोगों को एक–एक पुरवा दही बाँटने लगे। एक आदमी को एक पुरवा उलट कर देने के बाद जब उसे सीधा करते थे तो पुरवा अपने आप दही से भर उठता था। सुबह से लेकर शाम तक वे हजारों लोगों को दही बाँटते रहे पर उनका पुरवा कभी खाली नहीं हो रहा था। जिन्होंने इस घटना को अपनी आँखों से देखा था, उन्ही प्रत्यक्षदर्शियों के मुँह से इसका वर्णन सुनकर लेखक ने इस चमत्कार का वर्णन किया है।

काशीवासी या विदेशी यात्रीगण भक्तिपूर्वक विश्वनाथ जी, अन्नपूर्णा, मणिकर्णिका घाट आदि का दर्शन करके जैसे अपनी आत्मा को धन्य समझते थे, उसी प्रकार स्वामी जी का दर्शन किये बिना वे काशी दर्शन अधूरा समझते थे।

खाने–पीने के बारे में उनका कोई विशेष नियम निषेध नहीं था। जो मिल जाता उसे ही ग्रहण कर लेते। एक बार एक व्यक्ति ने उन्हें आधा मन भोजन कराया था। आश्चर्य तो यह हुआ कि उसके तुरन्त बाद ही जिसने जो कुछ दिया वे उसे भी खा गये। खाने–पीने की कोई औपचारिकता न होने के कारण एक दिन किसी दुष्ट व्यक्ति ने उन्हें पानी में घोलकर चूना पिला दिया। उन्होंने निर्विकार भाव से उसे पी लिया और उस व्यक्ति के सामने ही पानी और चूना दोनों को अलग कर लघुशंका के द्वारा बाहर निकाल दिया।

एक दिन किसी धनवान ने व्यक्ति बीस भरी सोने के दो कंगन बनाकर उनके दोनों हाथों में पहना दिया। उसके जाते ही एक दुष्ट प्रवृत्ति के व्यक्ति ने कंगन हड़पने की नीयत से स्वामीजी को भारी मात्रा में मद्यपान करवा दिया। इससे वे बेहोश या क्रोधित नहीं हुए बल्कि उसका अभिप्राय समझकर उसी वक्त दोनों कंगन उतार कर उसे दे दिये।

एक बार स्वामी जी भक्तों के साथ विजयानगरम में राजमहल के पास से गुजर रहे थे। वहाँ के लोग उन्हें पहचानते थे। समाचार पाकर राजा ने उनके पास पहुँचकर उनसे अंतःपुर में चलने का बहुत अनुरोध किया, पर स्वामी जी नहीं गये। तब राजा ने राजमहल से वहुमूल्य वस्त्र, सोने के आभूषण, मुकुट आदि लाकर स्वामी जी को पहना दिया। स्वामी जी निर्विकार खड़े रहे। रास्ते पर आते ही गुंडों ने आकर राजा की दी हुई सारी चीजें छीन लीं। राजा के प्रहरी उन्हें पकड़ कर ले चले। खबर पाकर राजा ने आकर देख कि स्वामी जी निर्विकार खड़े हैं। चेहरे पर हल्की मुस्कान है। राजा अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति थे। उन्होंने कहा कि स्वामी जी को दान की हुई वस्तुओं पर अब मेरा कोई अधिकार नहीं है। वे उनका जो चाहें कर सकते हैं। उन्होंने मुस्कुरा कर समझा दिया कि ये लोग मेरा क्या कर सकते हैं, मैं जैसा था वैसा ही हूँ। अपराधियों को छोड़ दिया गया और स्वामी जी ने वहाँ से प्रस्थान किया। इससे लोग और हैरान रह गये। स्वामी जी के प्रति उनकी श्रद्धा और विश्वास में और दृढ़ता आ गई। काशी में बराबर धनी व्यक्तियों का आगमन होता रहता है।

अनेक व्यक्ति भक्ति या प्यार से स्वामीजी को बहुमूल्य चीजें दे दिया करते थे, परन्तु कुछ दुष्ट व्यक्ति कुछ ही देर में उन्हें हथिया लेते थे। उन चीजों पर स्वामीजी की तनिक भी आसक्ति नहीं थी। किसी चीज का पाना या चला जाना उनके लिए समान था। उनके ऊपर इन वस्तुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

स्वामीजी नंगे रहते थे। इसलिए एक दिन कोई पुलिसकर्मी उन्हें पकड़कर जिलाधीश के पास ले गये। जिलाधीश ने उन्हें कपड़े पहनकर रहने को कहाँ स्वामीजी ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया, इस पर क्रोधित होकर जिलाधीश ने उन्हें जेल में डालने का आदेश दिया। आदेश पाकर पुलिसकर्मी उन्हें हथकड़ी लगाने के लिए बढ़े परन्तु आश्चर्य का विषय तो यह था कि वे कहीं नहीं दिखे। पुलिसकर्मी उन्हें चारों तरफ खोजने लगे परन्तु वे नहीं मिले। घण्टे भर के बाद स्वामीजी स्वयं जिलाधीश के समक्ष उपस्थित हो गयें। कहाँ से आ गये कोई समझ नहीं पाया। उपस्थित सभी लोग इस घटना को देखकर चकित रह गये और जिलाधीश की तंद्रा टूटी तथा उनकी चेतना जागृत हो गयी। उन्होंने स्वामी जी को इच्छानुसार भ्रमण करने की इजाजत प्रदान कर दी।

इस घटना के कुछ दिन बाद एक अंग्रेज साहब जिलाधीश बनकर आये। अचानक ही एक दिन उनकी नजर नंगे स्वामीजी पर पड़ी। उसने अत्यन्त क्रोधित हो स्वामी जी को गिरफ्तार कराकर जेल में डाल दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल साहब ने देखा कि जेल की जमीन पानी से भरी है और स्वामीजी मुस्कुराते हुए जेल की कोठरी से बाहर आकर घूम रहे हैं। साहब ने सवाल किया कि तुम बाहर कैसे आये? और कोठरी में इतना पानी कहाँ से आया? जवाब में स्वामीजी ने कहा– रात को उन्हें लघुशंका लगी थी पर कोठरी बंद थी। इसलिए विवश होकर कमरे में ही लघुशंका करनी पड़ी और सुबह जब मेरी बाहर आने की इच्छा हुई तो देखा कि दरवाजा खुला है और मैं बिना किसी अवरोध के बाहर आ गया। अंग्रेज साहब को अचंभित होते देख स्वामीजी ने कहा कि आप यह निश्चित मान लें कि कोई किसी का जीवन ताले में बंद कर नहीं रख सकता। अगर ऐसा होता तो मृत्यु के समय जेल में बंद हो जाने पर कोई मरता नहीं। आप में वह शक्ति नहीं है। सिद्ध व्यक्ति अपनी तपस्या के बल पर जो चाहे कर सकते हैं। इस पर क्रोधित होकर साहब ने उन्हें कोठरी में बंद कर अपने हाथ से ताला लगाया और अपना काम करने चले गये।

कुछ देर बाद साहब ने देख कि स्वामी जी फिर अपनी कोठरी से बाहर निकल कर उसके पास खड़े हैं और मृदुल मुस्कान बिखेर रहे हैं। उनकी मधुर एवं मनमोहक हँसी देखकर साहब की जुबान तालू से चिपक गयी। कुछ पल बाद साहब ने पूछा, इस बार इस विशाल देह को लेकर बंद कमरे से बाहर कैसे निकले?

स्वामीजी ने कहा– देह तो जड़ है उसकी कोई शक्ति नहीं है। यह आत्मा की चैतन्य शक्ति से ही काम करती है जैसे कि चुम्बक की शक्ति से लोहा चलता है उसी प्रकार योग बल के समक्ष अंसभव नाम की कोई चीज नहीं है। तुम्हें इन सब बातों की जानकारी नहीं है। तुम व्यर्थ ही हमें परेशान कर रहे हो। यह सुनकर साहब का मन मस्तिष्क कौंध उठा और उसने स्वामीजी के आगे नतमस्तक होकर उन्हें यथेच्छा पूर्वक भ्रमण करने की अनुमति दे दी।

एक बार खालिसपुरा निवासी पण्डित देवनारायण वाचस्पति स्वामीजी को भोजन कराने अपने घर ले गये। भोजनोपरान्त पानी लाने के लिए वे बगल वाले कमरे में गये और आने में थोड़ा विलम्ब हो गया। आकर उन्होंने देखा कि स्वामीजी जल पी रहे हैं। यह जल कहाँ से कैसे उन्हें प्राप्त हुआ। इस पर बड़े चकित हुए। जल लाने में देर होने के कारण वे काफी लज्जित भी हुए। योग साधना के सर्वोच्च स्तर पर पहुँचकर महापुरुष आत्मशुद्धि की पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेते हैं एवं उस शुद्ध आत्मा की इच्छा से संसार के समस्त सांसारिक कार्यों को पूरा कर सकते हैं, जो साधारण दृष्टि से अलौकिक प्रतीत होते हैं।

एक बार एक हिन्दू राजा सपरिवार काशी आये। वे लोग सपरिवार पैदल चलकर दशाश्वमेध घाट पर आये और स्नान करने का संकल्प किया।

रानी किसी के सम्मुख बाहर नहीं आती थीं और उनके निवास स्थान से गंगा जी पास थीं इसलिए अंतःपुर से घाट तक कपड़े का पर्दा लगवाया गया जिससे कोई अन्दर न आ सके। परदे के बाहर पहरेदार खड़े कर दिये गये। राजा और रानी स्नान के लिए गये। साथ में दासियाँ थीं। स्नान के लिए जाते समय तक वहाँ कोई नहीं था। स्नान के बाद जब वे लोग ऊपर आये तो देखा कि एक दीर्घकाय वस्त्रहीन पुरुष सामने खड़ा है। उसको देखते ही राजा की आँखें क्रोध से लाल हो गयीं तथा होठ काँपने लगे। रानी भी अपने सामने एक वस्त्र रहित व्यक्ति को देखकर अत्यन्त लज्जित हुई और दासियों के साथ अंतःपुर चली गयीं।

महाराजा ने यथोचित दण्ड देने के लिए नंगे साधु को बुलाया। राजा ने पूछा– तुम यहाँ निर्वस्त्र होकर कैसे और क्यों पहुँचे ? बार–बार पूछने पर भी स्वामीजी ने कुछ नहीं कहा। वहाँ मौजूद लोगों से स्वामीजी का परिचय पाकर राजा ने उन्हें मुक्त करने को कहा, किन्तु राजा के दो–तीन अनुचरों ने स्वामीजी को बहुत अपमानित कर भगा दिया।

उसी दिन रात को राजा ने निद्रावस्था में देखा कि एक जटाजूटधारी, व्याघ्रचर्म धारण किये, त्रिशूलधारी, विशालकाय, शुभ्रवर्ण पुरुष आँखें लाल किये राजा से कह रहा है कि "हे दुराचारी, पामर ! तूने तैलंग स्वामी का परिचय जानने के बाद उन्हें अपमानित करके निकलवा कर मेरे हृदय को अपार कष्ट पहुँचाया है। तुम्हें इसका समुचित दण्ड भोगना पड़ेगा। रे मूर्ख! तू इस पवित्र स्थान काशी में रहने योग्य नहीं है। तू शीघ्र ही दूसरे स्थान पर चला जा नहीं तो तुझे कोई नहीं बचा पायेगा।" राजा ने इस स्वप्न को देखा तो जोर से चिल्लाकर बेहोश हो गये। उनकी यह हालत देखकर दास किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े हो गये। कुछ ने उनकी सेवा करनी शुरु कर दी। काफी देर बाद राजा की चेतना वापस लौटी। अब सुबह उन्होंने अनुचरों को भेजकर स्वामी जी की खोज करवायी और स्वयं उनके पास जाकर उनके चरणों पर गिरकर क्षमा माँगने लगे। स्वामीजी ने निर्विकार रहकर राजा पर का रोष नहीं प्रकट किया और उन्हें क्षमा–दान दे दिया तथा सांत्वना देकर उन्हें वापस घर भेज दिया।

अंग्रेजों के जमाने में बहुत से अंग्रेज काशी आते थे। उनकी पत्नियाँ (मेम साहब) नंगे साधु को देखना बुरा मानती थी। बाबा नंगे रहते थे इसलिए वे बार–बार उन्हें पुलिस के द्वारा चेतावनियाँ दिलवाती थीं, परन्तु स्वामीजी उस पर कोई ध्यान नहीं देते थे।

एक बार की बात है स्वामीजी नग्न शरीर गंगाजी के तट पर ध्यानमगन बैठे थे कि उसी बीच कुछ सिपाहियों ने उन्हें थाने चलने के लिए कहा, परन्तु वाह्य ज्ञान न रहने के कारण स्वामीजी को कुछ सुनायी नहीं पड़ा। इस पर क्रोधित हो एक पुलिस ने उन पर डण्डे का प्रहार किया। जिसका उपस्थित लोगों ने विरोध किया। अंततोगत्वा निराश होकर पुलिस थाने लौट गयी और पुनः एक झोला लेकर आयी और स्वामीजी को झोले में डालकर थाने ले गयी। दूसरे दिन विचार के लिए

उन्हें मजिस्ट्रेट के सामने लाया गया।

उसने स्वामीजी को नंगा न रहने की बात कही, किन्तु स्वामीजी ने उसकी भी बातों को अनसुना कर दिया। जिस पर क्रोधित होकर मजिस्ट्रेट ने उन्हें पुनः जेल में डालने को कहा। वहाँ मौजूद स्वामीजी के भक्तों ने मजिस्ट्रेट को बताया कि बाबा निर्विकार महापुरुष है। उन्होंने अपनी योग बल से प्रकृति और लज्जा को जीत लिया है इसलिए उनका वस्त्र पहनना या न पहनना कोई मायने नहीं रखता। उनके लिए मल और चंदन में कोई अंतर नहीं है। मजिस्ट्रेट ने कहा– अच्छी बात है। अगर उन्हें सभी कुछ का ज्ञान है तो क्या वे यहाँ खड़े–खड़े हमारा खाना खा सकते हैं? यह सुनकर स्वामीजी ने शांत स्वर में कहा– आपका खाना मैं खा सकता हूँ पर इसके पहले आपको हमारा खाना खाना पड़ेगा।

मजिस्ट्रेट इस पर राजी हो गये। स्वामीजी ने भरी अदालत में जनता के सम्मुख अद्‌भुत कार्य कर दिखाया। अपने ही हाथ पर मल त्याग कर मजिस्ट्रेट से कहा– यह है हमारा आज का खाना, इसे खाओ। यह सब देखकर मजिस्ट्रेट क्रोध से लाल–पीला होकर अपनी नाक पर रुमाल रखकर स्वामीजी को देखने लगे। स्वामीजी ने कहा तब अपना खाना मैं खुद खाता हूँ। मजिस्ट्रेट ने कहा– खाओ, खाओ, तुम्हारा खाना है तुम खाओ।

स्वामीजी ने कहा–इस विश्व ब्रह्माण्ड के अणु परमाणु में जो एक अखण्ड परमात्मा का दर्शन करते हैं उनके लिए विष्ठा और मिठाई में कोई फर्क नहीं है। क्षण भर में ही वह विष्ठा उनके योगबल द्वारा एक स्वादिष्ट भोजन के रुप में रुपांतरित हो गया और स्वामीजी उसे निर्विकार भाव से खा गये।

मजिस्ट्रेट साहब और वहाँ विद्यमान लोग स्वामीजी की इस अद्‌भुत लीला को देखकर दंग रह गये। इसके बाद इन्हें जेल से रिहा कर दिया गया तथा इच्छानुकूल रहने की आज्ञा दे दी गयी।

इस घटना के बाद स्वामी जी के पास स्त्री–पुरुषों की भीड़ लगने लगी। सदाशय लोग उनके पास आकर उन्हें अपने हाथ से खाना खिला देते थे। उन्हें देवता मानते थे।

यह सब कुछ जानने के बाद भी दुष्ट लोग अपनी करतूतों से बाज नहीं आते थे। स्वामीजी कभी–कभी काशी के गंगा तट पर ध्यानमग्न बैठे रहते थे।

एक बार की बात है स्वामीजी घाट पर ध्यान निमग्न बैठे थे कि कुछ दुष्ट लोगों ने पुलिस को बरगलाकर उन्हें सन्दूक में बंद कराकर पानी में फेंक देने का षड्यंत्र रचा। इस कार्य को अंजाम देने के लिए एक संदूक उनके पास लाया गया और ज्यों ही उन्हें पकड़ने का प्रयास किया गया स्वामीजी गंगा में कूद पड़े और वहाँ से अदृश्य हो गये। पुलिस ने नदी में जाल डालकर उनकी बहुत खोजबीन करवायी, पर उनका कुछ पता नहीं चला। तीन महीने तक वहाँ नदी तट पर पहरा बिठा दिया गया परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला ।

तीन महीने बाद एक दिन वे अचानक इलाहाबाद के त्रिवेणी संगम में जल के ऊपर पद्मासन लगाये बैठे दिखायी दिये। इस घटना के बाद उन्हें सम्मानपूर्वक काशी लाया गया और घोषणा कर दी गयी कि तैलंग स्वामी एक महान संत है। उनके ऊपर कोई दुराचार या अन्याय न करे। जो उनके साथ अन्याय करेगा उसे सजा दी जायेगी। इस घटना के बाद पुलिस को भी विश्वास हो गया कि स्वामीजी एक महापुरुष हैं, उनको आवद्ध करना और सजा देना पुलिस की शक्ति से परे है।

स्वामीजी ईश्वर चिन्तन में इतना लीन रहते थे कि इस नश्वर जगत और अपने पंचभूत शरीर का भी उनको खयाल नहीं रहता था जिस कारण असाधु लोगों के हाथों उन्हें कष्ट भोगना पड़ता था। एक बार की घटना है कि स्वामीजी ध्यानावस्था में बैठे थे कि कोई दूराचारी व्यक्ति उनके मस्तक पर जलता हुआ अंगारा रखकर भाग गया। स्वामीजी को इससे कोई पीड़ा नहीं हुई। एक सज्जन ने इसे देखकर उनके माथे से वह टुकड़ा नीचे गिरा दिया। लोग यह समझ नहीं पाते थे कि वे मनुष्य हैं या कोई देवता।

स्वामीजी धीरे–धीरे भीड़ से दूर रहने लगे तथा लोगों से बातचीत बंद कर मौन धारण कर लिया।

सन् 1800 ई. में स्वामीजी दशाश्वमेध घाट छोड़कर पंचगंगा घाट पर आकर बिन्दु माधव जी के युग्म ध्वजों के पास रहने लगे। इस घट पर वे सात वर्ष तक रहे।

बंगाल के श्रीरामपुर निवासी श्री जयगोपाल कर्मकार नामक एक प्रवीण व्यक्ति काशी में स्वामीजी का दर्शन करने के लिए आया था, वह उनके दर्शन के लिए रोज जाता था और आते समय कुछ फल–मूल और दूध ले जाता था। एक दिन अचानक ही उनका दिल घबराने लगा, पर वह इसका कारण नहीं जान पाया।

उसने विनयपूर्वक स्वामीजी से इसका कारण पूछा। स्वामीजी ने कुछ देर ध्यानमग्न रहने के बाद उसे शाम को आने के लिए कहा।

शाम को जब वह आया तो स्वामीजी ने कहा– आज भोर में तुम्हारे बड़े बेटे ने हैजा रोग से पीड़ित होकर प्राण त्याग दिया है। आज रात को तुम उसे सपने में देखोगे। स्वामीजी की बात सुनकर वह रोने लगा। स्वामीजी ने उसे जीवन की अनित्यनता के बारे में समझा कर शांत किया। दूसरे ही दिन उसे घर से तार मिला और घटना की सत्यता का पता चल गया।

आत्मा सर्वव्यापी है। आत्मज्ञ महापुरुष बिना किसी यंत्रादि की सहायता से इच्छानुसार दुनिया के सभी स्थानों की सभी घटनाएँ जान लेते हैं और उसे प्रकट कर सकते हैं। तैलंग स्वामी के लिए यह सब अत्यन्त साधारण काम था। काशी के पंचगंगा घाट के पास मंगल दास भट्ट नाम के एक महाराष्ट्रीयन भक्त ब्राह्मण बिन्दु माधवजी के पास एक कोठी में रहते थे। उनके साथ उनकी माता अम्बा देवी तथा दो भाई महादेव भट्ट और कृष्ण भट्ट भी रहते थे।

भक्त मंगल दास प्रतिदिन गंगाजी में नहाकर विश्वनाथ मंदिर में पूजा करके घाट–घाट होकर अपनी कोठी पंचगंगा में लौट आते थे। लौटते समय वे रोज देखते थे कि वे जो माला बाबा विश्वनाथ को चढ़ाकर आते हैं वही माला बाबा तैलंग स्वामी के गले में लटक रही है। उन्हें रोज संदेह होता था, पर वे यह सोचकर वह चुप हो जाते कि यह कैसे हो सकता है। एक दिन उन्होंने विश्वनाथजी को चढ़ानेवाली माला में एक निशान (चिह्न) लगाकर उन्हें चढ़ा दिया और घर लौट आये। उस दिन उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा कि वही चिन्हित माला पंचगंगा में स्वामी जी के गले में विराज रही है। उनके मन में स्वामी जी के प्रति अपार प्रेम भर आया। वे स्वामीजी के चरणों पर गिरकर रोने लगे और उनसे अपनी कोठी में चलकर रहने के लिए बहुत अनुनय–विनय की, उनकी आंतरिक भक्ति, प्रेम और आग्रह को देखकर स्वामीजी का दयालु हृदय विचलित हो उठा। वे उनके आंगन में आकर रहने के लिए सहमत हो गये।

मंगलदासजी के हृदय में आनन्द का सागर लहराने गया। वे बहुत खुश हुए और पूरे आदर व सत्कार के साथ स्वामीजी को अपने घर ले आये। स्वामी जी

सदा खुले आसमान के नीचे रहते थे। मंगलदासजी के आंगन में खुले आकाश के नीचे वेदी बनाकर उस पर उनके रहने की व्यवस्था की गयी। स्वामी जी के आगमन से मंगल दास की माताजी, उनके भाई कृष्ण प्रसाद ठाकुर सभी परम प्रसन्न हुए वे सभी स्वामीजी की सेवा में हमेशा लगे रहे। मंगलदासजी के एक–निष्ठावान सेवक थे। उनकी माँ अम्बा देवी स्वामी जी का भोजन बनाती थीं। स्वामी जी ने एक गाय पाल रखी थी। मठ में आज तक गाय पाली जाती है। कृष्ण दास जी गाय की सेवा करते थे। स्वामी जी मंगल भट्टजी से बहुत स्नेह करते थे। अम्बा देवी स्वामी जी की अनन्य भक्त हो गयी थीं और प्रसन्न मन उनका भोजन बनाती तथा खिलाती थीं।

मंगल भट्ट स्वामी जी के प्रिय पात्र हो गये थे। स्वामी जी मंगलदास से इशारे में बातें करते थे। उनके समीप देवनागरी लिपि में अनेक श्लोक लिखे हुए थे। जब कोई आकर कोई प्रश्न पूछता था या मीमांसा कराने आता तब स्वामीजी मंगलदास को पास बुलाकर उन श्लोकों में से किसी एक पर अंगुली रखकर उसे लिखने को कहते। लिख लेने पर मंगलदासजी आगंतुक व्यक्ति को उसे पढ़कर सुनाते थे। कभी–कभी ब्रह्मचारी लोग किसी विशेष विषय पर जानना चाहते थे तब स्वामीजी अपनी हस्तलिखित 20–30 पुस्तकों में से आवश्यकतानुसार कोई पुस्तक मंगाकर उन लोगों को दिखाकर मीमांसा कर दिया करते थे। जब कभी किसी को बोलकर समझाने की जरुरत पड़ती थी तो उसे रात में आने को कहकर मंगलदास को समझा देते थे। स्वामी जी ने 80 वर्ष का दीर्घकाल मंगलदास के आंगन में बिताया था। इस दीर्घ समय तक मंगलदास ने निष्ठा पूर्वक उनकी अथक सेवा की थी। गुरुसेवा के ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं। ब्रह्मचारी मंगलदास गुरुसेवा के मूर्त रुप थे। मंगलदास इस बात के ज्वलंत उदाहरण हैं कि गुरुसेवा से ईश्वर को पाया जा सकता है। मंगलदास स्वामी जी के उत्तम सेवक थे इसीलिए वे उनके संकेतों को आसानी से समझ जाते थे तथा उसी के अनुरुप कार्य करते थे।

एक बार उज्जैन के महाराजा काशी पधारे थे। वे एक दिन रामगर के महाराज के भवन से मंत्रियों के साथ नाव से मणिकर्णिका घाट आ रहे थे। कुछ दूर आने के बाद स्वामीजी को जल पर भासमान देखकर आश्चर्यचकित रह गये तथा उनका परिचय पूछने लगे। नाव पर सवार स्वामीजी के एक भक्त ने बताया– ये प्रसिद्ध

योगी महात्मा 'तैलंग स्वामी' हैं। इनका जल, थल, आकाश सभी पर समान अधिकार है। इनके जैसा योगी पुरुष मौजूदा समय में कोई है ही नहीं। महाराज ने कौतुहलवश पूछा– क्या वे हमारी नाव पर आ सकते हैं? वे नाव स्वामीजी के पास ले गये। नौका पास आते ही स्वामी जी उस पर बैठ गये। महाराज इससे अत्यधिक प्रसन्न हुए। महाराज के हाथ में एक बहुमूल्य तलवार थी। तत्कालीन अंग्रेज सरकार ने उनके साहसिक कार्य से प्रसन्न होकर यह तलवार उन्हें पारितोषिक के तौर पर दी थी। स्वामी जी ने तलवार को देखने की इच्छा प्रकट की। महाराज ने निःसंकोच तलवार उनके हाथ में दे दी और मन ही मन अपने को गौरवान्वित समझने लगे।

स्वामी जी ने तलवार को अच्छी तरह देखकर उसे गंगाजी में फेंक दिया। यह देखकर महाराज अत्यन्त क्रोधित होकर भक्तों से कहने लगे– यह कैसा साधु है जो दूसरों की चीज लेकर उसका गुण–अवगुण बिना जाने उसे विनष्ट कर देता है। मुझे इसकी साधुता पर संदेह है। यह एक कपटी, झूठा तपस्वी है। योग बल से पानी भर भासमान होना ही सिद्धि का मापदण्ड नहीं होता? जिन्होंने स्वामी जी का परिचय दिया था, वे अजीब स्थिति में थे। महाराज को शांत करने के लिए गोताखोरों से तलवार निकलवा देने का आश्वासन दे रहे थे परन्तु महाराज का गुस्सा कम नहीं हो रहा था। स्वामीजी नाव से उतरने लगे, परन्तु महाराज ने उनको उतरने नहीं दिया। तलवार का क्रोध मिटाने के लिए उन्हें दण्ड देने का मन बना लिया। यह समझकर स्वामी जी ने गंगा में हाथ डाला ओर तुरन्त वैसी ही दो तलवारें निकालकर महाराज के हाथों में थमा दिया और कहा– इनमें से जो तलवार तुम्हारी हो उसे ले लो। दोनों तलवारें एक समान थीं इसलिए महाराज अपनी तलवार पहचान नहीं पाये और सिर झुका लिया।

इस पर स्वामीजी ने अपना मौन भंगकर कहा– "अगर तुम अपनी वस्तु पहचान ही नहीं सकते तो वह तुम्हारी कैसे है? तुम्हारे जैसा अज्ञानी, अहंकारी और मूर्ख पूरी दुनिया में कोई नहीं हैं। जो इहकाल और परकाल में हमेशा साथ रहे वही तो अपनी वस्तु है। मृत्यु के बाद यह तलवार तुम्हारे साथ नहीं जाएगी। जो वस्तु तुम्हारे साथ नहीं जायेगी, जिसे यहीं छोड़ जाना है, वह तुम्हारी वस्तु कैसे हुई? जो वस्तु तुम्हारी नहीं है उसके लिए इतना क्रोध क्यों?" यदि तुम्हारी वस्तु होती तो तुम

उसे अवश्य पहचान लेते। इतना कहकर स्वामीजी ने एक तलवार उन्हें थमाकर दूसरी गंगा में फेंक दी। स्वामीजी का यह कारनामा देखकर और उनकी दो टूक बातों को सुनकर महाराज किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये तथा मन ही मन ग्लानि से भर गये। महापुरुष की कृपा से महाराज की चेतना जाग्रत हुई और वे समझ गये कि स्वामी जी वास्तव में एक असाधारण शक्ति सम्पन्न पुरुष हैं। यह सोचकर उनके पश्चाताप की कोई सीमा नहीं रही कि एक तुच्छ तलवार के लिये उन्होंने ऐसे महात्मा और महापुरुष का अपमान किया है। वे अपनी गलती का प्रायश्चित करने के लिए स्वामीजी के चरणों पर अपना शीश रखकर क्षमा याचना करने लगे और अपनी नासमझी के लिए अपने आपको धिक्कारने लगे। स्वामीजी उनकी कातरता व अनुनय–विनय से प्रसन्न हो गये और इशारे द्वारा उन्हें आश्वस्त किया, फिर गंगा में कूदकर अदृश्य हो गये।

सन् 1869 ई. में दयानन्द सरस्वती नाम के एक प्रख्यात पण्डित काशी आये थे। वे हिन्दू धर्म के देवी–देवताओं की उपासना को निरर्थक और निस्सार बताकर उनकी निन्दा करके लोगों को पथभ्रष्ट कर रहे थे। वे इस मिथ्या हिंदू धर्म को त्यागकर लोगों को एक ईश्वरवाद वाले ब्राह्म धर्म को स्वीकार करने के लिये उकसा कर उनका धर्म परिवर्तित करा रहे थे। विशुद्धानन्द सरस्वती नामक काशी के स्वामी दयानन्द सरस्वती से तर्क में उलझ कर पंचगंगा पर तैलंग स्वामीजी के पास आये और उन्हें दयानन्द के विषय में पूरी जानकारी दी। यह सुनकर स्वामी जी ने अपनी पुस्तिकाओं में से महाकाव्य रत्नावली मंगवाकर उसे दिखाते हुये विशुद्धानन्द जी को सब समझा दिया। अगले दिन कागज के एक टुकड़े पर कुछ लिखकर मंगलदास ठाकुर द्वारा दयानन्द सरस्वती के पास भिजवा दिया। उसे पढ़ने के बाद दयानन्द सरस्वती काशी छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गये।

1874 ई. में पृथ्वी गिरि के शिष्य विद्यानन्द स्वामी राजघाट पर आकर रहने लगे। लोगों ने जब उनसे काशीधाम दर्शन करने का अनुरोध किया तो उन्होंने कहा कि मैं तैलंग स्वामी को छोड़कर काशी में कुछ नहीं देखूँगा और यहाँ देखने के लिए है भी क्या? मुझे सिर्फ उन्हीं का दर्शन करना है। कुछ दिनों के उपरान्त वे एक दिन प्रातःकाल तैलंग स्वामी के आश्रम में उपस्थित हुए। उस समय स्वामी जी के पास कुछ ब्रह्मचारी एवं कुछ और लोग भी उपस्थित थे। विद्यानन्द सरस्वती के आने पर

स्वामीजी ने उनको सादर आलिंगनबद्ध किया और उसी अवस्था में दोनों न जाने कहाँ अदृश्य हो गये जिसे कोई न तो जान सका और न समझ सका। इस अप्रत्याशित घटना देखकर वहाँ उपस्थित लोग निस्तब्ध और निर्वाक रह गये। करीब आधे घण्टे बाद स्वामीजी पुनः अपने स्थान पर दिखायी पड़े, परन्तु विद्यानन्द स्वामी को किसी ने नहीं देखा। कुछ लोग जब उन्हें राजघाट पर देखने गये तो वे वहीं उपस्थित मिले। यह देखकर उनके आश्चर्य का कोई अंत न रहा।

एक बार बनारस के सोनारपुर निवासी श्री रामकमल चट्टोपाध्याय का पाँच साल का लड़का सीढ़ी से गिर गया जिससे उसकी पसली की एक हड्डी टूट गयी थी। उसकी चिकित्सा के लिए श्री रामकमल चट्टोपाध्याय ने उसे भेलुपुरा अस्पताल में भर्ती कराया। बहुत दवा दारु के बाद बालक कुछ ठीक हुआ पर उसकी पसली का दर्द कम नहीं होता था। वह कभी सीधा खड़ा भी नहीं हो पाता था और चल भी नहीं पाता था। उसे कलकत्ता लाकर प्रसिद्ध चिकित्सकों द्वारा परीक्षण कराने की सलाह दी गई। चट्टोपाध्याय जी डाक्टरों की सलाह के अनुसार पुत्र को कलकत्ता ले आये। कलकत्ता के प्रसिद्ध चिकित्सकों ने बच्चे को देखने के बाद कहा कि पूरी तरह स्वस्थ होने के लिये उसे अस्त्रोपचार की आवश्यकता होगी, जिसके बिना उसका ठीक होना अंसभव बताया एवं उस अस्त्रोपचार में प्राण–हानि की संभावना भी व्यक्त की। चट्टोपाध्याय जी बहुत निराश हो कर काशी लौट गये। उन्हें कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। उन्होंने अपनी पत्नी से सब बताया। यह भयानक खबर सुनकर माता का मन डर से काँप उठा। थक–हारकर अंत में वे लोग स्वामीजी की कृपा पाने के लिए उनके पास गये। वे प्रतिदिन उनके पास जाकर एक कोने में बैठते, उनका ध्यान करते थे। इस प्रकार महीनों बीत गये। एक दिन स्वामीजी ने बालक की माता से प्रतिदिन वहाँ आने का कारण पूछा। बालक की माता आर्त स्वर में स्वामीजी को अपने बेटे की बीमारी के बारे में सब कुछ बता कर उनके चरणों में गिर कर रोने लगी। स्वामीजी ने दूसरे दिन बालक को साथ लेकर आने को कहा। दूसरे दिन बालक को लेकर वह दम्पत्ति स्वामीजी के पास आया। स्वामीजी ने बालक को देखा और थोड़ी सी मिट्टी उसकी माता के हाथ में देकर कहा कि दर्द वाले स्थान पर इसे लगाना। अब इसे घर ले जाओ। मिट्टी लगाने के कुछ देर बाद उसे बहुत ज्यादा बुखार

होगा। इसके बाद बुखार कम होने पर इसे जोर से भूख लगेगी उस समय घर में जो भी रहे उसे खिला देना, उसी से तुम्हारा बेटा ठीक हो जायेगा। उन्होंने घर आकर स्वामी जी के आदेश अनुसार सब कुछ किया और बालक शीघ्र ही पूरी तरह स्वस्थ हो गया।

एक बार चार ब्राह्मण युवक स्वामीजी के पास आए उनसे दीक्षा देने का अनुरोध किया। वे अक्सर आकर स्वामी जी को परेशान करते थे। एक दिन चारों युवकों को लेकर स्वामीजी गंगा किनारे घूमने निकले। नदी में एक सड़ी हुई गाय पानी के सहारे बह रही थी। स्वामीजी ने उसे पकड़ा और उसके शरीर का मांस निकालकर खा लिया और उन चारों से भी ऐसा करने को कहा। दीक्षा पाने के लालच में उन युवकों ने बहुत मुश्किल से थोड़ा सा मांस अपने मुँह में डाला। तदुपरान्त स्वामीजी उनको लेकर आगे बढ़ गये। थोड़ी दूर जाने के बाद एक लोहार के पास पहुँचे और पाँच लोहे की गोलियों को आग में डालने को कहा। उसमें से एक जलता हुआ लोहे का टुकड़ा उन्होंने अपने मुँह में डाल लिया और चार गोलों को उन चार व्यक्तियों को देने के लिए कहा और बोले कि जो वस्तु हमने कुछ देर पहले खाई है उसे पचाने के लिए इस वस्तु को खानी जरुरी है। चारों युवकों ने इसे खाने से इनकार कर दिया। इससे खिन्न हो स्वामीजी ने उन्हें घर लौट जाने और साथ ही गोमांस खाने के लिए प्रायश्चित करने को कहा। गुरु से दीक्षा प्राप्त करने का अधिकारी होने के लिए गुरु के प्रति सम्पूर्ण विश्वास और समर्पण की आवश्यकता होती है। देह, मन और प्राण से गुरु के आदेश को वेद वाक्य मानकर पूरी तरह स्वीकार न करने पर दीक्षा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हुआ जा सकता। वास्तविक गुरु कभी भी अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा नही देते।

एक प्रत्यक्षदर्शी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के मुँह से सुनी हुई घटना का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

उस वर्ष काशी में अत्यधिक जाड़ा पड़ा था। उन्हें आराम पहुँचाने के लिये उनके एक सेवक ने लकड़ी के कोयलों की एक जलती अंगीठी उनकी चौकी के नीचे रख दी थी। स्वामी जी सदा वाह्य ज्ञान से दूर रहते थे। कुछ देर बाद चमड़ी के जलने की गंध आने लगी। लोग खोजने लगे कि कहाँ क्या जल रहा है। स्वामी जी की चौकी के नीचे जलती अंगीठी देखकर उसे तुरन्त हटाया गया पर तब तक

स्वामी जी के पीठ के एक हिस्से की चमड़ी जल चुकी थी। वे निर्विकार थे। सबने उनका ध्यान भंग कर उन्हें जगाया। उनकी पीठ के जले हुये भाग को देखकर लोग दुःखी हो गये।

कुछ देर तक निर्विकार रहकर स्वामी जी कुछ साथियों को लेकर धीरे–धीरे गंगा किनारे जाकर पीठ के जले हुये भाग को गंगा में डुबाकर लेटे रहे। कुछ देर बाद मछलियाँ आकर उनकी पीठ की जली हुई चमड़ी खाने लगीं और थोड़ी ही देर में जली हुई पूरी चमड़ी खा गईं। इसके बाद स्वामी जी पानी से निकलकर आश्रम वापस आ गये।

वह जली हुई चौकी आज भी आश्रम में देखी जा सकती है। मठ के प्रवेश द्वार के बाईं तरफ के छोटे कमरे में रखी उस चौकी पर स्वामी जी द्वारा पहना जाने वाला बाघाम्बर बिछाया हुआ है तथा स्वामी जी की पादुका, कमण्डल, खप्पर, रुद्राक्ष की माला आदि वहीं रखी हैं।

सन् 1874 में कोलकाता हाईकोर्ट के एक प्रधान वकील हवा–पानी बदलने के लिए देश भ्रमण करते हुये अंत में काशी आये। वे हिन्दू होकर भी स्वेच्छाचारी थे तथा हिन्दू देवी–देवताओं की उपासना करना उचित नहीं समझते थे। काशी आकर कौतूहलवश उन्होंने विश्वेश्वर, अन्नपूर्णा, मणिककर्णिका आदि स्थानों का दर्शन किये, परन्तु न तो कहीं अपना शीश झुकाया और न ही पूजा पाठ ही किया। काशी में कुछ दिन रहने के बाद तैलंग स्वामीजी की अलौकिक क्षमता के बारे में सुनकर उन्होंने स्वामीजी के दर्शन हेतु अपना मन बनाया और वहाँ गये। उन्होंने देखा कि स्वामीजी को चारों ओर से लोग घेरे हुए हैं। उनकी वाणी सुनने के लिये कुछ लोग खड़े थे, कुछ बैठे हुये थे। आगंतुक उन्हें प्रणाम कर बैठ जाते थे या खड़े रहते थे। कोई जल्दी ही वापस चला जाता था। वकील महाशय कुछ देर खड़े होकर इस दृश्य एवं तैलंग स्वामी को बार–बार देखते रहे। अभी वे देख ही रहे थे कि उन्हें ऐसा लगा जैसे किसी ने उन्हें धक्का देकर कहा– अरे नराधम, दुराचारी तू अंग्रेजी के दो–चार अक्षर पढ़कर अपने धर्म को एकदम भूल गया है। इनको प्रणाम कर ! इतना सुनने के बाद वे तुरन्त स्वामी जी के चरणों पर गिरकर मन ही मन क्षमा माँगने लगे। उनकी मोह–निद्रा एकाएक भंग हो गयी। हृदय भक्ति–भाव से भरपूर हो गया और मन आनंदित। स्वामीजी का चरण स्पर्श करते ही उनके मन की

मलिनता छंटने लगी और एक अभूतपूर्व भाव का उदय हुआ। तमाशा देखने जाकर उन्हें महारत्न लाभ हो गया। स्वामीजी की अद्‌भुत क्षमता देखकर वे मोहित हो गये। घर लौटने पर उनके मन में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न हुए, परिणामस्वरुप उनके मन में धर्म–पथ पर चलने का विचार उत्पन्न हो गया। वे हिन्दू धर्म का सही अर्थ जान गये थे। इसके बाद कलकत्ता लौटकर उन्होंने मंगलदास ठाकुर से स्वामीजी की सेवा के लिए कुछ मासिक खर्च भेजने की याचना की। जब स्वामीजी ने यह सुना तो क्रोधित हो गये और ऐसा करने से मना कर दिया। स्वामीजी की मृत्यु के बाद वे आश्रम खर्च हेतु मंगलदास ठाकुर को मासिक 10 रु. भेज दिया करते थे।

खालिसपुरा निवासी श्री भवानीचरण वाचस्पति नामक व्यक्ति बहुत दिनों से बुखार और लीवर संबंधी बीमारियों से कष्ट पा रहा था। काफी इलाज के बाद भी उसे कोई लाभ नहीं हो रहा था। एक दिन वे स्वामीजी के पास आये, और रोज आने–जाने लगे।

एक दिन सुबह उनके आने पर स्वामी जी ने उनसे आने का कारण पूछा। सब सुनकर स्वामीजी ने उसे सील पर भांग पीसने को कहा इसे अपनी जान बचाने की गरज से उसने काफी कष्ट उठाकर उसे पीसा। स्वामीजी ने उस पिसी भांग में से मटर के दाने के बराबर भांग उसे दी और खाने के लिए कहा। वह उसे खा गया। शेष बची भांग स्वामीजी खुद खा गये। स्वामीजी ने उन्हें प्रतिदिन आश्रम में आने को कहाँ करीब महीने भर से अधिक समय तक वह रोज आश्रम आता रहा। स्वामीजी उससे रोज भांग पिसवाते थे और मटर बराबर भांग उसे खिलाते रहे।

एक दिन आकर उसने देखा कि स्वामीजी ने बहुत सारी उल्टी कर उसे इकट्‌ठा कर रखा था। वाचस्पति के आते ही स्वामीजी ने उससे उसे साफ करने को कहा, उन्होंने खुशी–खुशी उसे साफ कर दिया और गंगाजी में नहाकर आये तो स्वामीजी ने उससे पुनः भांग पीसने को कहा और उसे निर्दिष्ट परिमाण की एक गोली खाने के लिए दी। दूसरे दिन जब वे आये तो देखा कि बहुत सारी विष्ठा एक स्थान पर एकत्र कर रखी गयी है। स्वामीजी ने उसे साफ कर तुरन्त नहाने को कहा। घृणा न करते हुये उसे ठीक से साफ कर नहाकर आने के बाद स्वामीजी ने उससे पुनः भांग पीसने को कहा और उसमें से एक मटर के दाने भर भांग खाने का

उसे निर्देश दिया और कहा– अब तुम्हें यहाँ नही आना होगा। हताश मत होना। उसी दिन से उसकी पीड़ा कम होने लगी। थोड़े ही दिन में वे पूरी तरह स्वस्थ हो गये। वे अक्सर स्वामी जी का दर्शन करने जाते थे और उन्हें प्रणाम कर वहाँ बैठ कर उनके पवित्र रूप का दर्शन किया करते थे।

लोगों का रोग, शोक, दुःख देखकर स्वामी जी का कोमल हृदय विचलित हो जाता था। जब तक वे उसे दूर नहीं कर लेते थे, तबतक उन्हें शांति नहीं मिलती थी। जब वे लोगों से घिरे बैठे रहते थे, तब वहाँ प्रवेश करने मात्र से लोगों को रोग की पीड़ा से मुक्ति मिल जाती थी, यह कुछ प्रत्यक्षदर्शियों से ज्ञात सत्य घटना है। इस तरह स्वामीजी ने जाने कितने लोगो के रोग शोक, संताप आदि को विनष्ट कर उन्हें नव जीवन प्रदान किया। उनके जैसा परोपकारी, दयालु, उदारता संसार में कोई विरल ही है। जिन लोगों ने स्वामीजी के आश्चर्यजनक कार्यकलापों को देखा था वे अपने जीवन को धन्य मानते थे। सहृदय व्यक्तियों के मन का अंधकार ज्ञान से दूर हो जाता था और वे स्वयं इसका अनुभव करते थे कि वे सत्वगुणों के अधिकारी हो गये हैं। जो भी भक्त अपनी अंतरात्मा से उनका दर्शन चाहता था उसे उनकी कृपा जरुर प्राप्त होती थी। जिन लोगों को उन पर विश्वास नहीं था उन्हें दर्शन भी नहीं मिलता था। अंत में वे अपने को अभागा समझते थे।

बालाजी घाट पर स्वामीजी ने "लाट" नाम के एक पत्थर के शिवलिंग को स्थापित किया था, जिसका टूटा हुआ अंश आज भी शरद ऋतु से लेकर ग्रीष्म ऋतु तक देखने को मिलता है। बाकी समय यह गंगाजी में डूबा रहता है और दिखाई नहीं देता है।

इसके अलावा स्वामीजी ने अपने आश्रम में तैलंगेश्वर शिव नामक पत्थर के एक विशाल शिवलिंग को पंचगंगा जी से उठा कर ससमारोह उसकी स्थापना की है जो आज भी विद्यमान है और लोग उस पर भक्ति भाव से गंगाजल का अर्पण करते है और श्रद्धापूर्वक उसकी पूजा करते है। उन्होंने मठ में पत्थर की कई मूर्तियाँ भी स्थापित की थीं। उन्होंने आश्रम में कुछ पत्थरों के बने यंत्र की भी स्थापना किये थे जिससे वे क्रियायें करते थे। जिन्हें आज भी मठ में देखा जा सकता है। जमीन के नीचे उनका साधना कक्ष है, जहाँ बैठकर वे दीर्घ समय तक साधना में लीन रहते थे। उनके साधना कक्ष की दीवार पर एक छोटा सा प्रकोष्ठ (प्रकुण्ड) है,

जहाँ हाथ डालकर वे अपने भक्तों को उनकी इच्छित वस्तु प्रदान करते थे। इतने छोटे प्रकोष्ठ से वे इतनी बड़ी–बड़ी वस्तुयें कैसे निकाल लेते थे यह एक आश्चर्यजनक रहस्य है। यह प्रकोष्ठ आज भी विद्यमान है।

स्वामीजी के जीवन में 'गंगा माता' का एक अनन्य स्थान है। अपने जीवन के 150 साल उन्होंने काशी में गंगाजी के तट पर व्यतीत किये, जिसका काफी हिस्सा गंगा माँ की गोद में ही बीता है। वे कभी गंगा में डुबकी लगाये रहते थे, कभी जल पर बहते रहते थे। उनकें अतिरिक्त किसी अन्य को इतनी देर तक गंगा में डुबकी लगाकर रहते नहीं देखा गया। वे गंगा जल पर पद्मासन लगाकर ध्यान मग्न होकर जल स्रोत के अनुकूल या प्रतिकूल दिशा में बहते रहते थे। जिसे देखकर काशी के निवासी विस्मित हो जाते थे। गंगा में इस प्रकार विहार करने की वजह से लोग उन्हें गगापुत्र मानकर उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखते थे। काशी की गंगा उत्तरामुखी प्रवाहित 'ज्ञान गंगा' है, यहाँ मरनेवाले को मुक्ति मिलती है। असहनीय शीत में भी स्वामी जी गंगा में घंटों डूबे रहते थे। एक स्थान पर डुबकी लगाकर वे कई मील दूर जाकर बाहर आते थे। घंटों माँ गंगा के जल से क्रीड़ा करते रहते थे। शीत, ग्रीष्म, वर्षा सभी ऋतुएँ उनके लिए समान थीं। स्वामीजी हमेशा वेदी पर एक कम्बल बिछाते थे और दूसरा कम्बल ओढ़ते थे।

काशी में हमेशा महात्मा और महापुरुषों का आगमन होता रहता है। वे लोग काशी आने पर स्वामी जी का दर्शन करने अवश्य जाते थे और उनसे मिलकर अपने काशी आगमन को सार्थक समझते थे तथा अपने को धन्य मानते थे। उनसे मिलने असंख्य महात्मा आते रहते थे। उनके दर्शन के पश्चात् अपनी–अपनी पुस्तकों में उन्होंने उनकी चमत्कारिक एवं अलौकिक घटनाओं का वर्णन अवश्य किया है जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख यहाँ किया जाना आवश्यक है। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी जी काशी आकर स्वामीजी से मिले और उनके साथ बहुत समय बिताया। वे प्रातः काल उनके साथ गंगाजी के तट पर घूमते थे। कभी स्वामी जी गंगाजी में डुबकी लगाकर मणिकर्णिका घाट पर जाकर निकलते थे तो विजय कृष्ण जी दौड़ते–दौड़ते उनके पास आ पहुँचते थे।

स्वामीजी कभी–कभी इशारे से विजय कृष्ण से पूछते कि क्या उन्हें भूख लगी है और हाँ कहने पर किसी परिचित से उनके लिए भोजन लाने को कहते।

बहुत सारा खाना देखकर वे स्वामीजी से भी खाने को आग्रह करते तो स्वामीजी उनसे अपने मुँह में खाना डालने को कहते थे। विजय कृष्ण स्वामीजी के मुँह में निवाला डाल देते थे। खाते–खाते वे पूरा खाना ही खा जाते जिससे विजयकृष्णजी को भूखा ही रहना पड़ता था। इससे बचने के लिए वे अपने हिस्से का खाना दूर हटाकर रखते थे, किन्तु स्वामी जी सब जानते हुए भी हँसते थे केवल और जमीन पर 'बच्चा सच्चा है' लिख देते थे।

एक दिन की घटना है, विजयकृष्णजी स्वामी जी के साथ गंगा किनारे टहल रहे थे। रास्ते में एक काली मंदिर पडा। स्वामीजी काली माता के मंदिर में गये और लघुशंका करके उसे मूर्ति पर छिड़क दिया। उन्होंने पूछा– स्वामीजी आपने ऐसा क्यों किया? स्वामीजी ने जमीन पर लिख दिया– गंगोदक से माता की पूजा की है। मंदिर में लोगों के आने पर विजयकृष्ण ने बताया कि स्वामीजी ने क्या किया है? यह सुनकर लोगों ने कहा कि उन्होंने ठीक ही कहा है, वे साक्षात विश्वेश्वर हैं और उनकी लघुशंका गंगोदक है। स्वामीजी पर लोगों का भक्ति भाव व विश्वास देखकर कृष्णजी अंचभित रह गये।

स्वामीजी ने उन्हें दीक्षा तो नहीं दी थी पर इतना बता दिया था कि उनका गुरु कोई अलग व्यक्ति है। उचित समय पर उनका अपने गुरु से मिलन हो जायेगा। स्वामीजी ने विजयकृष्णजी की देह शुद्धि क्रिया कर दी थी तथा ईश्वर का नाम प्रदान किया, साथ ही उन्हें विपत्ति नाशक एक मंत्र भी दिया था। विजयकृष्णजी की तैलंग स्वामी पर असीमित श्रद्धा और भक्ति थी। एक बार प्रयाग के कुंभ मेले में विजयकृष्ण गोस्वामी को भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उस समय एक बालक संन्यासी ने आकर उनकी परेशानियों को दूर किया तथा उन्हें कठिनाइयों से उबारा, और साधु समाज में उन्हें उच्च आसन दिलाया था। उक्त बालक सन्यासी के अंतर्ध्यान के बाद विजयकृष्णजी ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर अपने शिष्यों एवं भक्त मंडली को बालक संन्यासी का परिचय बताया कि वे तैलंग स्वामी थे और बालक रूप में आकर उनकी विपत्तियों का नाश किया तथा उनकी रक्षा की। उन्होंने तैलंग स्वामी को 'साधू शिरोमणि' एवं जीवन मुक्त महात्मा की संज्ञा दी है। सन् 1867 में श्री श्री रामकृष्ण देव काशी दर्शन के लिए गये थे। स्वामी शारदानन्दजी ने श्री रामकृष्णजी के लीला प्रसंग में लिखा है कि श्री

रामकृष्ण देव ने काशी जाकर वहाँ बड़े–बड़े साधु, सन्यासियों के दर्शन किये। जब वे स्वामी तैलंग स्वामी से मिले थे तो उन्हें अपूर्व आनंद की प्राप्ति हुई थी और काशी निवास के दौरान वे बार–बार उनके दर्शन करने गये थे।

स्वामीजी को पहली बार देखकर ही श्री रामकृष्ण देव ने कहा था– साक्षात विश्वनाथ जी इनके शरीर में निवास करते हैं (तैलंग स्वामी की पुण्य देह का सहारा लेकर बाबा विश्वेश्वर ने कितनी लीला की है, कितने लोगों पर कृपा की है तथा सनातन धर्म के रक्षक सैकड़ों महापुरुषों के जीवन में बीज बो कर उन्हें अजर–अमर कर दिया है)। श्री रामकृष्ण देव ने कहा है कि ये योगी पुरुष योग साधना और ज्ञान की उच्च अवस्था को प्राप्त हैं। इन्हें अपने पार्थिव शरीर का कोई ध्यान नहीं है। धूप, पानी, जाड़ा कोई भी इनके ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकता। गर्म रेत जिस पर कोई नंगे पाव रह नहीं सकता। स्वामीजी उसी रेत पर निर्विकार भाव से लेटे रहते हैं। श्री रामकृष्णदेव ने उनके शरीर और इनकी इन्द्रियादि को देखकर कहा था 'इनमें एक परमहंस के सम्पूर्ण चिह्न विद्यमान है। ये तो काशी के सचल विश्वनाथ हैं। इनके दर्शन करना और बाबा विश्वनाथ का दर्शन दोनों बराबर है। इनके यहाँ निवास करने से काशी गौरवान्वित और प्रकाशित है।" श्री श्री रामकृष्ण देव ने ही स्वामीजी को 'काशी के सचल विश्वनाथ' के नाम से प्रचारित किया। इनका दर्शन कर उनकी विश्वनाथ दर्शन की इच्छा पूरी हुई। एक दिन उन्होंने एक मन दूध की खीर बनाकर स्वामीजी को अपने हाथ से खिलायी थी जिससे दोनों को काफी आनन्द प्राप्त हुआ था।

श्री रामकृष्ण देव की स्वामी जी से संकेतों में काफी बातें हुई थीं। उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि ईश्वर एक है या दो ? स्वामीजी ने संकेत से बताया कि समाधिस्थ होकर साधना करने पर मन आत्मा में विलीन हो जाता है तब देखने पर एक के सिवा अन्य कोई नहीं रह जाता। यही अद्वैतवाद है। जब तक मनुष्य ईश्वर को खोजता रहता है इस वक्त भक्त और भगवान दो हो जाते हैं। यही द्वैतवाद है। श्री रामकृष्णजी ने स्वामी जी से कई सवाल किये थे–

(1) धर्म क्या है ? स्वामीजी ने उत्तर दिया – सत्य ही धर्म है।

(2) मनुष्य का कर्म क्या है ? उत्तर – जीव सेवा ही मनुष्य का कर्म है।

(3) प्रेम क्या है ? उत्तर – जब भगवान का नाम सुनते ही नेत्रों से पानी गिरता है और व्यक्ति भगवान में तन्मय हो जाता है, उसी को प्रेम कहते हैं।

स्वामी जी के अकाट्य संक्षिप्त मर्मस्पर्शी उत्तर सुनने के बाद श्रीरामकृष्णदेव को भाव समाधि लग गयी और उनकी आँखों से प्रेमाश्रु की अविरल धारा बहने लगी। इसके अतिरिक्त दोनों महापुरुषों के एक ही आत्मराज्य में स्थित होने की वजह से उन दोनों में बहुत सारी बातें हुईं और दोनों ने प्रेमानन्द स्वारूप सच्चिदानन्द सागर में जो आनंदायोग किया था वह अवर्णनीय एवं अकथनीय तथा साधारण लोगों की समझ से परे है।

श्रीरामकृष्णदेव के प्रिय शिष्य जिन्हें उनका मानस पुत्र कहा जाता था (राखाल महाराज जो बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए) उन्होंने तैलंग स्वामी के बारे मे अपने धर्म ग्रंथ 'धर्म प्रसंग' में लिखा है कि एक बार एक आदमी तैलंग स्वामी को देखने गया पर उन्हें देखकर उसने सोचा कि ये तो मौनव्रती हैं, बात करेंगे नहीं, फिर इनके पास जाने से क्या फायदा? उक्त बातें सोचकर वह अपने घर वापस लौट आया। दूसरे दिन वह फिर स्वामीजी के पास गया और कुछ क्षण उनके पास बैठा रहा। उस दिन उन्होंने देखा कि स्वामीजी अत्यन्त व्याकुल होकर जार–बेजार रो रहे हैं। कुछ देर बाद वे जोर–जोर से हँसने लगे। उनके इस भाव के बारे में राखाल महाराज ने लिखा है – आज हमें जो शिक्षा मिली, वह एक हजार पुस्तकों को पढ़ने से भी नहीं मिलती। भगवान के प्रति जब इस तरह की आकुलता, व्याकुलता उत्पन्न होती हैं, तभी उनका दर्शन मिलता है और व्यक्ति को आनन्द लाभ होता है।

श्री रामकृष्णजी के प्रिय शिष्य अद्भुतानंदजी (लाटू महाराज) ने अपनी पुस्तक "सत् कथा" में लिखा है कि "तैलंग स्वामी बनना आसान काम नहीं है। "अत्यधिक श्रम, कठोरतम साधना तथा अटूट तपस्या करने पर ही कोई उनके जैसा बन सकता है।

केवल नंगा रहने से कोई तैलंग स्वामी नहीं बन जाता है। नंगा रहने से आनन्द प्राप्त नहीं होता। वैसा बनने के लिए प्रचुर साधना, तपस्या और अभ्यास की आवश्यकता है।

तैलंग स्वामी ने कितनी कठोर तपस्या की है, कितने कष्ट सहन किये हैं,

उसे कोई जल्दी नहीं समझ सकता। जो उनके प्रति श्रद्धा, भक्ति रखते हैं, उनकी पूजा करते हैं, उनका कल्याण अवश्य होगा। वे (रामकृष्णदेव) कहते थे– "तैलंग स्वामी सर्वश्रेष्ठ हैं, मनुष्य का शरीर तो है पर कर्म मनुष्योचित नहीं है। उन्हें शिवत्व की प्राप्ति हो चुकी है। बाबा विश्वनाथ और तैलंग स्वामी अभेद्य हैं।"

काशी में स्वामीजी के योग ऐश्वर्य की ख्याति दूर–दूर तक फैली थी। उन्हें सभी 'महान योगी' कहते थे तथा उनके प्रति अपार श्रद्धा और भक्ति रखते थे।

एक बार वे अपने भक्त शिष्यों सहित गंगाजी के तट पर विराजमान थे। उसी समय एक बंगाली बाबू धोती कुर्ता पहने दो व्यक्तियों को साथ लेकर स्वामीजी के निकट आ खड़े हुए। उसी व्यक्ति के चेहरे पर एक दिव्य आनंद प्रस्फुटित हो रहा था। उसके निकट आते ही स्वामीजी उठ खड़े हुए। उनके खड़े होते ही उन आगंतुक को ऐसा आभास हुआ कि योग साधना का मैनाक पर्वत किसी इन्द्रजाल की शक्ति से अचानक ही सचल हो उठा। उठकर उन्होंने उसे अपनी छाती से लगाया। उनके आलिंगन से पूरा वातावरण आनंद से ओतप्रोत हो उठा। उनके चारों ओर बैठे भक्तगण यह दृश्य देखकर चकित रह गये। भक्तों ने कभी भी स्वामीजी को किसी का आलिंगन करके इतना प्रसन्न होते नहीं देखा था।

कुछ देर बाद आगन्तुक व्यक्ति ने स्वामीजी को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और फिर वहाँ से चले गये। उनके गमन के बाद भक्तों ने स्वामीजी से पूछा– बाबा! ये कौन से साधक हैं जिसका आपने अतीव उत्साह और आनंद के साथ स्वागत किया। स्वामीजी ने प्रशांत भाव से कहा–"योग साधना के जिस भूमि तक पहुँचने के लिए साधुओं को लंगोटी तक त्यागना पड़ता है, उन्होंने गृहस्थ रहते हुए भी उस पद को प्राप्त कर लिया है। योग विभूति के ये गुप्त योगी साधक 'श्यामाचरण लाहिड़ी जी' थे जिन्होंने भारत के अन्यतम श्रेष्ठ योगी बाबाजी महाराज के निर्गुण साधना मार्ग को सिद्ध कर लिया है।" गृहस्थाश्रम में रहकर गृहस्थ लोगों में साधना का प्रचार करना इनका व्रत है। उस दिन की घटना के बाद ये गुप्त योगी काशी में व्यक्त योगी के रूप में प्रसिद्ध हो गये। उसी दिन से काशी की अध्यात्म चक्रमंडली में चर्चा आरंभ हो गई। तैलंग स्वामी की स्वीकारोक्ति की गूंज के रूप में महायोगी श्यामाचरण लाहिड़ी प्रसिद्ध हो गये।

एक बार श्री भगवान दास गांगुली नामक एक साधक अपने दो शिष्यों –

लोकनाथ ब्रह्मचारी और वेणी माधवजी को लेकर काशी आये। यहाँ स्वामीजी का दर्शन कर वे आनन्दित और मोहित हो गये। उनके दोनों शिष्यों की साधना तब तक पूरी नहीं हुई थी, उनके शरीर त्याग का समय भी आ चुका था। उन्होंने अपने दोनों शिष्यों को श्री तैलंग स्वामी के चरणों में सौंप दिया और उनसे प्रार्थना की कि– मैं अपने इन दोनों शिष्यों को आपको समर्पित कर रहा हूँ। आप इन्हें शिक्षा की पूर्ण परिणति प्रदान करेंगे। यही मेरा आपसे अनुरोध है और उन्होंने मणिकार्णिका घाट पर अपना शरीर त्याग दिया। स्वामीजी ने लोकनाथ ब्रह्मचारी और वेणी माधवजी की योग शिक्षा पूरी करा कर उन्हें अपने शिष्य सिद्ध मुसलमान फकीर अब्दुर रहमान के साथ हिमालय में साधना हेतु भेज दिया। पूरी शिक्षा प्राप्त कर इन दोनों ने बंगाल लौट कर काफी प्रसिद्धि अर्जित की थी।

मानव के लिए तैलंग स्वामीजी की जीवनगाथा और उनकी लीलाओं के बारे में लिखना सूरज को दीपक दिखाने जैसा ही है। उनके बारे में जो कुछ जाना जा सका है वह उनकी कृपा का ही फल है। जिस पर उनकी कृपा वर्षा हो जाय वह अपने को धन्य समझता है।

जिन लोगों ने स्वामीजी के दर्शन पाये हैं या उनकी विस्मयकारी कार्यकलापों को देखा था, वे अपने जीवन को धन्य व सार्थक समझते थे। स्वामीजी कहते थे – कि ज्ञान द्वारा हृदय के अंधकार को दूर करने से सत्वगुण का अधिकारी हुआ जा सकता है। जो लोग पूरे मन से स्वामीजी का दर्शन करना चाहते थे उन्हें उनका दर्शन अवश्य मिलता था।

जो उनकी योग्यता से अवगत नहीं थे और उनकी अवहेलना करते थे उनको स्वामीजी का दर्शन कदापि नहीं मिलता था।

इस समय तैलंग स्वामीजी के आश्रम में उन्हीं के द्वारा प्राण–प्रतिष्ठित एक पत्थर की प्रतिमूर्ति स्थापित है, जिसका दर्शन, पूजा, अभिषेक, जन्म महोत्सव, भण्डारा आदि उनके सेवायतों द्वारा सदा होता है। भक्त इसे उनकी कृपा का फल मानते और आनन्दित होते है। स्वामीजी प्रचाराविमुख थे अतः उन्होंने अपने जीवन में किसी को अपनी जीवनी नहीं लिखने दी। उनके ब्रह्मलीन होने के पश्चात् श्री उमाचरण मुखोपाध्याय जी ने अपनी आखों से देखी, सुनी और लिखित घटनाओं को अति सहज रूप से अपनी 'महात्मा तैलंग स्वामीजी का जीवन चरित और तत्व उपदेश'

नामक पुस्तक में प्रस्तुत कर पाठक एवं अध्यात्म समाज का बहुत भला किया है। उमाचरण मुखोपाध्याय जी 1880 से 1887 में उनके देहत्याग के दिन तक की प्रमुख घटनाओं को अपनी पुस्तक में लिपिबद्ध कर गये थे। उनका पाठ कर भक्तगण यह जान लेंगे कि तैलंग स्वामी निर्विकार, सदानन्द, दया के सागर एवं ईश्वर के जीवन्त रूप थे। तत्वोपदेश के अतिरिक्त स्वामी जी ने उन्हें देवत्व के बारे में 12 आख्यान लिखवा दिये थे, उनके प्रकाशित न होने की वजह से पाठक आज भी उससे वंचित हैं।

श्री उमाचरण मुखोपाध्याय बिहार के मुंगेर में एक दवा खाने में काम करते थे। वे धर्म पिपासु थे। धर्म की बहुत सारी पुस्तकें पढ़कर उनके मन में मनुष्य के 'कर्मफल', 'पुनर्जन्म' आदि के बारे में काफी संशय उत्पन्न हुआ था। वे अपने मन की भ्रांतियों को दूर करने के लिए व्याकुल होकर सोचने लगे कि हमें क्या करना चाहिए ?

वे स्वामीजी का नाम तथा उनकी लीलाओं के बारे में पहले ही सुन चुके थे। उनके मन में काशी जाकर स्वामीजी से मिलकर अपने मन के संशय तथा प्रश्नों के समाधान करने की इच्छा जाग्रत हुई। एकबार तीर्थ यात्रा के लिए हरिद्वार तक जाने एवं उसी समय पहली बार काशी जाकर अपने मन के संशय तथा प्रश्नों का समाधान करने का निश्चय किया। वे जानते थे कि कोई पंडित उनके प्रश्नों का समाधान नहीं कर पायेगा क्योंकि जो जितना बड़ा पण्डित होगा वह उतने ही तर्क देगा। स्वामीजी के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दे पायेगा। उन्होंने दृढ़ संकल्प लिया कि स्वामी जी के पास जाना ही होगा और जबतक उनकी शंका का समाधान नहीं होता तबतक वापस नहीं लौटेंगे। कुछ दिन बाद तीन महीने का अवकाश लेकर सन् 1880 के अगहन महीने की 2 तारीख को वे तीर्थयात्रा पर चल दिये। मुंगेर स्कूल के एक अध्यापक, श्रीयुत सुरनाथ चट्टोपाध्याय ने उमाचरणजी के रहने के लिए काशी के नारद घाट पर स्थित अपने मकान में स्थान निर्धारित करके उस मकान की देखभाल करनेवाले श्रीयुत रामचन्द्र मुखोपाध्याय के नाम एक पत्र लिख दिया। उस पत्र से उमाचरणजी को बहुत सहायता मिली तथा उन्हें रहने के लिए किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा तथा श्रीयुत रामचन्द्र मुखोपाध्याय ने उन्हें अत्यंत सम्मान सहित रखा एवं हर प्रकार से उनकी सहायता की।

उमाचरणजी ने सर्वप्रथम अपने माता–पिता का श्राद्ध, ब्राह्मण भोजन एवं कुमारी पूजन आदि कार्य सम्पन्न करके सात दिनों तक स्थानीय देवी–देवताओं के दर्शन किये। श्री रामचन्द्र मुखोपाध्याय ने उन्हें साथ लेकर सभी देवी–देवताओं के दर्शन कराये एवं तीर्थों के महात्म्य के बारे में भी बताया। उसी बीच एक दिन पंच गंगाघाट पर स्थित बिन्दु माधव के मंदिर तथा तैलंग स्वामी के आश्रम को भी देखा। स्वामीजी के देवमूर्ति का दर्शन कर उनके मन में अधिकाधिक भक्ति भाव जाग्रत हुआ। थोड़ी देर वहाँ रहकर वे दोनों घर लौट आये।

घर लौटकर उमाचरणजी ने रामचन्द्रजी से तैलंग स्वामी के गुणों और उनकी क्षमता आदि के बारे में जिज्ञासा व्यक्त की। रामचन्द्रजी उनके बारे में कुछ विशेष नहीं बता पाये केवल इतना ही कहा –'उनके बारे में क्या पूछते हैं ? उन्हें हिताहित का ज्ञान नहीं हैं, वे एक पागल मात्र हैं। जात–पात का विचार नहीं करते। जो मिलता है खा लेते हैं, किसी से बात नहीं करते, नंगे रहते हैं, गर्मी में गर्म बालू पर सोये रहते हैं, भंयकर ठण्ड में पानी के अंदर दो–तीन घण्टे डूबे रहतें हैं। कभी पानी के ऊपर बहने लगते हैं। इसलिए लोग उन्हें 'कुम्भक योगी' कहते हैं। उनकी अवस्था सात–आठ सौ साल होगी, पर वह एक ही भाव से हैं।

उमाचरणजी दूसरे दिन मर्णिकाकर्णिका घाट पर स्नान कर महात्मा तैलंग स्वामी का दर्शन करने के लिए उनके आश्रम गये और उन्हें प्रणाम कर एक खम्भे की बगल में खड़े हो गये और उनकी देवमूर्ति को एकटक निहारने लगे और मन ही मन सोचने लगे कि स्वामीजी से पुनर्जन्म के बारे में पूछकर अपने मन का संशय मिटाऊँगा लेकिन उनके पास जाने का साहस वे नहीं जुटा पाये। वे कुछ कहते इसके पहले ही स्वामीजी ने अंगुली से इशारा कर उनको वहाँ से चले जाने का आदेश दिया। वे दुखी मन सोचते–सोचते अपने घर लौटे। उसी दिन शाम को फिर आश्रम जाकर उन्हें प्रणाम कर उसी खंभे के पास खड़े हो गये और अपने मन की बात कहने के बारे में सोचने लगे। उनके मुँह से कुछ निकलता इसके पहले ही स्वामी जी ने प्रातःकाल की तरह इस समय भी उन्हें चले जाने का संकेत किया। विवश होकर वे फिर दुखी मन वहाँ से लौट गये।

दूसरे दिन प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर नित्य की भांति उनके आश्रम में जाकर उन्हें प्रणाम कर उसी स्थान पर खड़े हो गये। उस दिन भी स्वामीजी के

संकेत पर मंगलदास ठाकुर ने उन्हें जाने के लिये कहा पर वे वहाँ से नहीं हटे। स्वामीजी ने क्रोधित होकर बलपूर्वक उन्हें निकाल देने के लिए गो सेवक को इशारा किया और उसने तुरन्त उन्हें बाहर निकाल दिया। वे अपमानित होकर रोते हुये घर लौट आये। नाना प्रकार की चिन्ताओं से उनका मन हताश एवं निराश हो गया था परन्तु उमाचरणजी ने मन ही मन निश्चय कर लिया था कि भाग्य में चाहे जो कुछ भी लिखा हो वे प्रयास करना नहीं छोड़ेंगे, हिम्मत नहीं हारेंगे। अत्यन्त भयभीत अवस्था में वे पुनः आश्रम में जाकर पूर्व की भांति उन्हें प्रणाम कर यथास्थान खड़े हो गये परन्तु इस बार भी स्वामीजी ने उन्हें बलपूर्वक विदा कर दिया। उन्हें यही चिन्ता उन्हें सताने लगी कि किस प्रकार आश्रम में थोड़ा बैठने का स्थान मिले। अंततः उन्होंने निश्चय कर लिया कि स्वामीजी के दोनों सेवकों को कुछ देकर संतुष्ट कर लेंगे तो वे लोग उन्हें नहीं निकालेंगे और वे स्वामीजी के संकेत के बावजूद वहीं खड़े रहेंगे तथा अपना संशय न मिटने तक नहीं लौटेंगे।

तीसरे दिन प्रातःकाल मणिकाकर्णिका घाट पर स्नान कर वे आश्रम पहुंचे और मंगलदास ठाकुर के पास बैठ गये। मंगलदास को चार रुपये देकर हाथ जोड़कर कहा– आज आप लोग मुझे नहीं निकालियेगा। दोनों संतुष्ट हो गये और उनका अनुनय स्वीकार कर लिया किन्तु मंगलदासजी ने कहा– बाबा की अनुमति के बिना यहाँ रुकना अंसभव है। हम कर ही क्या सकते हैं? बाबा का आदेश मानना ही पड़ेगा। गो सेवक ने कहा– मैं सामने ही नहीं रहूँगा। उमाचरण जी डरते–डरते स्वामीजी के समक्ष खंभे के पास खड़े हो गये। आगे जाने और मन की बात कहने का साहस नहीं हुआ पर उस दिन बाहर न निकालने का डर रहने के कारण उन्होंने पूछने का निश्चय कर लिया।

ऐसा सोचकर वे दो कदम आगे बढ़े तभी कलकत्ते से दो बाबू वहाँ आये। स्वामीजी को प्रणाम कर वे वहीं खड़े हो गये। कुछ देर बाद स्वामीजी ने उन्हें चले जाने का इशारा किया। उनमें से एक व्यक्ति जो कुछ विनम्र स्वभाव का था, जाने के लिए आगे बढ़ा, परन्तु दूसरा व्यक्ति जो कुछ उग्र स्वभाव का था, वह क्रोधित होकर बोला–हम यहाँ से किसी प्रकार नहीं जायेंगे, साधु दर्शन के लिए आये हैं, हमें यहाँ रहना थोड़े हैं। कुछ देर बाद स्वयं चले जायेंगे। इसमें क्रोधपूर्वक विदा करने का क्या कारण है ? तब स्वामीजी ने सक्रोध मंगलदासजी को इशारे से उन्हें गो सेवक

द्वारा शीघ्र विदा कराने को कहा। सेवक ने उनके शरीर पर हाथ रखकर कहा– बाबा का दर्शन हो गया अब जल्द यहाँ से चले जाओ। व्यर्थ भीड़ लगाने की जरूरत नहीं है। वह बाबू गोसेवक को धक्का देकर बोल पड़ा– हम यहाँ से किसी हालत में नहीं जायेंगे। दोनों में झगड़ा होने लगा, यह देखकर स्वामीजी ने उस बाबू को भगाने का इशारा किया और मंगलदास को कागज कलम लाने को कहा। मंगलदास के आने पर स्वामीजी दीवाल पर लिखे श्लोकों में से किसी–किसी पर हाथ रखकर दिखाने लगे और मंगलदासजी उन्हें लिखते गये।

लिख लेने के बाद स्वामीजी ने उन श्लोकों को बाबू को पढ़कर सुनाने को कहा। मंगलदासजी ने लिखा–तुम 18 रु. का अपना जूता बाहर छोड़कर स्वामीजी को देखने आये हो, अगर कोई चोरी कर ले तो तुम्हें नंगे पांव घर लौटने में कष्ट होगा। तुम मुझे देख रहे हो या अपने कीमती जूतों को? सत्य बोलो, क्या सोच रहे हो? शीघ्र जूते लेकर चले जाओ। अभी तक किसी ने उसे नहीं चुराया है। इस घटना से वहाँ उपस्थित सभी लोग चकित हो गये। उमाचरणजी ने उन सज्जन से पूछा, महाशय, क्या आप वास्तव में जूतों के बारे में सोच रहे थे ? उन्होंने कहा– हाँ, मुझे जूतों की चिन्ता हो रही थी। उमाचरणजी ने ऐसी घटना कभी नहीं देखी थी। अपनी आँखों से देखकर उनकी श्रद्धा और भक्ति और बढ़ गई। उन्होंने निश्चय किया कि चाहे जितना कष्ट हो वे प्रयास करना नहीं छोड़ेंगे। अब तक बाबुओं का रागरंग दूर हो गया और वे बिना कुछ बोले वहाँ से चले गये।

कुछ देर बाद स्वामीजी ने उमाचरणजी की तरफ देखकर उन्हें आँख से चले जाने का संकेत किया। जाने की इच्छा तो नहीं हो रही थी पर विरोध करने का साहस नहीं हुआ इसलिए वे लौट आये। साहस कर शाम को फिर गये, तब भी वही हुआ।

इस प्रकार प्रतिदिन सुबह–शाम जाते हुए 12 दिन बीत गये, पर बैठने का स्थान तक नहीं मिला तब वे निराश हो गये और अपने भाग्य को कोसने लगे। वे सोचने लगे कि मैं कितना पापी हूँ कि मुझे साधु पुरुष अपने पास बैठने तक नहीं देते, देखते ही भगा देते हैं। पता नहीं पिछले जन्म में मैंने कितने पाप किए थे कि स्वामीजी मुझे अपने पास बैठने तक नहीं देते। इस निराशा और दुःख से उनका हृदय व्यथित हो गया। तेरहवें दिन प्रातःकाल आश्रम में जाकर वे अपना दुख

संवरण नहीं कर सके और मर्माहत होकर रोने लगे। दोनों नेत्रों से अश्रु धारा बहने लगी। स्वामीजी ने उनकी इस दशा को देखकर स्वयं ही उन्हें बैठने की आज्ञा प्रदान कर दी और अपने आँसू पोछ डालने का संकेत किया। स्वामीजी की करुणा देखकर उनकी पीड़ा और बढ़ गयी तथा उन्होंने उनके चरण पकड़कर फूट–फूट कर रोना शुरू कर दिया। प्रायश्चित से उनका हृदय दग्ध होने लगा। उनकी मनोदशा को देखकर स्वामीजी ने मंगलदास को बुलाकर संकेत से कहा कि उनको आज घर लौट जाने को बोलो और कहो कि कल सबेरे आयें। मंगलदास जी ने उन्हें स्वामीजी का आदेश समझाकर अगले दिन सुबह आने के लिए कहा। इससे उमाचरणजी के मन में आशा की एक किरण फूटी और उनका चित्त प्रसन्न हो गया। वे मध्याह्न में घर लौटे और प्रातःकाल होने की प्रतीक्षा करने लगे।

चौदहवें दिन पंचगंगा पर गंगा स्नान कर नये उत्साह के साथ आश्रम में जाकर स्वामीजी को प्रणाम कर उनके युगल चरणों को मस्तक से स्पर्श कर उनके चरणों की धूल को अपने सारे बदन में लगा लिया। स्वामीजी के स्पर्श से इनके हृदय का अवरण हट गया तथा उनका शरीर पवित्र हो गया। उनके तन–मन में आनन्द की एक लहर दौड़ गयी। कुछ देर बाद स्वामीजी ने मंगलदास को इशारा किया वे एक पत्थर और एक टुकड़ा गेरु मिट्टी और एक लोटा पानी लाकर उमाचरण को दें। यह सब देकर मंगलदास ने उनसे कहा कि बाबा ने आपको गेरु घिसने का आदेश दिया है। उमाचरण ने गेरु घिसना शुरु कर दिया। दोपहर को स्वामीजी ने घिसे हुए गेरु को एक कटोरी में रखकर उन्हें भोजन करने के लिए जाने का आदेश दिया। घर से भोजन करके वे फिर आश्रम में गये तो स्वामीजी ने उन्हें फिर गेरु घिसने का संकेत किया। उमाचरणजी फिर गेरु घिसने लगे। अपराह्न के समय एक ब्रह्मचारी आये तो स्वामीजी ने उन्हें गेरु का पात्र और देवनागरी में लिखा हुआ एक कागज का टुकड़ा देकर आँगन की दीवार पर गेरु से उसको लिखने का आदेश दिया। आदेशानुसार ब्रह्मचारी वैसा करने लगे। शाम को पुनः घिसा हुआ गेरु कटोरी में रखकर उमाचरणजी को घर जाने का आदेश दिया गया। वे वापस चले गये।

इस तरह नित्य प्रति दोनों वक्त गेरु घिसते–घिसते उनके हाथों की ताकत घट गयी। 15 दिन इस प्रकार बीत गये। हाथ सुन्न होने लगा यहाँ तक कि हाथ से कौर उठाकर मुँह में डालना दूभर हो गया। उमाचरणजी मन ही मन विचार करने

लगे कि जो भाग्य में लिखा है काम भी वैसा ही मिलेगा न। मन की बात मन में रखकर वे शांत ही रहे। स्वामीजी के सामने उसे प्रकट करने का साहस नहीं हुआ। वे दोनों वक्त गेरु घिसते थे और ब्रह्मचारी जी रोज आँगन की दीवार पर श्लोक लिखते थे। रोज का घिसा गेरु रोज खर्च हो जाता था। ब्रह्मचारी जी लिखते – लिखते थक अवश्य जाते थे।

इसी प्रकार 28 दिन व्यतीत हो गये। उन्तीसवें दिन सुबह स्नान करके स्वामीजी को प्रणाम कर वे उनके निकट बैठे और सोचने लगे कि यदि आज भी उन्हें गेरु घिसने का आदेश दे दिया तो वे लाचार हो जायेंगे क्योंकि उनके दानों हाथ अचल हो गये हैं। गेरु घिसने की तनिक भी ताकत उनमें नहीं रह गयी हैं। यदि गेरु नहीं घिस पाये और नाराज होकर स्वामीजी ने उन्हें आश्रम से निकाल दिया तो उनकी सारी योजना मिट्टी में मिल जायेगी। इस प्रकार यह सोचकर उनका मन व्याकुल हो उठा और आँखें बरसने लगीं।

कुछ देर बाद स्वामीजी ने उनकी तरफ देखकर मुस्कुरा दिया और मंगलदास से पुछवाया कि उन्हें देवनागरी लिपि आती है या नहीं? उनके हाँ कहने पर स्वामीजी ने अपनी वेदी पर बिछे कम्बल के नीचे से एक बड़ा बांस का चोंगा निकाला और उनके हाथ में थमा दिया तथा मंगलदास से कहलवाया कि अन्दर जितने श्लोक लिखे हैं उनका बंगला में अनुवाद करना होगा। उमाचरणजी को लगा उन्हें जैसे स्वर्ग मिल गया। वे स्वामीजी की अहैतुकी कृपा से अतीव प्रसन्न हुए। वे कागज–कलम और दवात लेकर श्लोकों का अनुवाद करने लगे। वे हर कागज के नीचे हस्ताक्षर करते रहे।

पाँच दिनों तक अथक प्रयास कर उन्होंने चोंगे के सारे श्लोकों का बंगला में अनुवाद कर डाला और स्वामीजी ने उसे पढ़कर सुनाने को कहा सारे श्लोकों को सुनकर स्वामीजी ने अनुवाद को चोंगे में भरकर कम्बल के नीचे रख दिया फिर उसी स्थान से एक और चोंगा निकालकर उसके श्लोकों को भी पहले की तरह अनुवाद करने का आदेश दिया। यह चोंगा पहले से कुछ छोटा होने के कारण उसका अनुवाद करने में उन्हें तीन दिन लगे। स्वामीजी ने उसे भी पढ़कर सुनाने का आदेश दिया फिर सुनने के बाद उसे भी चोंगे में भरकर कम्बल के नीचे रख दिये और उन्हें भोजन करने के लिए घर जाने का संकेत दिया।

शाम को वे पुनः आश्रम में आये और स्वामीजी को प्रणाम कर उनके पास बैठ गये। स्वामीजी उन्हें देखकर लेट गये। उमाचरण ने सोचा कि आज उनके लिए कोई काम नहीं है। स्वामीजी के चरणों की धूल अपने शरीर और अपने माथे पर लगाकर अपने को पवित्र कर वे उनकी पद सेवा करने लगे। स्वामी जी के नाराज न होने पर उनका साहस बढ़ा और वे सोचने लगे कि स्वामीजी के उठने पर अपनी बात कहेंगे। शाम को स्वामीजी उठे और मंगलदास से संकेत में कहलवाया कि वे सुबह न आकर संध्या समय आयें। यह सुनकर वे प्रसन्न मन घर लौट गये तथा दिन बीतने की प्रतीक्षा करने लगे। उस दिन उनके मन से सारा दुःख दूर हो गया। वे रात के सुबह होने और दिन के समाप्त होकर शाम होने की प्रतीक्षा करते रहे। अगले दिन शाम को वे साधू के दर्शन की इच्छा से तेज कदमों से आश्रम आये। वहाँ आरती देखकर स्वामीजी को प्रणाम कर उनके निकट बैठे गये। स्वामीजी उन्हें साथ लेकर नीचे एक छोटे से कमरे में गये। केवल एक आसन बिछा था और एक दीप जल रहा था। स्वामीजी आसन पर बैठ गये और उमाचरण को अपने पास बिठा लिया। भक्त वत्सल शरणागत भक्त का अभीष्ट पूरा करने के लिए अपना मौन व्रत भंग कर धीर गंभीर वचन बोलने लगे। स्वामीजी ने कहा– आश्चर्य की बात है कि तुम जिस विषय का समाधान जानने के लिए मेरे पास आये हो उसमें इतना संदेह क्यों? त्रिकालदर्शी, तत्ववेत्ता, ब्रह्मर्षि, महर्षि, पुण्यात्मा तपोबल, योगबल से जो चरम सिद्धांत बना गये हैं उस पर संदेह नहीं करना चाहिए। उन लोगों ने जो कुछ कहा है सब सत्य है। जीव को अपनी सुकृति (सुकर्म) और दुष्कृति (कुकर्म) के अनुसार सुख और दुख भोगने के लिए जन्म जन्मान्तर तक जन्म लेना पड़ता है। यह भी सम्पूर्ण सत्य है। मनुष्य तीन जन्मों की बात सहज ही जान सकता है और अच्छी तरह समझ सकता है। दुखः की बात तो यह है कि इस तत्व को जानने या समझने की चेष्टा किसी ने की ही नहीं। मैं जो कहूँगा वह सत्य होगा, इसका क्या प्रमाण है? और उसका विश्वास करने का क्या कारण है? तुम जब मेरे पास आये हो और इतना कष्ट उठाया है तो मैं तुमको पुनर्जन्म के बारे में अच्छी तरह समझाकर अपनी दिव्य दृष्टि से दिखा भी दूँगा। पहले मैं तुम्हें तुम्हारे जीवन की पूर्व घटनाएँ बताऊँगा। यदि वह तुम्हें सच लगे और तुम्हें यकीन हो जाय तब मैं बाद में जो कहूँगा (जिसको तुम नहीं जानते और जानने के लिए व्याकुल हो रहे हो) वह

निश्चय ही सत्य है, ऐसा विश्वास होगा। देखो, जब मनुष्य का पुर्नजन्म होता है तब इस जीवन की जीवात्मा और परमाणु समष्टि को लेकर उसका गठन होता है। इसलिए इस जीवन में जो विद्वान है अगले जन्म में वह निश्चय ही विद्धान होगा। इस जीवन में जो अच्छा वादक है अगले जन्म में वह निश्चय ही वादक होगा। इस जीवन में जो धार्मिक है, अगले जन्म में वह निश्चय ही धार्मिक होगा। इस जीवन में जो चोर है, अगले जीवन में वह कभी साधु नहीं हो सकता। यदि जरा सा भी विचार करोगे तो पाओगे कि यदि पुनर्जन्म नहीं होता तो भगवान को करुणानिधान या सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता है। भगवान सब कुछ जानता है, वह हर प्राणी के विचारों से पूरी तरह अवगत है।

यदि केवल एक जीवन होता और वही आखिरी होता तो कोई राजा, कोई प्रजा, कोई धनी तो कोई निर्धन, कोई रोगी तो कोई निरोगी, कोई ऐश्वर्यशाली तो कोई अति दीन कैसे होता? जीवन में इतना भेद कैसे संभव है? बिना किसी प्रकार का अपराध किये कोई दण्ड क्यों भोगेगा? ईश्वर हमेशा अच्छे बुरे का विचार करता है। इस बात को कोई नहीं जानता इसलिए उसके कर्म के अनुसार ही इतना भेद भावपूर्ण जीवन प्राप्त होता है। इस जीवन की आकृति, वर्ण, विद्या, बुद्धि, स्वभाव कर्मफल आदि की परमाणु समष्टि, आत्मा व जीवात्मा को लेकर दूसरे जीवन का प्रणयन होता है। इसलिए मनुष्य को नाना प्रकार की आकृति, आकार, अवस्था और कर्मफल के अधीन होकर सुख या दुःख भोगना पड़ता है जैसा कि दर्पण में प्रशान्त चेहरा शांत दिखता है और विकट मूर्ति विकट ही दिखती है। उसी प्रकार जीवन में मनुष्य अन्याय, अत्याचार न कर सत्पथ पर चले तो इस समय वह जिस अवस्था में है दूसरे जन्म में भी उसी अवस्था में होगा। अन्याय या असद् कर्म करने से आत्मा अधोगामी होती है और सत्कर्म तथा धर्मचर्चा करने से आत्मा उन्नत अवस्था को प्राप्त होती है, इसमें कोई शक नहीं है। चोरी करने पर शासक द्वारा दण्डित होना पड़ता है। अगर असद् कर्म न किया जाय तो कोई दण्ड क्यों देगा? जब पीड़ा होती है तो डाक्टर की आवश्यकता पड़ती है, अगर पीड़ा हो ही न तो चिकित्सा– या चिकित्सक की आवश्यकता ही क्या है ? गहन विचार एवं मनन करके देखो कि इस जन्म में तुम्हारी आकृति, विद्या– बुद्धि, स्वभाव आदि किस प्रकार के हैं, तभी समझ सकोगे कि पूर्व जन्म में तुम किस स्वभाव और किस अवस्था के व्यक्ति थे।

वर्तमान जीवन तो तुम देख ही रहे हो। इस जन्म में तुमने क्या भला और क्या बुरा किया है उसे भलिभांति जानते हो। भला करने से भला और बुरा करने से बुरा होगा। इस जन्म में तुमने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है यदि ब्राह्मणोचित सद्कर्म करोगे, सच्चे रास्ते पर चलोगे तो आत्मोन्नति कर सकोगे और यदि ऐसा नहीं कर सके अन्याय और पाप कर्म ही करते रहे तो चाण्डाल के यहाँ भी जन्म ले सकते हो। यदि भला या बुरा कुछ न करो तो जैसा इस जन्म में हो वैसा ही पुनर्जन्म में भी रहोगे। अगला जन्म कैसा होगा, उसे तुम स्वयं, निर्धारित कर सकते हो और समझ सकते हो। तुम्हें किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं है।

उमाचरणजी सोचने लगे कि स्वामीजी ने उन्हें कुछ कहने का मौका दिये बिना ही उनके मन की बात कैसे जान ली, यह सोचकर वे चकित थे। स्वामीजी अंतर्यामी और आत्मयोगी हैं, यह तथ्य वे भली भांति समझ गये थे। स्वामीजी पर उनका विश्वास पूर्वापेक्षा और दृढ़ हो गया। वे मन ही मन सोचने लगे कि स्वामीजी ने जो कुछ कहा वह पूर्णयता सत्य है। वे मेरे लिए इतना कष्ट उठायेंगे यह मैंने कल्पना भी नहीं की थी। यह सोचकर उमाचरण का मन आनन्द से आत्मविभोर हो गया। स्वामीजी ने धीरे–धीरे एक–एक करके उनका नाम, उनके पिता का नाम, गाँव का नाम, मकान में कितने कमरे हैं, मकान के किस तरफ तालाब है, कौन–कौन से वृक्ष हैं तथा उनके घर में कितने सदस्य हैं, एक पूर्व परिचित की तरह सब कुछ बता दिये। यह सब सुनकर उमाचरणजी अवाक् रह गये। स्वामीजी ने तदुपरान्त उनके पूर्व जन्म के बारे में बताया कि तुम पूर्व जन्म में ब्राह्मण थे तथा गाँव के जमींदार थे बहुत शिष्टाचारी थे। दूसरे तल्ले के तुम्हारे शयनकक्ष के दक्षिणी दरवाजे के ऊपर उनके हाथ के लिखे तीन श्लोक हैं जो अभी भी मौजूद है। अगर तुम्हें संदेह हो तो जाकर देख सकते हो।

स्वामीजी ने आगे कहा– देखो, तुम्हारे गाँव में अमुक नाम का एक व्यक्ति रहता है। वह तुम्हें अत्यधिक प्यार करता है। तुम्हारा भी उससे स्नेह और प्यार है। इसका कारण यह है कि वह व्यक्ति पूर्व जन्म में तुम्हारे पिता थे। रिश्ते में पिता–पुत्र होने के कारण तुम दोनों में स्नेह और आत्मीयता उतनी ही है, पर शरीर बदलने के कारण कोई किसी को पहचानता नहीं है। तुम्हारे पूर्व जन्म के चाचा भी मुंगेर में हैं, वे भी तुम्हें प्यार करते हैं और इसलिए प्रतिदिन रात को 9–10 बजे तक तुम्हारे घर में ठहरते हैं।

तुम्हे देखे बिना उन्हें शांति नहीं मिलती है। तुम उन्हें बहुत ही आदर देते हों इसका कारण पूर्व जन्म का वह घनिष्ठ संबंध है। आज भी आत्मीयता जैसी की तैसी है। मात्र केवल शरीर परिवर्तन हुआ है। अंत मे स्वामीजी ने कहा– यह सब कहने की मुझे आवश्यकता नहीं थी किन्तु तुम्हारे विश्वास को दृढ़तर करने के लिए ही मुझे उक्त सारी बातें कहनी पड़ीं। तुम्हें जो समझाने की आवश्यकता है, वह मैं समझा दूँगा।

उसके बाद स्वामीजी ने कहा– उमाचरण ! तुम अपने पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों के कारण ही अवकाश लेकर काशी आये हो। ब्राह्मण कुल में तुम्हारा जन्म हुआ और ब्राह्मणोचित सत्कार्य का पालन किया जिससे जन्म जन्मान्तर में तुम्हें कोई कष्ट नहीं भोगना पड़ा। अगर तुम यह जीवन ठीक ढंग से व्यतीत करोगे तो पुनर्जन्म में मुक्ति का सोपान है। बिना इसके परित्याग के मुक्ति की कोई आशा नहीं है।

स्वामीजी की इन अलौकिक बातों को सुनकर उमाचरणजी निःस्तब्ध रह गये। जन्मान्तर के बारे में उनके मन का सारा संदेह दूर हो गया। वे मन ही मन सोचने लगे– स्वामीजी की जब इतनी कृपा है तो आरंभिक क्षणों में मुझे कष्ट देने का क्या प्रयोजन था? शायद इसलिए कि बिना कष्ट उठाये सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

इसी प्रकार बातचीत करते–करते सारी रात बीत गयी, तब स्वामीजी ने कहा– अब तुम घर जाओ और नित्य क्रिया से निवृत्त होकर शीघ्र लौट आओ। दोनों साथ ही गंगा स्नान करने जायेंगे। उमाचरणजी ने वैसा ही किया और लौटकर दोनों साथ–साथ गंगास्नान को गये। पंचगंगा घाट पर उतरते हुए स्वामीजी ने कहा– आज रात को जब आना तब एक कॉपी लेते आना। मैं तुम्हें कुछ उपदेश दूँगा उसे लिख लेना, उससे तुम्हारा बहुत लाभ होगा। मात्र सुन लेने से वह याद नहीं रहेगा। तुम्हें अनेक धर्मग्रंथ पढ़ने की कोई जरूरत नहीं है। मैं जो लिखवा दूँगा, यदि तुम उसका पाठ कर उसे याद रख सको तो तुम्हें पर्याप्त ज्ञान होगा। जीव के लिए मुक्ति से बढ़कर मूल तत्व और कुछ नहीं है और आत्म ज्ञान से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है। मुक्ति और आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रों के अत्यधिक अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। केवल मुख्य बातें जानने से ही कार्य सिद्धि हो सकती है। मुक्ति को छोड़कर मनुष्य की कोई दूसरी गति नहीं है। इसलिए मानव को सदा मुक्ति की कामना करना चाहिए। जितने दिन ज्ञान का उदय नहीं होता तब तक मनुष्य आवागमन से मुक्त नहीं होगा। वाह्य जगत में तुम जो कुछ भी देख रहे हो वह

सब मिथ्या है। संसार में राजा–प्रजा या किसी भी व्यक्ति को निर्मल सुख भोगने का अधिकार नहीं है और न ही उसके पास यह क्षमता है।

स्वामीजी की ये उपदेशपूर्ण बातें सुनकर उमाचरणजी अत्यन्त आनंदित हुए और फिर दोनों साथ स्नान करने के लिए पानी में उतरे। स्वामीजी पानी में उतरकर कुछ पल तक निस्तब्ध रहे फिर चित लेटकर पानी के ऊपरी सतह पर भासमान रहे। तदनन्दर बिना कोई हरकत किये धारा के विपरीत बहने लगे और फिर कुछ दूर जाकर गोता लगाने के बाद अदृश्य हो गये। करीब दो घण्टे के बाद वे उन्हीं के पास से पानी से निकले और सीढ़ी पर बैठे गये। उमाचरणजी ने स्वामीजी के शरीर को पोंछ दिया और फिर आश्रम लौट आये। स्वामीजी अपनी वेदी पर आसीन हो गये और वे स्वामी जी की आज्ञा लेकर घर लौट आये।

शाम को वे कॉपी लेकर आश्रम आये। आरती के बाद स्वामीजी पिछले दिन की तरह नीचे वाले छोटे कमरे में ले गये तथा अपने पास बिठाकर उन्होंने गंभीर वाणी में कहा–'मैं आज तुम्हें जो समझाऊँगा उसे लिख लेना मुझे आरम्भ से लेकर बारह बातें तुम्हें समझानी हैं।

जगत की सृष्टि के आरंभ में एक ईश्वर को छोड़कर और कुछ भी नहीं था। पहले उसी के बारे में बताऊँगा। दूसरी 'सृष्टि', तीसरा 'संसार', चौथा 'गुरु व शिष्य', पाँचवाँ 'चित्तशुद्धि', छठा 'धर्म', सातवाँ 'उपासना', आठवाँ 'पुनर्जन्म', नवाँ आत्मबोध, दसवाँ 'तन्मय तत्व' ग्यारवाँ कुछ 'सार बाते' एवं बारहवाँ तत्वज्ञान। इन विषयों को समझने से ही बहुत ज्ञान लाभ होगा। ऐसा कहकर स्वामीजी ईश्वर के बारे में बताने लगे और उमाचरण जी लिखने लगे। इस प्रकार 13 दिनों में 12 विषयों को पूरा कर लिया गया तदन्तर स्वामीजी ने कहा– अब तुम्हें किसी अन्य धर्मशास्त्र को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अधिक अध्ययन से मन किसी एक विषय पर स्थिर नहीं रहता है और कई प्रकार के संदेह मन में पैदा होते हैं।

उसके बाद स्वामीजी ने कहा– तुम्हारा देवत्व के बारे में कुछ जानना आवश्यक है ताकि तुम्हें उसके बारे में कोई संदेह नहीं रहे। अतः तुम एक कॉपी और ले आना मैं तुम्हें अन्य 12 विषय लिखवा दूँगा। आदेशानुसार दूसरे दिन वे एक और कापी लेकर आश्रम में उपस्थित हुए। स्वामीजी ने उन्हें उसी छोटे कमरे में ले जाकर 6 दिनों में 12 विषयों को पूर्णरूपेण लिखवा दिया पहला – (1) कृष्णलीला

(2) रामलीला (3) सीताहरण (4) रामरावण युद्ध (5) समुद्र मंथन (6) इन्द्र (7) वायु (8) वरुण (9) गौतम (10) तीर्थभ्रमण (11) आहार एवं परिधान (12) शुचि एवं अशुचि। लिखने का यह सारा कार्य पूरा होने पर स्वामीजी ने दोनों कॉपियों को सावधानीपूर्वक रखने को कहा और अपनी लिखी 'महावाक्यरत्नावली' नामक एक पुस्तक दी तथा बीच–बीच में उसे पढ़ने का निर्देश दिया।

जिस प्रकार परिवार की सबसे कनिष्ठ संतान सर्वाधिक प्यारी होती है, ठीक उसी तरह स्वामीजी उनसे स्नेह करने लगे। दो माह तक निरन्तर आश्रम में आने–जाने से भी सभी लोग यह समझने लगे थे कि उमाचरणजी भी आश्रमवासी ही हैं। विशेषतया प्रतिदिन साथ गंगा स्नान करने जाने से सभी लोग कहने लगे कि इस बंगाली बाबू को स्वामीजी अपना शिष्य बनाने की तैयारी कर रहे हैं। उमाचरणजी का भी भय जाता रहा और वे साहसपूर्वक बिना किसी भय और रोक–टोक के आश्रम में आने–जाने लगे। पिता के घर में पुत्र का जैसा अधिकार होता है उसी प्रकार उमाचरण का भी आश्रम पर अधिकार स्थपित होने लगा था। वे अपने घर की तरह ही जब इच्छा होती थे आते–जाते थे। इस प्रकार वे अत्यधिक आनंदित रहने लगे। मन ही मन सोचते कि जब स्वामीजी की इतनी दया (अनुकम्पा) उन पर हैं तो वे उनसे बिना दीक्षा लिये वापस नहीं जायेंगे। इसके लिए चाहे जितने दिन भी उन्हें यहाँ रुकना पड़े, वे रुकेंगे ।

अगले दिन जब उमाचरणजी आश्रम गये और स्वामीजी के निकट बैठकर उनकी पद–सेवा कर रहे थे तो मंगलदास जी ने कहा – उमेशबाबू (उस समय से मंगलदासजी उमाचरणजी को उमेश बाबू कहकर पुकारते थे) आपने तो स्वामीजी को वशीभूत कर लिया है। ऐसा आभास होता है कि बाबा आपको अपना शिष्य बना लेंगे। यह सुनकर उमाचरणजी ने विनम्र भाव से पूछा कि क्या आपने इस बारे में स्वामीजी से कुछ सुना है? इस पर मंगलदासजी ने कहा– अब आपको शिष्य बनाने के लिए बचा ही क्या है ? आज तक स्वामीजी ने इतनी घनिष्ठता किसी के साथ नहीं की और प्रायः वे कहते हैं कि बंगाली बाबू अत्यन्त विनम्र एवं शांत स्वभाव के हैं। मंगलदास से उक्त बातें सुनकर उमाचरण जी काफी प्रसन्न हुए ओर उनके मन में आशा बंधी कि अब मैं स्वामीजी से दीक्षा ग्रहण कर सकूँगा। उन्होंने मंगलदासजी के समक्ष हाथ जोड़कर कहा कि आप मेरी सहायता करें ताकि स्वामीजी हमें दीक्षित

कर सकें। आप बीच–बीच में इस बारे में स्वामीजी से भी चर्चा करते रहें ताकि उनके मनोभाव को जाना जा सके। मंगलदासजी ने स्वीकृति में सिर हिला दिया। इस दौरान शाम ढलने पर स्वामीजी ने उमाचरणजी को घर जाने का संकेत किया।

दूसरे दिन प्रातःकाल स्वामीजी के निकट बैठकर उनकी अलौकिक क्रियाओं और योगशास्त्र की पारदर्शिता के बारे में सोचते–सोचते उमाचरणजी ने विचार किया कि वे उनसे योग की शिक्षा ग्रहण करेंगे। स्वामीजी के सम्मुख अपनी मनोदशा को प्रकट करने के लिए वे उनके और नजदीक खिसक आये। उनके कुछ बोलने के पहले ही स्वामीजी ने मंगलदास को बुलाकर कहा– यह बंगाली बाबू अब दीक्षा लेना चाहते हैं। उमाचरणजी ने हाथ जोड़कर नम्र स्वर में निवेदन किया– आपने मुझ पर विशेष रूप से जो दया दृष्टि दर्शायी है, वह किसी विरले को ही नसीब होती है। आपको मेरा उद्धार करना ही होगा।' यह सुनकर स्वामीजी ने कहा–इसके बारे में रात को विचार करेंगे लेकिन यह बड़ा कठिन कार्य है। अभी तुम स्वांधीन हो, दीक्षा लेने पर बंधन में पड़ जाओगे– इतना कहकर स्वामीजी ने उन्हें घर जाने को कहा।

शाम के वक्त जब उमाचरणजी आश्रम में आये तो स्वामीजी उन्हें छोटे कमरे में ले गये और यथास्थान बैठाने के बाद कहा– तुमने योग शिक्षा प्राप्त करने का मन बनाया है, परन्तु तुम योग शिक्षा के अधिकारी नहीं हो। तुम उपासना मार्ग के लिए उपयुक्त हो। इसलिए इसी मार्ग पर चलने की तैयारी करो। उमाचरणजी ने स्वामी जी के परामर्श को सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया और उनसे उपदेश देने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि इस माघ महीने की तीन तारीख को पुष्य नक्षत्र में चन्द्र ग्रहण लगेगा। तुम्हें उस ग्रहण तक रुककर इंतजार करना पड़ेगा क्योंकि शरीर के बिना शुद्ध हुए दीक्षा नहीं ली जा सकती है। चन्द्रग्रहण की रात्रि को मैं तुम्हारा शरीर पवित्र करुँगा।

तत्पश्चात एक पर्ची में लिखवाकर कुछ सामग्रियों का संग्रह करने का आदेश देकर स्वामीजी बोले–'चन्द्रग्रहण के समय किसी अच्छे नेक ब्राह्मण को उस द्रव्य का दानकर देना और गंगा स्नान करके एक आसन पर बैठकर एक मंत्र जपने का उपदेश देकर स्वामीजी ने उसका विधान भी स्पष्ट कर दिया।' जो इन वस्तुओं का नाम लेकर माँगेगा, उसे इनका दान करने से ही तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाएगा।

इस बात से अति संतुष्ट होकर उन्होने सोचा कि बाबा स्वयं किसी को भेज देंगे। इस बात को स्वीकार कर वे ग्रहण के दिन की प्रतीक्षा करने लगे एवं सुबह–शाम आश्रम आते–जाते रहे। ग्रहण के दिन उन्होने स्वामी जी की आज्ञा का पालन किया। ग्रहण के समय एक ब्राह्मण ने उनके पास आकर उन वस्तुओं का नाम लेकर उनसे भीक्षा माँगी। उन्होंने भक्ति पूर्वक वे वस्तुएँ उन्हें प्रदान कीं।

अगले दिन माघ की 4 तारीख थी। उमाचरणजी ने स्नान के बाद आश्रम में जाकर सभी देवी देवताओं को और स्वामीजी को प्रणाम कर उनके सन्निकट बैठ गये। कुछ देर के बाद स्वामीजी ने कहा– तुम्हारा शरीर पवित्र हो गया है। फिर गुरु और शिष्य के संबंधों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा– कल तुम्हारी दीक्षा होगी। दीक्षा हेतु कौन सी वस्तुओं की आवश्यकता होगी, पूछने पर स्वामी जी ने कहा– किसी चीज की जरूरत नहीं पड़ेगी।

उमाचरणजी के मन में स्वामीजी को भोजन कराने की इच्छा लम्बे अंतराल से थी। यह बात उद्घाटित होने पर स्वामीजी ने कहा– आज अन्न खाना है इसलिए कुछ बैगन ले आओ। उमाचरणजी बाजार से 5 किलो रामनगर के बैगन और पाँच किलो मिठाई लेकर गये। बैगन देखकर स्वामीजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और मंगलदासजी की माता अम्बा देवी को बैगन की सब्जी और भोजन पकाने को कहा, मिठाई देखकर स्वामीजी क्रोधित हुए और कहा– हमने तो मिठाई लाने को नहीं कहा था, तुम क्यों लाये? उनके चेहरे की भावभंगिमा को देखकर उमाचरण जी डर गये। कुछ पल बाद उनके चरण पकड़कर अनुनय विनय करने लगे कि वे मिठाई खायें। काफी निवेदन के बाद स्वामीजी सारी मिठाई खा गये सिर्फ आधा किलो छोड़ दिया तथा उसे उन्हें और मंगलदासजी को खाने का संकेत किया। दोंनो ने प्रसाद ग्रहण किया फिर स्वामीजी ने उमाचरण को घर जाने का आदेश देकर बैगन की सब्जी के साथ भोजन करने बैठे। उमाचरणजी घर न जाकर इस आशा में बैठे रहे कि बाबा आज भोजन ग्रहण कर रहे हैं यदि उनके भाग्य में भी प्रसाद ग्रहण करने को लिखा होगा तो अवश्य मिलेगा। कम से कम चावल का एक दाना भी उठाकर खाऊँगा तो आत्मा तृप्त हो जायेगी। भोजन करने के बाद उमाचरणजी ने स्वामीजी से अपने मन की बान बतायी तो उन्होंने कहा–'तुम मेरा जूठा भोजन क्यों करोगे?' उमाचरणजी ने कहा कि यह जूठा नहीं बल्कि महाप्रसाद है।

वे कम से कम चावल का एक दाना उठाकर खायेंगे। यह सुनकर बाबा ने कहा – यदि तुम्हारी इतनी श्रद्धा है तो तुम्हारी जैसी इच्छा। वे प्रसाद पाकर बर्तन और जमीन साफ कर अपने घर लौट गये।

अपराह्न जब वे आश्रम आये तो उन्होंने देखा कि तीन परमहंस किसी विषय पर मीमांसा करने आये हैं। स्वामीजी के पास देवनागरी में लिखी 25–30 पुस्तकें थीं। उन्होंने मंगलदास को बुलाकर उसमें से एक पुस्तक लाने को कहा और अपने हाथ से उसे खोलकर उन लोगों का ज्ञातव्य विषय उन्हें दिखाया और उनकी जिज्ञासा का समाधान किया। संध्या के समय आकाश भयानक बादलों से घिर गया, ऐसा देखकर वे तीनों परमहंस अनुमति लेकर चले गये। उमाचरण जी ने भी जब चलने की आज्ञा माँगी तो स्वामीजी ने उन्हें बैठने का संकेत किया। कुछ समय उपरान्त मूसलाधार बारिस होने लगी और दो घण्टे तक जमकर पानी बरसा। रात्रि गहराने लगी और पानी की रफ्तार बढ़ती गयी। उस भीषण तूफानी अंधकार को देखकर उमाचरणजी ने विचार किया कि आज वे घर नहीं जायेंगे वरन आश्रम में ही रुकेंगे। इसी समय स्वामीजी ने इशारे से उन्हें अपने पास बुलाया और कहा– अब तुम घर जाओ। उनके इस आदेश से वे अत्यधिक चितिंत हुए क्योंकि उस समय बाहर निकलना खतरे से खाली नहीं था। उन्होंने स्वामीजी से बरसात के थमने तक रुकने की अनुमति माँगी परन्तु स्वामीजी ने उन्हें बिना विलम्ब किये घर जाने को कहा।

उमाचरणजी ने मंगलदास से कहा– आज ऐसी कौन सी गलती हो गयी जो स्वामीजी ने इतना कठोर आदेश दिया, मुझे पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ेगा। मेरे पास छाता भी नहीं है, न ही रोशनी है फिर इतनी जोरदार वर्षा, भयंकर बादलों का गर्जन और विद्युत की चमक। ऐसी परिस्थिति में कैसे घर जाऊँ ? मंगलदासजी ने कहा आप भयभीत मत होइये। बाबा की आज्ञा का पालन कीजिये। मुमकिन है इसके पीछे उनका कोई विशेष उद्देश्य होगा। काफी चिन्तातुर हो स्वामीजी को प्रणाम करके उनकी चरण धूलि को मस्तक पर लगा उमाचरणजी बाहर निकले और देखा कि मूसलाधार बारिस हो रही है पर उनके शरीर पर एक बूंद भी पानी नहीं गिर रहा है। इस प्रकार कुछ दूर पहुँचने पर देखा कि एक आदमी रोशनी (टार्च) लेकर उनके आगे–आगे जा रहा है। रोशनी देखकर उनका साहस बढ़ गया

और वे जोरदार आवाज में पूछा– जी आप कहाँ जायेंगे? उत्तर न पाकर उन्होंने अपने कदमों की गति तेज कर दी परन्तु उस रोशनीवाले आदमी को पकड़ नहीं सके। उन्होंने दौड़ना शुरू किया फिर भी उसे पकड़ नहीं पाये। वह व्यक्ति बराबर समान दूरी पर रहता था। उमाचरणजी थक हारकर पुनः धीरे–धीरे चलने लगे और सोचने लगे कि उसके निकट जाने की आवश्यकता ही क्या है? वर्षा के मध्य बिना छाता लिये उमाचरणजी आगे बढ़ते जा रहे थे, परन्तु पानी पैर में लगने के अतिरिक्त उनके ऊपरी शरीर को स्पर्श नहीं कर पा रहा था। इतनी भयावह वर्षा में वे आराम से रोशनी के सहारे आ रहे थे यह राज की बात मार्ग में उनकी समझ में नहीं आयी। जब वे घर पहुंचे तो आलोकधारी आदमी अदृश्य हो गया। यह देखकर उनकी चेतना जाग्रत हुई और वे स्वामीजी के निषेध का मतलब समझ गये। इस प्रकार अलौकिक क्षमता सम्पन्न महापुरुष की कृपा और चमत्कार को देखकर उनके मन में भक्ति भाव उदित हुआ और वे बारम्बार उन्हें प्रणाम करने लगे। ऐसे महापुरुष द्वारा दीक्षा प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त करने की बात सोचकर वे अपने जीवन को धन्य मानने लगे। खाना खाने के उपरान्त स्वामीजी की अलौकिक क्रियाओं के बारे में सोचते–सोचते वे गंभीर निद्रा में निमग्न हो गये। दूसरे दिन माघ 5 तारीख को सुबह आश्रम जाकर स्वामीजी को प्रणाम करने के बाद उन्हीं के साथ स्नान करने गये। स्वामीजी का स्नान कभी दो घण्टे से पहले समाप्त होता नहीं था, उतनी देर तक उमाचरणजी पानी में रह ही नहीं सकते थे, इसलिए घाट के किनारे बैठकर स्वामीजी के आने (जल से बाहर निकलने) की प्रतीक्षा करते थे। स्नान करने जाने वक्त स्वामीजी उनकी गर्दन पर हाथ रखकर चलते थे।

स्नानोपरान्त स्वामीजी अपनी वेदी पर बैठे और उमाचरणजी अपने नियत स्थान पर। कुछ देर के बाद लोगों का आना–जाना बंद होने पर स्वामीजी ने उनको आसन प्रणाली दिखाकर मंत्रोपदेश दिया और उसकी क्रिया आदि दिखा दी, फिर वेदी पर बैठकर कहा–"देखो, कार्य में उतनी ही बात करनी चाहिए जिसके बिना कार्य सिद्धि न हो, अधिक बोलना उचित नहीं है। व्यर्थ का वाक्य व्यय करके समय नष्ट मत करना। किसी के धर्म से द्वेष मत करना। जिसका जिस धर्म में विश्वास हो उसको उसी से मुक्ति मिलती है। आहार–विहार से धर्म की हानि नहीं होती केवल मुक्ति मिलने में विलम्ब होता है। मुसलमान भी मुक्ति पा सकता है।

व्याकुल मन से और भक्ति भाव से जो निरन्तर ईश्वर को पुकारेगा वही ईश्वर को पा सकेगा।

स्वामीजी ने आगे कहा– "जिन सब घटनाओं को देखकर तुम मोहित हो रहे हो, उनमें से एक भी आश्चर्यजनक घटना नहीं है। मनुष्य यदि वास्तविक अर्थ में सच्चा मानव हो तो वह सारे अलौकिक कार्य कर सकता है। सृष्टि केवल आहार–विहार और भोग के लिए नहीं हुई है। ईश्वर में जो–जो शक्तियाँ निहित है, मानव में भी वही शक्तियाँ विद्यमान हैं। भगवान ने मनुष्य को अपने जैसा बनाकर उसमें अपनी सारी शक्तियाँ देकर उसे श्रेष्ठ जीव बनाया है, पर कोई उस शक्ति का उपभोग या उपयोग करना नहीं जानता। जिसने इस पृथ्वी का सृजन किया और जिसने हमें कार्य करने, चलने, घूमने–फिरने, समझने की शक्ति दी है, वह हर पल हमारे साथ है फिर भी उसे जानने या देखने की इच्छा किसी के अंदर नहीं है। यदि कोई इच्छुक होता भी है तो कार्य प्रणाली न जानने के कारण प्रणालीहीन कार्य करके दसेक दिनों के अंदर उनका (भगवान का) दर्शन करना चाहता है और ऐसा न होने पर वह उस कार्य को छोड़कर नास्तिक बन जाता है। जो हृदय से उनको चाहेगा और पाने की चेष्टा करेगा उसे वे अवश्य मिलेंगे। जो इस जगत का निर्माण कर सर्वदा हर स्थान पर विद्यमान है उन्हें केवल ज्ञान और विचार के बल से ढूंढ़ निकालना होगा। प्रयास करने से हर वस्तु मिलती है।"

स्वामीजी के इस उपदेशामृत को सुनकर उमाचरणजी ने पूछा– 'क्या सचमुच ईश्वर का दर्शन मिल सकता है?' स्वामीजी ने उत्तर दिया– "साधना करने और गुरु कृपा प्राप्त से ही दर्शन मिल सकता है। क्या तुम प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते हो?" उमाचरणजी ने आग्रहपूर्वक कहा– "प्रभो! ऐसा होने पर मेरा जीवन सफल एवं सार्थक हो जायेगा। आज मेरा परम सौभाग्य है जो स्वयं भगवान को गुरु के रुप में प्राप्त कर सका हूँ। बिना भगवान की दया के कोई भगवान का दर्शन नहीं कर सकता।" स्वामीजी ने कहा – "आज रात को तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी। दिन चढ़ गया है अब तुम घर जाओ।" स्वामीजी की आज्ञा पाकर उमाचरणजी घर लौट आये। उसी दिन शाम के समय वे आश्रम गये और गुरुजी को प्रणाम कर उनके पास बैठ गये। कुछ क्षण बाद स्वामीजी उन्हें छोटे कमरे में ले गये। उनके बैठने के बाद उमाचरणजी उनके निकट बैठ गये। स्वामीजी ने कहा – मेरी वेदी के

पास जो काली मूर्ति है, उसे देखकर आओ। उन्होंने देखा– पाषाणमयी माँ अचला होकर विराजमान है। उन्होंने गुरुजी को यथास्थिति बतायी, तब उन्होंने हारकर कहा– माँ को तुम यहाँ देखना चाहते हो? उमाचरण ने कहा– "गुरुदेव! क्या मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त है? जो कि मैं उनको यहाँ देखूँ ? माँ का दर्शन करना और जगन्माता का दर्शन करना एक ही बात है। यदि आप कृपा कर दर्शन करावें तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।"

स्वामीजी ने उन्हें स्थिर होकर बैठने को कहा और स्वयं ध्यानावस्थित हो गये। प्रायः घण्टे भर बाद ध्यान भंग होने पर उन्होंने माँ को बुलाया। उमाचरणजी ने साक्षात देखा कि एक कुंवारी लड़की के रूप में वही पाषाणमयी माँ धीरे–धीरे चलकर उनके निकट उपस्थित हो गयी। दीपक के स्पष्ट प्रकाश में चैतन्यमयी माँ की पार्थिव गति और रुप की छटा चमक रही थी जिसे देखकर वे विस्मय और आनन्द से चकित हो गये। उनके मन में आया कि एक बार माँ को बोलकर पुकारें और प्रणाम करें। उनके मन में यह भी विचार आया कि पास में गुरुदेव और सामने जगन्माता ऐसे समय में मृत्यु होने से स्वर्गलाभ होगा। वे जड़वत रह गये और उनके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला । अचेतन पाषाण सचेतन हो गया परन्तु वे सचेतन प्राणी होकर भी अचेतन हो गये। थोड़ा संयत होने पर स्वामीजी ने कहा– "तुम फिर जाकर देखकर आओ कि माँ की मूर्ति जहाँ थी वहाँ है या नहीं ? वे भयाक्रांत होकर कम्पित गति से वहाँ जाकर देख आये कि माँ की मूर्ति वहाँ नहीं है। तब उन्हें और भय हुआ और वे द्रुत गति से स्वामीजी के पास लौट आये। स्वामीजी ने मुस्कुराकर उन्हें बैठने को कहा, वे उनके पास बैठकर माँ को देखने लगे।' उन्होंने देखा कि पूर्व की भांति सबकुछ ठीकठाक है केवल जिह्वा बाहर निकली हुई नहीं है और पांव के नीचे शिवजी नहीं हैं। स्वामीजी की अनुमति लेकर उन्होंने माँ को प्रणाम किया। माँ के चरण साधारण मनुष्यों की भांति कोमल थे। कुछ देर बाद स्वामीजी बोले– अच्छी तरह देख लो ताकि कोई संदेह न रह जाय। वे स्थिर नेत्र से उन्हें देखने लगे। माँ की चरणधूलि अपने माथे और शरीर पर लगाकर अपने जीवन को पवित्र और सार्थक किया। कुछ देर बाद गुरुदेव ने माँ को अपने स्थान पर (आसन की ओर) जाने को कहा तब माता छोटी बालिका की तरह धीमी गति से जाकर पुनः अपने आसन पर पाषाणमूर्ति के रुप में विराजमान हो गयीं।

उमाचरणजी ने गुरुदेव से पूछा–"पाषाण कैसे चल सकता है? और मैंने जो देखा क्या वह संभव है?" गुरुदेव ने बताया–"तुम्हारा जड़ शरीर कैसे चल सकता है? सिद्ध साधक के गुण से मिट्टी, धातु व पाषाण में आत्मा और चेतनता का संचार होता है तब वह मूर्ति चलना, बोलना और सुनना और अनेक कार्य सम्पादित कर सकती है।" उस रात इतना कहकर स्वामीजी ने अपनी बात समाप्त कर दी और सबेरे अपने साथ स्नान करने हेतु जाने की अनुमति प्रदान कर अपनी वेदी पर जाकर लेट गये।

दूसरे दिन माघ महीने की 6 तारीख को दोनों एक साथ स्नान करने गये। पंचगंगा घाट पर स्वामीजी ने उनसे कहा– तुम आज रात को भी आना। आज तुम्हारा हर कार्य समाप्त हो जायेगा। फिर तुम्हें नहीं आना पड़ेगा। स्नान के बाद जल से निकलने के उपरान्त उमाचरण ने उनका शरीर पोंछ दिया, फिर दोनों आश्रम आये। दोपहर को अम्बा देवी उनका भोजन बनाकर ले आयीं। उमाचरण को घर जाने का आदेश देकर वे भोजन करने बैठे। उमाचरण भी घर जाकर भोजनपरान्त सो गये। कुछ देर में उन्हें नींद लग गयी और वे शाम को जगे। विलम्ब हो जाने के कारण वे जल्दी–जल्दी आश्रम आये, देवी–देवताओं और स्वामीजी को प्रणाम कर उनकी वेदी के पास बैठ गये। उन्होंने देखा कि वेदी के पास चार कचौड़ियाँ रखी हैं। स्वामीजी ने उनमें से दो उमाचरण को दे दीं तथा दो स्वयं खा गये। तत्पश्चात उन्हें साथ लेकर छोटे कमरे में गये, उनके बैठने के बाद उमाचरणजी भी उनके पास बैठ गये।

सहज में उन्हें आत्मदर्शन हो सके, ऐसी दो– तीन प्रणालियाँ उन्हें विशेष रुप से समाझकर स्वामीजी कहने लगे– "देखो उमाचरण! अब तुम बंधन में पड़ गये। अब तुम्हें प्रतिदिन नियमपूर्वक काम करना होगा। किसी प्रकार की अवहेलना मत करना। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी अवहेलना के लिए मुझे कुछ करना पड़े। दिन में यदि सुविधा न मिले तो शाम को करना यदि शाम को समय न मिले तो शेष रात्रि में साधना करना। समय के अभाव का रोना मत रोना। यदि तुम अपने कार्य में लापरवाही बरतोगे तो मुझे पता चल जायेगा।"

स्वामीजी ने आगे कहा– मैंने पहले ही कहा है कि भगवान ने मनुष्य में अपनी सारी शक्ति संचारित कर उसे जीव श्रेष्ठ बनाया है। इसलिए मनुष्य भी भगवान की

तरह सभी कार्य कर सकता है। यह मैं तुमको प्रत्यक्षतः दिखाऊँगा जिसे देखकर तुम समझ जाओगे कि मनुष्य ही ईश्वर है। वह आत्मा के रूप में हृदय में और परमात्मा के रूप में मस्तक में विराजमान है। यह नाम का जो मनुष्य शरीर है वह कुछ भी नहीं है। वह सब (ईश्वर) है और सब कुछ उनका ही है। मैं कुछ नहीं और मेरा कुछ नहीं है यह तथ्य सदा सदैव याद रखना। सम, सत्संग, विचार और आनन्द सर्वदा इन चारों विषयों का मित्र बनना। धर्म के विषय में कभी किसी से तर्क मत करना। जहाँ धर्म संबंधित विवाद हो ऐसे स्थान से हट जाना। तुमने सुना होगा कि माँ काली ने आकर भक्त रामप्रसाद के साथ उनका बगीचे की चारदीवारी बांध दी थी। क्या तुमने सुना है कि उन्होंने कभी किसी से धर्म के नाम पर तर्क किया था, कभी अपने धर्म में किसी को लाने की चेष्टा की थी।

इतना कहकर स्वामीजी उन्हें आँखें बंद कर बैठने को कहा और स्वयं ध्यानामग्न हो गये। करीब एक घण्टे बाद ध्यान भंग होने पर उमाचरण से बोले– आँखें खोलकर देखो और बताओ कि हम कहाँ बैठे हैं। उमाचरणजी ने देखा कि वे जहाँ बैठे थे वह कमरा अब नहीं है। गंगा के बीच एक उत्तम पलंग बह रहा है। उस पर सफेद रंग का गद्दा, गद्दे पर तोशक, उस पर सफेद चादर बिछी हुई है और एक सफेद तकिया है। एक अति सुन्दर मसहरी टंगी हुई है और स्वामीजी उस पलंग पर शयन कर रहे हैं। उपका वर्ण भी शुभ्र है और वे उनके पास बैठे हैं। जो अवस्था उन्होंने देखी उसी का वर्णन किया है।

स्वामीजी ने कहा– अगर गंगा में हो तो देखो पानी है कि नहीं ? उन्होंने सिर झुकाकर अपने हाथ से पानी को छुआ। उस समय उनके मन में आया कि कहीं पलंग सहित डूब न जायें इसलिए वे स्वामीजी को पकड़े रहे। कुछ समय बाद उन्होंने उमाचरण को आखें मूँदने को कहा फिर स्वामीजी ने पूछा– 'बताओ, हम लोग कहाँ है ?' उन्होंने आँखें खोलकर देखा कि वे आश्रम में स्वामीजी के पास बैठे हुए हैं। वे आश्चर्यचकित होकर सोचने लगे कि यह कैसा भौतिक काण्ड है, कैसा करिश्मा है जो देवताओं लिए भी असाध्य प्रतीत होता है, वह कार्य मनुष्य द्वारा कैसे संभव है? स्वामीजी ने कहा– यह कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं है। मनुष्य यदि मनुष्यत्व को प्राप्त कर लेता है तो वह इच्छानुसार कार्य कर सकता है। तुम्हे ये तमाम घटनाएँ दिखाने का कारण यही है कि तुम्हारा विश्वास दृढ़ हो, तुम्हारी

आस्था मजबूत हो और तुम स्वयं ऐसा कर सको। घर लौटकर इन सभी बातों का चिन्तन–मनन करने पर पूरी रात अनिद्रा में ही कट गयी।

अगले दिन माघ की सात तारीख को उन दोनों ने आनन्दपूर्वक गंगा–स्नान किया और आश्रम में आकर यथास्थान बैठ गये। मन ही मन यह विचार करने लगे कि जब गुरुदेव में इतनी शक्ति है तो जो इनके भी गुरुदेव हैं उनमें न जानें कितनी शक्ति रही होगी। इसलिए उनका भी जीवन चरित्र जानना आवश्यक है। ऐसा सोचकर उन्होंने स्वामीजी से पूछा, परन्तु स्वामीजी ने कोई ध्यान नहीं दिया। बार–बार जिज्ञासा करने पर बोले– महात्मा कालीचरण स्वामी (मेरे दूसरे शिष्य) से जान लेना। स्वामीजी के आश्रम में ही बाबा कालीचरण स्वामी से उमाचरणजी का परिचय एवं घनिष्ठता हुई थी। उन्होंने बाबा की बाल्यावस्था से लेकर काशी धाम में अवस्थित होने तक का जीवन चरित्र उन्हीं से सग्रंहित किया था। उस समय वे हरिद्वार में थे।

गुरुदेव कम्बल बिछाकर सोते और कम्बल ही ओढ़ते थे। यह देखकर उमाचरणजी को बड़ा कष्ट हुआ। अतः उन्होंने बाजार से दो शॉल और एक चादर खरीदकर उन्हें ओढ़ा दिया। वह शॉल देखकर गुरुदेव क्रोधित हो गये और उसे उठाकर जमीन पर फेंक दिया। स्वामीजी का उग्र क्रोध देखकर उमाचरणजी डर गये और दोनों हाथों से उनके चरण पकड़कर क्षमा–प्रार्थना करने लगे। कुछ देर बाद स्वामीजी शांत हुए और उमाचरणजी ने उन्हें ओढ़ने के लिए कोई वस्त्र देने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने कहा–"तुम दुखी मत होओ। मुझे कम्बल ला देना और अभी घर जाओ।" उमाचरणजी दो अच्छे कम्बल और एक आसन लेकर आश्रम में आये। उन्हें देखकर स्वामीजी ने कुछ नहीं कहा जिससे उन्हें थोड़ा बल मिला। एक कम्बल बिछाने का आदेश देकर स्वामीजी से वेदी उतर आये। कम्बल बिछ जाने के बाद उन्होंने दूसरा कम्बल ओढ़ लिया और कहा– यह बहुत अच्छा हुआ। शॉल का इस्तेमाल तुम करना। यह सुनकर उमाचरणजी परम प्रसन्न हुए। चादर उन्होंने मंगलदासजी को दे दी और शाल अपने पास रख लिया। स्वामीजी का क्रोध शांत देखकर उन्हें शांति मिली। उनका गुस्सा दूर हुआ। स्वामी जी को अचानक इस प्रकार नाराज होते देखकर वे बहुत डर गये थे। शाम को वे वापस अपने निवास पर लौट गये।

इस तरह दोनों वक्त आते–आते पूरा माघ–फाल्गुन और चैत महीने की 24 तारीख बीत गयी। 25 तारीख को वे गुरुदेव के पास बैठे थे। लोक समागम बन्द होने पर स्वामीजी ने उनसे कहा– तुम जिन घटनाओं को देख रहे हो और जो–जो बातें तुमने सुनी हैं वे किसी अविश्वासी को मत बताना। संसार में धर्माश्रित होकर रहना, हमेशा सावधान होकर काम करना। असली कार्य (उपासना) को भी मत छोड़ना। तुमको सारे विषय लिखवा और समझा दिये हैं। अब तुम्हे यहाँ ठहरने की आवश्यकता नहीं है, कुछ दिन बाद तुम अपनी नौकरी पर चले जाना। उमाचरणजी ने इतना सुनने के बाद कहा कि मेरी इच्छा संसार में दुबारा लौटने की नहीं है तथा मैं आपके पास ही रहना चाहता हूँ। इस पर स्वामीजी ने कहा– तुमने विवाह किया है, उसका पालन–पोषण क्या हम करेंगे? अब तुम यहाँ नहीं रह सकते। उमाचरण ने बहुत निवेदन किया– मेरी इच्छा हरिद्वार तक जाने की थी, अगर अभी नहीं गया तो फिर आजीवन वहाँ नहीं पहुँचूँगा। यह अनुरोध सुन स्वामीजी ने कहा– आनेवाली संक्रांति के दिन तुम अयोध्या होकर प्रयाग जाओ। अयोध्या में सरयू के किनारे रामदास स्वामी रहते हैं। उनका दर्शन करके, प्रयाग में सूरदास बाबा का दर्शन करते हुए फिर हरिद्वार की यात्रा करना।

चैत्र संक्रांति के पहले दिन उमाचरणजी ने अयोध्या जाने की आज्ञा लेकर एक प्रार्थना की कि गुरुदेव! मुझे एक संदेह है कृपया आप उसे भी दूर करें। अन्य सारे विषयों को तो आपने भलीभंति समझा दिया है। केवल एक सवाल मेरे मन में बार–बार उठ रहा है कि मैं पाप से मुक्त हुआ हूँ या नहीं? यह सच मुझे प्रमाणपूर्वक समझा दीजिये। स्वामीजी ने कहा– तुम्हारे विश्वास के लिए कहता हूँ कि तुम्हारे हाथ के ऊपर से चमड़ी की एक पतली पर्त (खाल) उतर जायेगी और सचमुच हरिद्वार से मुंगेर लौट आने के बाद उमाचरणजी के दोनों हाथों से चमड़ी की एक महीन पर्त उतर गयी, उसे कइयों ने देखा भी। उमाचरणजी ने गुरुदेव को प्रणाम कर उनकी चरण–धूल मस्तक पर लगाकर विदा माँगी। गुरुदेव ने कहा– अगर तुम्हें कभी किसी बात पर संदेह हो तो मेरे पास आना। उमाचरण ने निवेदन किया कि लौटते समय आप अपने श्रीचरणों का दर्शन करने की अनुमति प्रदान करें। स्वामीजी ने कहा– लौटते समय दो–एक दिन के लिए काशी में रहकर जाना। उमाचरण गुरुदेव के चरणों में शीश झुकाकर चल दिये।

चैत्र संक्रांति 31 तारीख के स्वामीजी की आज्ञानुसार प्रातःकाल उन्होंने अयोध्या के लिए प्रस्थान किया। वहाँ तीन दिन रहकर अपना काम समाप्त कर महात्मा रामदास स्वामी से मिले। वे ध्यानावस्था में बैठे थे। उनसे कुछ सुनने – जानने की लालसा लिये वे उनके पास बैठ गये। करीब दो घण्टे उपरान्त उनका ध्यान भंग हुआ। उमाचरणजी को अपने पास बैठा देकर रामदासजी ने कहा– हमारे पास क्यों बैठे हो? तुम्हारा काम तो हो गया– इतना कहकर उन्होंने फिर अपनी आँखें बन्द कर ली।

अगले दिन वे प्रयाग गये। वहाँ सात दिन रहकर अपने सारे काम खत्म करके गुरुदेव के कथनानुसार दो और लोगों को साथ लेकर सूरदास बाबा के दर्शन को गये। गंगा तट तक जाने के लिए रास्ते में एक पानी के सोते (स्रोत) को पार करना पड़ता है। उस पर आवागमन के लिए एक छोटा–सा पुल बना है। उस पुल के ऊपर एक तरफ महात्मा सूरदास बाबा ध्यानामग्न होकर बैठे थे। करीब तीन घण्टे उनके पास बैठे रहने पर भी उनका भंग नहीं हुआ। लोगों ने कहा कि सिपाही विद्रोह के पूर्व से क्या जाड़ा, क्या गर्मी बारहों महीने रात–दिन उसी अवस्था में बैठे रहते हैं। सिपाही विद्रोह के दिन उसी जगह लड़ाई होनी थी, इसलिये सिपाहियों ने उन्हें अन्यत्र चले जाने को कहा गया। काफी शोरगुल के बाद भी वे उनका ध्यान भंग न करा सके तब तक एक टिकिया जलाकर उनकी जांघ पर रख दी गयी। लगभग आधे घण्टे बाद उनका ध्यान भंग हुआ। उन्होंने सिपाहियों से कहा– मेरे ऊपर इतना अत्याचार क्यों कर रहे हो? एक सिपाही बोला– यहाँ पर लड़ाई होगी, आप दूसरे स्थान पर चले जाइये वरना आप गोली से मारे जाएँगे। इस पर उन्होंने कहा– आज अगर गोली से हमारी मृत्यु का दिन आया तो तुम लोग उसे किसी तरह से रोक नहीं सकते। तुम लड़ाई करो मेरी चिन्ता मत करो। मैं इस स्थान को छोड़कर नहीं जा सकता। इतना कहकर वे फिर समाधिस्थ हो गये उसी स्थान पर युद्ध हुआ पर उनका कुछ नहीं बिगड़ा। उनकी दाहिनी जांघ पर अभी भी जलने का दाग हैं और अभी भी वे समाधिस्थ हैं। वे बहुत दुबले है हड्डियों के ढांचे पर केवल चमड़ी रह गई है।

अगले दिन उमाचरण आगरा गये। वहाँ ताजमहल आदि देखकर मथुरा गये, तीन दिन मथुरा रहकर वृन्दावन गये।

वहाँ सात दिन रहकर दिल्ली होकर हरिद्वार गये। वहाँ जाकर अपने सारे काम कर बाबा के दूसरे शिष्य कालीचरण से मिले। उनकी कृपा से कनखल मे चार बहुत पुराने संतों से मिले तथा उनके दर्शन किये।

दूसरे दिन जब वे दोनों गंगा तट पर स्नान करने गये तो वहाँ बाबा के तृतीय तथा चतुर्थ शिष्य महात्मा ब्रह्मानन्द स्वामी तथा महात्मा भोलानाथस्वामी से भी परिचय हुआ। हरिद्वार में उन चार गुरु भाइयों से मिलकर आनन्दपूर्वक एक महीना बिताया। इन संतो से उमाचरणजी का स्नेह प्रगाढ़ हुआ और उन लोगों ने अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की कि वे भविष्य में भी सदैव उनका ख्याल रखेंगे और समय – समय पर उनसे साक्षत्कार करते रहेंगे।

तदुपरान्त वे काशी धाम लौट गये और सबसे पहले आश्रम में जाकर गुरुजी को प्रणाम करके उनके निकट बैठ गये। गुरुजी ने कहा– 'अब तुम्हारा सारा कार्य सम्पूर्ण हो गया, अब तुम मुगेंर चले जाओ। तीन महीने की छुट्टी लेकर आये और तुम्हें आठ माह बीत गये। अब तुम्हारा एक दिन भी यहाँ ठहरना उचित नहीं है। कल अवश्य ही चले जाओ। तुम्हारी नौकरी सुरक्षित है भला तुम्हें नौकरी से कौन हटा सकता है।' स्वामीजी की आज्ञानुसार उनको प्रणाम कर उन्होंने विदा ले ली। फिर मंगलदासजी के पास गये और उनके साथ काफी लम्बी बातचीत की तथ उन्हें प्रणाम कर उनसे विदा ली तथा अगले दिन मुगेंर के लिए रवाना हो गये।

जिस समय स्वामीजी के साथ उमाचरणजी के गुरु शिष्य का रिश्ता स्थापित हुआ उसी समय माननीया (स्वर्गवासिनी) मादाम ब्लाड्भास्की और कर्नल अलाक्ट बम्बई से आकर थियोसॉफिकल सोसाईटी नामक एक संस्था स्थापित कर योग – शास्त्र की अद्भुत महिमा का प्रचार कर रहे थे। समय दर समय वे अलौकिक कार्य साधना करके अपनी सिद्धि एवं शक्ति का परिचय देते थे। स्वामीजी से यह पूछने पर कि उस महिला को योग– सिद्धि कैसे प्राप्त हुई? स्वामीजी ने उमाचरणजी से कहा– यह सब योग–सिद्धि का फल नहीं है, जो कुछ सुन रहे हो, वह इन्द्रजाल मात्र है और यह सब शीघ्र ही उद्घाटित हो जायेगा। वस्तुतः कुछ दिनों में ही मैडम कूलूम नाम की एक ईसाई महिला ने मादाम ब्लाड्भास्की की साथिन बनकर मद्रास में स्थित उसके गुप्तगृह की गुत धनराशि के बारे में सब कुछ बता दिया। उसका मिथ्या प्रचार सामने आ गया और सम्पूर्ण विश्व में इस घटना को लेकर शोर–शराबा मच गया और

समाचार पत्रों में भी उसकी समालोचना होने लगी। उसके बाद मादाम ब्लाड्भास्की की कुहुक विद्या का कोई अता–पता नहीं चला। स्वामीजी का तत्वज्ञान और भविष्यवाणी की सत्यता देखकर सभी चमत्कृत हो गये।

मुंगेर लौटकर वे सबसे मिले एवं श्रीयुत यदुनाथ बागचीजी तथा परिव्राजक श्रीकृष्ण प्रसन्न सेन (मुंगेर आर्य धर्म प्रचारिणी सभा के संस्थापक) से श्री तैलंग स्वामी की अलौकिक बातों को बताया, साथ ही साथ अपने बारे में भी कुछ बातें बतायी तथा स्वामी जी का उपदेश लिखित दोनों बहियाँ भी दिखाईं। इन सब बातों को सुनकर वे दोनों आश्चर्यचकित हो गये। वे दोनों काशी जाकर उनसे स्वामीजी का दर्शन करने की जिद कराने लगे। स्वामीजी के इनकार के बावजूद वे उन दोनों व्यक्तियों से बिना सब कुछ बताये नहीं रह सके क्योंकि उमाचरणजी को उन दोनों से अधिकाधिक स्नेह था। धीरे–धीरे यह बात फैलने लगी और इससे उमाचरणजी अत्यन्त भयभीत हो गये। एक साल बाद वे और कृष्ण प्रसन्न सेन दोनों काशी गये। उमाचरणजी जानते थे कि संध्या के पहले बिना एकान्त मिले कोई बातचीत नहीं हो सकती है इसलिए वे संध्या के बाद आश्रम गये। देवताओं और स्वामीजी को प्रणाम करने के बाद स्वामीजी के पास बैठ गये। कुछ देर बाद स्वामीजी ने उन लोगों की ओर देखा और कहा कि देखो श्रीकृष्ण, तुम्हारे मन में अत्यन्त अहंकार है। तुमने मन में सोच लिया है कि जैसे श्रीकृष्ण ने अवतार लिया था वैसे ही तुमने भी श्रीकृष्ण अवतार के रुप में जन्म लिया है। तुम चाहते हो सब लोग तुम्हारी पूजा करें। अपनी चरण–धूलि ब्राह्मण तक को देने के लिए अपना पैर आगे बढ़ाने में तुम्हें संकोच या लज्जा नहीं होती। तुम्हारा भविष्य फल बड़ा ही शोचनीय है। तुम एक सामान्य मनुष्य मात्र हो परन्तु तुम्हारे अन्दर थोड़ी सी वक्तृता–शक्ति है। देखो जब पूड़ी बनाकर (बेलकर) घी में छोड़ी जाती है एवं जब तक वह कच्ची रहती है तब तक वह कल–कल का शब्द करती है किन्तु जब पक जाती है तब स्थिर होकर घी के ऊपर तैरने लगती है। उसी प्रकार तुममें कलकलाहट बहुत है। पहले इस कलकलाहट को बन्द करो तभी धर्म के निकट जा सकते हो, अभी तुम धर्म से बहुत दूर हो। इन सब बातों को सुनकर श्रीकृष्ण प्रसन्न सेन ने कोई उत्तर नहीं दिया और न ही कोई जिज्ञासा व्यक्त की। कुछ देर बाद चले जाने का संकेत मिलने पर वे लोग आश्रम से चले गये। श्रीकृष्ण प्रसन्नजी मिश्रपोखरा में एक आर्यधर्म–प्रचारिणी सभा की

स्थापना करने के लिए वहीं रह गये। स्वामीजी की इच्छा न रहने के कारण उमाचरणजी तीन दिनों तक काशी में रहकर मुंगेर वापस लौट आये। स्वामीजी के बारे में काफी प्रचार करने के कारण उमाचरणजी का उन्होंने काफी तिरस्कार किया। उमाचरणजी ने अपने अपराध के लिए क्षमा माँगी और कहा– गुरुजी आपकी अलौकिक शक्ति और असाधरण गुण अपने आप प्रकाशित हो रहे हैं। मैने तो मात्र कुछ अंश ही अपने एक घनिष्ठ मित्र को बताया है।

श्रीयुत सेन महाशय ने कुछ दिन मिश्रपोखरा में रहकर हौज कटोरा में एक मकान खरीदा और वहाँ अन्नपूर्णा की प्रतिष्ठा कर उस मकान का नाम योगाश्रम रखा तथा वहाँ धर्म–प्रचार करने लगे। उस समय से उनका नाम कृष्णानन्द स्वामी हुआ।

एक साल बाद आश्विन महीने में दूर्गापूजा की छुट्टी के अवसर पर श्रीयुतयदुनाथ बागची महाशय उमाचरणजी के साथ काशी आये। संध्या बाद दोनों आश्रम गये। देवताओं और स्वामीजी को प्रणाम कर दोनों उनके निकट बैठे गये। स्वामीजी उन्हें देखकर बोले– देखो यदुनाथ तुम अनके शास्त्र ग्रंथों को पढ़कर खराब हो गये। इसके बावजूद अभी तक तुम्हारा मन स्थिर नहीं हुआ है। पहले मन को स्थिर करो। तभी मुक्ति का रास्ता मिलेगा। तुम मुझसे दीक्षा की कामना करते हो पर मैं और किसी को दीक्षा नहीं दूँगा। दीक्षा देना महापाप है क्योंकि शिष्य को जो उपदेश दिया जाय और शिष्य उसके अनुसार आचरण न करें और वह काम गुरु को करना पड़े क्योंकि न करने से महापाप होता है क्योंकि गुरु को सदैव शिष्य के उद्धार की चिन्ता करनी पड़ती है। अतएव मैं अब और पाप से लिप्त नहीं होना चाहता, पर मेरे ही समान मेरे दूसरे शिष्य महात्मा कालीचरण स्वामी तुमको दीक्षित करेंगे। दीक्षा लेने से पहले शरीर शुद्ध होना चाहिए इसलिए उसका उपाय बताता हूँ। स्वामीजी ने बताया कि बैशाख महीने की पूर्णिमा तिथि को काशी में आकर सद्ब्राह्मण से यह कार्य सम्पन्न करा लेना। उन्होंने आगे कहा– तुम अपने दफ्तर के बड़े बाबू हो, तुमको बहुत चिन्ता करनी पड़ती है, परन्तु बीस/बाईस साल से तुम निरामिष भोजन करते हो। कुछ दिन बाद तुम्हें भयानक गात्र दाह पीड़ा होगी इसलिए अगर शरीर को स्वस्थ रखना चाहते हो तो अब घर जाकर मछली का आहार करना और अगर नौकरी छोड़ दो तो फिर इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी ने आगे कहा– देखो, यदुनाथ! कट्टर हिन्दू होना अच्छी बात नहीं है।

जमालपुर में एक दिन तुम अपने अधीनस्थ कर्मचारी एक ब्राह्मण संतान पर लघुशंका के दौरान कान पर जनेऊ न रखने के कारण इतने क्रोधित हुए थे कि उसकी पदोन्नति का रास्ता बंद करने के बारे में सोचने लगे थे। इससे मालूम होता है कि कान पर जनेऊ रखने का अर्थ व कारण तुम्हें मालूम नहीं है। जनेऊ शुद्ध है और लघु शंका अशुद्ध इसलिए जनेऊ पर उसका छींटा न पड़े इसी लिए उसे कान पर चढ़ाया जाता है। बागची महाशय उस घटना को स्वामीजी के मुखारबिन्दु से सुनकर अवाक् रह गये। उस समय बागची महाशय के ज्येष्ठ पुत्र श्रीमान सरोजनाथ का यज्ञोपवीत का समय हो रहा था। इसलिए सरोजनाथ एक सद्ब्राह्मण बने, बागचीजी ने इस आशा से स्वामीजी से एक तिथि निर्धारित करने का अनुरोध करने लगे तथा अपने घर आने के लिए आमंत्रित करने लगे। इसके बाद वे दोनों उन्हें प्रणाम कर विदा हो गये।

दूसरे दिन प्रातःकाल आश्रम जाते समय मणिकर्णिका घाट पर महात्मा भोलानाथ स्वामी से साक्षात्कार हुआ। वे सभी साथ–साथ आश्रम गये और स्वामीजी को प्रणाम कर उनके पास बैठ गये। आश्रम में जब लोगों का आना–जाना कम हो गया तो स्वामीजी ने उमाचरणजी से कहा– तुम भविष्य में कभी किसी को अपने साथ मत लाना। यदि आना हो तो अकेले आना– इतना कहकर उमाचरणजी को भोलानाथ स्वामी के साथ उनके आश्रम जाने का निर्देश दिया। वे लोग चले गये। भोलानाथ स्वामी ने उमाचरणजी को समझाया कि बाबा के पास भीड़ एकत्रित करना उचित नहीं है। स्वामी भोलानाथ उमाचरणजी को काफी स्नेह करते थे क्योंकि मुगेंर में वे तीन–चार बार उमाचरणजी के पास आये थे। सात दिनों तक काशी में रहकर बागची महाशय तथा उमाचरणजी मुंगेर लौट आये।

मुंगेर पहुंचकर बागचीजी ने पुत्र की शरीर शुद्धि के लिए सद्ब्राह्मण श्रीयुत शशधर तर्क चूड़ामणिजी से अनुरोध किया परन्तु वे इसके लिए राजी नहीं हुए। तब बागची जी ने विशेष चितिंत होकर नवद्वीप और भाटपाड़ा में सद्ब्राह्मण ढूंढ़ने का प्रयास किया परन्तु काशी में कर्मकाण्ड कराकर दान ग्रहण करने को को कोई राजी नहीं हुआ। क्रमशः दिन निकट आ रहा था और समस्या का समाधान नहीं मिल रहा था इसलिए चिंतित होकर एक दिन वे रोने लगे। जब चार दिन शेष रह गये तब काशी से भोलानाथ स्वामी अचानक आ गये और कहा– यदुनाथ ब्राह्मण

के लिए अत्यधिक परेशान है। इसलिए महात्मा तैलंग स्वामी ने काशी में ब्राह्मण नियुक्त कर मुझे उनको ले जाने के लिए भेजा है। अगले दिन बागचीजी भोलानाथ स्वामी के साथ काशी आ गये और वहाँ स्वामी तैलंगजी द्वारा नियुक्त एक अग्निहोत्री ब्राह्मण द्वारा कार्य सम्पन्न कराकर सात दिनों के अदंर मुंगेर लौट आये। उस समय से बागचीजी और उमाचरणजी के बीच स्वामीजी की अलौकिक घटनाओं और उनकी अहैतुकी कृपा के बारे में प्रतिदिन चर्चा होने लगी। इसके पाँच–छः वर्ष बाद महात्मा तैलंग स्वामी के दूसरे शिष्य महात्मा काली चरण स्वामी बागचीजी के घर हालीशहर में आकर उन्हें दीक्षा प्रदान कर गये। दीक्षित होने के एक वर्ष बाद उनको भयंकर गात्र दाह पीड़ा हुई। उस समय उमाचरणजी दार्जिलिंग में थे। बागची महाशय तीन माह का अवकाश लेकर उमाचरणजी के पास आये और पूर्ण स्वस्थ हो गये।

कुछ दिन पश्चात् उमाचरणजी जिस दवाखाने में नौकरी करते थे, वहाँ के मैनेजर महेन्द्रलाल घोष (वे स्कूल में शिक्षक थे इसलिए लोग उन्हें मास्टरजी कहकर पुकारते थे) ने कहा– उमाचरण कैश में 6 सौ रुपये कम हो रहे हैं। याद करो तो यह रुपया किसी को दिया गया है या नहीं? उमाचरणजी ने काफी सोच–विचार कर देखा कि रुपये किसी को नहीं दिये गये हैं। दवाखाने में लोहे के दो सन्दूक थे और उनकी चार चाबियाँ थी, जिसमें दो उमाचरणजी के पास और दो मास्टरजी के पास रहती थीं और जिस कमरे में सन्दूक थे, उसी कमरे में उमाचरणजी सोते थे। उन दोनों ने मिलकर अच्छी तरह से हिसाब मिलाया लेकिन कहीं कोई त्रुटि नहीं मिली। फलस्वरुप वे काफी चिंतित हो गये। दोनों व्यक्ति एक दूसरे को चोर नजर से देखने लगे। सोचने लगे कि या तो मैं चोर हूँ या वह। इसके अलावा कोई तीसरा हो ही नहीं सकता। संभव है रुपये मास्टरजी ने लिए हों,पर यह असंभव था। उमाचरणजी संभाव्यता की परिधि में घिर गये। धीरे–धीरे यह बात चारों ओर फैलने लगी और इसी प्रकार तीन महीने बीत गये, परन्तु रुपये का अता–पता नहीं चला। नाना प्रकार के प्रयास के बाद उमाचरणजी ने निश्चय किया कि सब कुछ भाग्य भरोसे छोड़कर एक बार बाबा के पास जायें। इसका निर्णय वहीं पर होगा।

अतः एक दिन बिना किसी को कुछ बताये उमाचरणजी काशी आ गये और आश्रम जाकर प्रणाम कर बाबा के निकट बैठे गये। उनकी तरफ देखकर स्वामीजी

ने मुस्कराते हुए कहा– क्यों बाबा, रुपये की गड़बड़ कर आये हो न? उमाचरणजी ने कहा– जी हाँ! रुपये की ही गड़बड़ हुई है जिसके समाधान के लिए मैं आपके सामने हाजिर हूँ। स्वामीजी ने कहा– मेरे लिये जैसे तुम हो, वैसे ही तुम्हारे मास्टरजी हैं। उस महीने की अमुख तारीख को 500 रु. कलकत्ते भेजे गये थे। उसमें से तीन सौ रुपये नरसिंह प्रसाद दत्त को और दो सौ रुपये स्मिथ स्टैनिस्ट्रीट कम्पनी को दिये गये हैं, जिसे तुमने स्वयं मनी आर्डर किया है। इसकी रसीद दवाखाने के उस स्थान पर उस फाइल में है। रुपये मिलने की प्राप्ति भी उन्होंने भेजी है, फिर भी तुम लोगों को ध्यान नहीं आया। बही में उसका कोई हिसाब अंकित नही किया गया है। बाकी एक सौ रुपये मास्टरजी निकालेंगे। कहाँ और क्या हुआ है, हम नहीं बतायेंगे।

फिर स्वामीजी ने कहा– तुमने मुंगेर में मेरे विषय में इतना प्रचार कर दिया है कि वहाँ से लोग समय–समय पर आकर मुझे दीक्षा देने के लिए तंग करने लगे हैं। मेरे लिये यहाँ रहना मुश्किल हो गया है। अतः अब तुम मुंगेर नहीं रह सकते। तुम मुंगेर जाकर चीफ इंजीनियर शिलांग (असम) के पते पर एक आवेदन पत्र भेज देना। उमाचरणजी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की और कहा–मैंने हर बात नहीं बतायी है, केवल दो चार व्यक्तियों से ही कुछ कहा है। अग्नि राख में ढकी नहीं रह सकती। आपकी महिमा तथा अद्‌भुत शक्ति व अलौकिक घटनाएँ अपने आप प्रचारित एवं प्रसारित हो रही हैं। इन सब बातों के बाद उन्होंने एक भयानक दुखद समाचार सुनाया जिसे सुनकर उमाचरणजी अत्यधिक मर्माहत हो गये। स्वामीजी ने कहा–पाँच–छः वर्ष के अंदर मैं अपने शरीर का त्याग करूँगा। मैं तुम्हें पहले खबर करूँगा। तुम चाहे जहाँ भी रहना, एक बार चले जाना। अब यहाँ मत रहो। कल मुंगेर चले जाना।

दूसरे दिन उमाचरण मुंगेर चले गये। दवाखाने में जाकर देखा कि मास्टरजी और बागची महाशय दोनों मौजूद हैं।

उन्हें आया देखकर मास्टरजी ने पूछा– क्यों उमाचरण! अचानक तीन चार दिनों के लिए कहाँ चले गये थे ? तब बागची महाशय ने पूछा– क्या तुम काशीधाम गये थे ? उनके स्वर में आग्रह था। उमाचरणजी ने स्पष्ट किया– नहीं तो और कहाँ जायेंगे ? तब दोनों कौतुहलवश पूछने लगे– तैलंग स्वामी ने क्या कहा ? सर्वप्रथम उमाचरणजी ने फाइल से उन दोनों रसीदों को निकाला और उन्हें दिखाते हुए सारा

वृतान्त कह सुनाया। सारा हाल सुनकर वे दानों अवाक् और निःस्तब्ध रह गये। बाकी सौ रुपये का संशय मास्टरजी के मन में उमड़ने–घुमड़ने लगा।

कुछ दिन पूर्व दोनों सन्दूकों में रंग लगाया गया था। उनके काशी से लौटने के आठ–दस दिन बाद मास्टरजी एक दिन सन्दूक में पैसा रखने गये तो चिल्लाकर उमाचरणजी का नाम पुकारने लगे। बाहर बागचीजी और उमाचरण दोनों बैठे थे, दोनों एक साथ उठकर अन्दर उनके पास गये। तब मास्टरजी ने हँसकर कहा– वह सौ रुपये भी मिल गये। यह देखो यह सौ का नोट किसी तरह सन्दूक से चिपका रह गया, फिर रंग से पुता हुआ, नोट उनके हाथ में थमा दिया। यह देखकर सब लोग चकित रह गये।

उमाचरणजी मुंगेर छोड़कर जाना नहीं चाहते थे इसलिए उन्होंने असम में नौकरी के लिए दरख्वास्त नहीं दी। एक वर्ष उपरान्त लापरवाही से एक दरख्वास्त असम के चीफ इंजीनियर को प्रेषित कर दी। दस–बारह दिनों के बाद 50 रु. मासिक वेतन और 15 रु. भत्ते पर उनकी नियुक्ति का पत्र आ गया। उसमें शिव सागर जाने का आदेश था। मुंगेर छोड़कर बहुत दूर जाना पड़ेगा, यह सोचकर वे अत्यधिक उद्विग्न हो गये। कुछ दिन सोचने के बाद उन्होंने वहाँ जाना ही उचित समझा। मास्टरजी को पैसे आदि तथा दवाखाने के बारे में ब्यौरेवार बताकर जाने की अनुमति माँगी। इस पर वे और दूसरे लोग कहने लगे–तुमको कुछ भी समझाना नहीं है, तुम नहीं जा सकते। इस महीने से हम तुम्हें 50 रु. महीने देंगे। पर तुम्हें छोड़ेगे नहीं। उमाचरणजी इस बात पर सहमत नहीं हुए और जाने का आदेश माँगने लगे। उनलोगों ने उनकी एक न सुनी और इसी प्रकार करते–करते एक महीना बीत गया। उधर असम से दो तार आ चुके थे। मास्टरजी और अन्य कई लोग मिलकर उन्हें समझाने लगे एवं नहीं जाना है, ऐसा कहने लगे। इसी बीच तीसरा तार भी आ गया कि अगर नौकरी नहीं करनी हो तो उत्तर दो। अब क्या करना चाहिए यह निर्णय न कर पाने पर वे बिना किसी को कुछ बताये काशीधाम चले गये और बाबा को सारा वृतांत सुना दिया। बाबा ने स्पष्ट कहा कि तुमको वहाँ जाना पड़ेगा, अब तुम मुंगेर नहीं रह सकते। उन्होंने सोचा कि अगर मुंगेर होकर जायेंगे तो जाना मुश्किल होगा इसलिए मुंगेर न जाकर वे घर चले गये और वहाँ आठ–दस रोज रहकर शिवसागर चले गये।

घर में आठ–दस दिन रुकने का कारण यह था कि असम जाकर वे शीघ्र घर लौट नहीं पायेंगे। स्वामीजी के कथानुसार उनके पूर्व जन्म के निवास स्थान के दरवाजे पर लिखे हुए तीन श्लोकों के अवलोकन की चेष्टा भी की, उस मकान मालिक से परिचय भी किया परन्तु साहस न होने की वजह से घर लौट गये और उपाय ढूंढ़ने लगे। शिवसागर में एक वर्ष रहने के बाद उनका तबादला गोलाघाट में हो गया। वहाँ तीन–चार महीने रहने के बाद रूड़की कालेज से एक युवक ओवरसीयर के पद पर नियुक्त होकर वहाँ आया वे दोनों एक साथ रहने लगे जिससे दोनों में सम्पर्क सूत्र और पुष्ट हो गया। घटनाचक्र देखिये कि इस युवक की शादी तीन महीने के अंदर उनके पूर्व जन्म के मकान में रहने वाले एक व्यक्ति की कन्या से हो गई। उन दोनों ने मशविरा किया कि वे दोनों मिलकर एक दिन उसकी ससुराल जायेंगे परन्तु विवाह के एक साल के अंदर 200 रुपये के वेतन पर उस युवक की बदली उत्तर–पश्चिमी प्रदेश में हो गयी। उमाचरणजी की आशा की किरण विलुप्त हो गयी तब एक दिन उस युवक का संदर्भ देकर उमाचरणजी ने उस युवक के श्वसुर को पत्र लिखना आरंभ किया जिससे वे यह समझ सकें कि वे उनके जमाता के घनिष्ठ हैं। चार–पाँच पत्र देने के बाद एक पत्र में उन्होंने लिखा आपके मकान की दूसरी मंजिल पर दक्षिणी छोर के कमरे के दरवाजे के ऊपर तीन सर्वोत्तम श्लोक संस्कृति में लिखे हुए हैं, ऐसा मैंने सुना है। अतः यदि आपको आपत्ति न हो और यदि उन्हें आप कृपापूर्वक लिख भेजें तो मैं आपका आभारी रहूँगा इस पत्र के मिलने पर वह परम व्यक्ति प्रसन्न हुआ और उमाचरणजी का दर्शन करने के अनुरोध के साथ तीनों श्लोकों को लिखकर भेज दिया। वे आश्चर्यचकित होकर सोचने लगे कि उस युवक को गोलाघाट भेजना बाबा की ही लीला है। वे तीनों श्लोक निम्नवत हैं –

1. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्याति संयाति नवीन देही।।

2. रुचिनां वैचित्र्यादृजु कुटिल नाना पथजुषाम्।
   नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।

3. निर्ममस्याप्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
साधकानां हितार्थाय ब्रह्मण्यो रूपकल्पना ।।

अर्थ –

1) मनुष्य जैसे जीर्ण वस्त्र को त्यागकर नूतन वस्त्र धारण करता है वैसे ही देह धारण करनेवाला जीव जीर्ण शरीर को त्यागकर नूतन शरीर का आश्रय लेता है।

2) नदियाँ जैसे नाना पथगामी होने पर भी अंततः एक ही समुद्र में लीन होती हैं वेसे ही मनुष्यों की प्रवृति व उपासना के पथ पृथक होने पर भी अन्ततोगत्वा ब्रह्म की प्राप्ति ही सबका लक्ष्य है।

3) ब्रह्म, अंहकार का परिणाम शून्य, नित्य शुद्ध शरीर हीन होने पर भी साधकों के हित के लिए नाना रूप में कल्पित होते हैं।

अनन्तः सन 1887 अगहन महीने में जब उमाचरणजी गोलाघाट में नौकरी कर रहे थे, स्वामीजी ने उन्हें एक पत्र देकर आदेश किया कि अब हम एक महीने बाद यह शरीर छोड़ देंगे, वे ऐसा समाचार अपने तमाम शिष्यों, सेवकों को प्रेषित कर चुके हैं, तुमको भी सूचित कर दे रहे हैं अवश्य चले आना। दरख्वास्त देते ही उनकी छुट्टी यथासमय स्वीकृत हो गयी और वे घर न जाकर सीधे काशी चले आये। वहाँ पहुँचने के बाद उन्हें मालूम हुआ कि बाबा के शरीर त्यागने में केवल 30 दिन बाकी हैं सदानन्द स्वामी, कालीचरण स्वामी, ब्रह्मानन्द स्वामी, भोलानाथ स्वामी, दो परमहंस तथा मंगलदास ठाकुर वहाँ उपस्थित थे। अति शीघ्र ही महीना बीतने लगा। देह त्यागने के एक दिन पहले तक स्वामीजी ने सबको अपने पास बुलाकर उपदेश दिया और शिष्यों से कहा–एक सन्दूक इस माप का बनवाना होगा जिसमें मैं बैठ सकूँ मेरे शरीर त्यागने पर उस सन्दूक में मुझे बैठाकर उसका स्क्रू ठीक से कसकर बाहर से ताला लगा देना। फिर पंचगंगा में सन्दूक सहित जल में फेंक देना और कोई अंतिम संस्कारजनित कार्य करने की जरूरत नहीं है। शरीर त्याग करने के एक दिन पूर्व स्वामीजी ने कहा– कल एक नौका किराये पर लेना। शरीर छोड़ने के बाद वह सन्दूक नौका पर चढ़ाकर अस्सीघाट से वरुणा तक एक बार घुमाकर निर्दिष्ट स्थान पर निक्षेप कर देना। तदनन्तर बाबा ने फिर फरमाया– यदि किसी को कुछ कहना या पूछना हो तो आज रात तक वह पूछ ले। कल मुझसे किसी की बातचीत नहीं होगी। रात भर सभी उनके पास बैठे रहे। अनेक ब्रह्मचारी व परमंहस उनसे बातचीत

करने आये। जिसको जो पूछना था, सभी ने अपने–अपने प्रश्न किये और समाधान जाना। बाद में उमाचरणजी ने हाथ जोड़कर पूछा– मेरी क्या गति होगी ? सभी ने अपना–अपना समाधान पूछ लिया सिर्फ मेरी कोई गति नहीं हुई। स्वामीजी ने कहा– तुम्हारा और हमारा हृदय अभिन्न है। तुम जिस प्रकार साधना कर रहे हो, उसे करते रहना। कदापि खूंटी मत छोड़ना अर्थात ईश्वर को मत छोड़ना, फिर कालीचरण स्वामी को अपने निकट बुलाकर कहा– तुम इसके ऊपर सदैव अपनी कृपा–दृष्टि रखना। आवश्यकतानुसार समय–समय पर उसके पास जाकर ऐसा उपाय करना जिससे यह आगे बढ़ सके। इसकी मुक्ति का भार तुम्हारे ऊपर है।

महात्मा तैलंग स्वामी शरीर छोड़ेंगे, यह बात प्रचारित होते ही पूरी काशी में हलचल मच गयी। सभी इस घटना को देखने के लिए आतुर हो उठे। दूसरे दिन स्वामीजी के आदेशानुसार सन्दूक में गद्दा, तकिया, चादर, फूल–माला, चन्दन आदि सजाकर रखा गया। एक नाव भी किराये पर लाकर घाट पर बाँध दी गयी। उस दिन सुबह करीब आठ बजे बाबा अपनी बेदी के पासवाले कमरे में प्रवेश कर आसन पर बैठकर बोले–सब दरवाजा बन्द कर दो। जब तक मैं दरवाजा न थपथपाऊँ दरवाजा मत खोलना– यह कहकर बाबा समाधिस्थ हो गये। सभी लोग दरवाजा बंद करके सतर्कता पूर्वक बैठ गये। भोर में तीन बजे दरवाजा पर थाप पड़ी, दरवाजा खोल दिया गया, बाबा बाहर आये। सन्दूक को निकट लाने की आज्ञा दी और उसमें योगासन की मुद्रा में उपविष्ट हो गये और सन्दूक बंद कर उसमें ताला लगा दिया गया।

सन् 1887 ई. के पौष शुक्ल एकादशी के दिन सायंकाल के कुछ पूर्व 280 वर्ष की आयु में महात्मा, महायोगी, काशी के सचल विश्वनाथ ब्रह्मलीन हो गये। सन्दूक को पंचगंगा घाट पर नौका पर चढ़ाकर अस्सी घाट से वरुणा तक घुमाया गया।

काशी के अस्सी घाट पर भीड़ ठहरने का नाम नहीं ले रही थी। कहीं भी इंच भर जगह शेष नहीं रह गयी। स्वामीजी के प्रयाण के समय उन्हें आखिरी विदाई देने के लिए और उन्हें अपनी श्रद्धार्पित करने के लिए साधु–संत, नर–नारी, बच्चे सभी घाट पर अश्रुपूरित नेत्रों से मर्मान्तक पीड़ा लिये व्यथित हृदय खड़े थे। वैसी भीड़ कदाचित काशी के किसी घाट पर कभी नहीं देखी गयी। बहुत सारे लोग नाव लेकर बाबा की नाव के साथ वरुणा से अस्सी घाट तक चल पड़े थे।

सायंकाल निर्दिष्ट समय पर सन्दूक सहित उनको पंचगंगा घाट के पास दत्रात्रेय मंदिर के निकट बीच गंगा में लाया गया।

असाधारण योग–विभूति सम्पन्न बाबा तैलंग स्वामीजी ने इस बार एक और अलौकिक चमत्कार प्रदर्शित किया। गंगाजी में सन्दूक प्रवाहित काने के पूर्व उनके शिष्यगणों जब उसे उठाया तो लगा सन्दूक हवा हो गया है। वह अत्यन्त हल्का हो गया था। उनके कुछ भक्तों को बाबा का अंतिम दर्शन मिला ही नहीं था। वे लोग स्वामीजी का आखिरी दर्शन करने के लिए उतावले हो गये कुछ पल सोचने के बाद सन्दूक खोलने का विचार हुआ। सन्दूक खोलने के बाद सब लोग स्वामीजी के अलौकिक कर्म से फिर एक बार आश्चर्यचकित हो गये। सन्दूक में स्वामीजी का स्थूल शरीर था ही नहीं, केवल फूल–मालाएँ ही रह गये थे। सन्दूक बंद करके उसे पूर्व निर्धारित स्थान पर जल–समाधि दे दी गयी। सन्दूक डूब गया। सभी लोग मर्माहत हो गये और अश्रुपूरित आँखों से अपने–अपने घर लौट गये। उमाचरणजी लिखते हैं कि उन्हें ऐसा महसूस हुआ कि उनके सारे भरोसे खत्म हो गये हैं। हृदय विदीर्ण होने लगा और उनका बल–बुद्धि तथा आश्रय सब कुछ खो गया।

महात्मा तैलंग स्वामी के जीवन का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि विभिन्न प्रकार की योग विभूतियाँ उनके अंदर से स्वतः प्रकाशित होती रहती थीं।

महात्मा तैलंग स्वामीजी दयालु और मनुष्य के हिताकांक्षी थे। जो कोई भी उनके पास किसी विषय की मीमांसा करने के लिए आता था, उसके प्रश्न करने से पहले ही वे उसे जान जाते थे और उसकी समुचित मीमांसा कर देते थे हिन्दू धर्म का चरम उद्देश्य है आत्म–तत्व और ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि। वर्तमान युग में इस ज्ञान के न होने की वजह से हिन्दू अक्सर अपने धर्म के प्रति उपेक्षा प्रर्दशित करते हैं। महात्मा तैलंग स्वामी के साधना सिद्ध जीवन से हमें निराश न होने की शिक्षा मिलती है और उनकी मृदुवाणी मनुष्य को उस चरम लक्ष्य पर पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करती है। शास्त्र में जिसे चरम सीमा कहा गया है, कोशिश करने से चेष्टापूर्वक सभी उस सीमा को प्राप्त कर सकते हैं और उसके अधिकारी बन सकते हैं। उनकी ईश्वरीय शक्ति यह प्रमाणित करती है कि मनुष्य ही ईश्वर बन सकता है।

उन्होंने संसार को इसका अधिकारी मान कर तत्व ज्ञान की शिक्षा देने के लिए स्वयं आश्रम में विभिन्न देवी–देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की थीं।

मनुष्य अपने मन के सामर्थ्य के अनुसार ईश्वर का अनुभव करता है। तैलंग स्वामी हिन्दू एवं ब्राह्मण थे। हिन्दू धर्म के अनुसार अपने पवित्र जीवन का गठन कर उन्होंने हिन्दू धर्म के चरम उत्कर्ष को प्राप्त किया था। उन्होंने अन्य धर्मों के गुण दोष का विचार नहीं किया, अन्य धर्मों के प्रति विद्वेष रखे बिना उन्होंने अपने धर्म की सेवा की है। असीम क्षमता सम्पन्न होते हुऐ भी वे हर विषय के प्रति उदासीन थे। मान–अपमान को बराबर समझते थे। संसार को ब्रह्ममय मनाते थे और सुख दुःख को भी अलग नहीं समझते थे। 280 वर्ष के दीर्घ आयु जीवन में उन्होंने कभी पीड़ा का अनुभव नहीं किया था।

महात्मा तैलंग स्वामीजी के बारे में बहुत सारी पुस्तकों में बहुत सी गलत एवं झूठी बातें लिखी मिलती हैं जिनकी कोई प्रमाणित सत्यता नहीं है और उनके बारे में ऐसी भ्रांतिपूर्ण बातें लिखना अनुचित एवं दुखःद है। इसके प्रतिवादस्वरूप कुछ बातें यहाँ कहनी अत्यावश्यक हैं।

श्री कुलदानंद ब्रह्मचारी ने अपनी पुस्तक श्रीश्री सद्‌गुरु सत्संग के दूसरे खण्ड में लिखा है कि तैलंग स्वामीजी का शरीर अंत में स्थूल हो गया था। उनको गठिया की बीमारी हो गयी थी और वे चल फिर नहीं सकते थे। इसके बावजूद उन्हें शिव मानकर लोग उनके मस्तक पर गंगा–जल तथा दूध चढ़ाते थे, गर्मी हो या सर्दी जल चढ़ाने का यह क्रम बंद नहीं होता था। जिसकी वजह उनके शरीर में फोड़े निकल आए और उनका शरीर सड़ने लगा पर निर्विकार बैठे–बैठे उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। उन्हें जल समाधि दे दी गयी, ऐसी बातें स्वामीजी जैसे महापुरुष के बारे में लिखना अनुचित ही नहीं, अशोभनीय भी है। आजकल उनके जीवन पर सिनेमा भी बना है, जिसमें उनका विवाह दिखाया गया है, जो पूरी तरह झूठ है क्योंकि विवाह के बारे में उनकी बातों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। इस झूठे प्रचार को रोकना अत्यंत आवश्यक है।

मंगल भट्‌ट जैसा शिष्य पाना आज मुश्किल है, वे सदा स्वामी जी की सेवा में लगे रहते थे, उनकी सेवा में समर्पित रहते थे। स्वामीजी जिस वेदी पर बैठते थे उसके पास जाना तो दूर की बात, बिना पूर्वानुमति के किसी का दर्शन करना और वहाँ रुकना तक असंभव था। श्री मंगल भट्टजी स्वयं उनके दो भाई महादेव भट्ट, रामभट्ट, माता अम्बा देवी आदि शिष्यगण स्वामीजी की सेवा तथा उनकी देखभाल में सदैव तत्पर रहते थे।

इस परिस्थिति में उनके माथे पर घड़े भर दूध और गंगाजल चढ़ना असंभव तथा सत्य से परे तथ्य है तथा ऐसे महापुरुष के शरीर में सड़न आ जाना भी यथार्थ से परे व अवास्तविक बात है। उनकी 280 साल की लम्बी जिन्दगी पूर्णरूपेण स्वस्थ तथा निरोगी रही। उनकी एक भी इन्द्रिय कमजोर नहीं हुई थीं वे अपनी इच्छा मृत्यु का निश्चित समय, महीना, तिथि तथा नक्षत्र एक माह पूर्व ही अपने भक्तों को बता चुके थे और उसी निर्धारित समय पर अपनी जन्मतिथि के दिन निरोग तथा स्वस्थ शरीर में रहकर अलौकिक योगबल से अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया था।

भगवान तैलंग स्वामी के शिष्यों की संख्या का निर्णय करना अत्यंत कठिन कार्य है, स्वामी जी के जिन शिष्य और शिष्याओं का पता चला है, उनकी गिनती 22–23 के करीब है। स्वामी जी के शिष्यों में उनके भाई के पुत्र प्रमुख थे। जो उनके सौतेले भाई श्रीधर राव की एकलौती संतान थे। दीक्षा के बाद उनका नाम श्रीमद् परमानन्द सरस्वती रखा गया था। सिद्धि प्राप्त कर उन्होंने संत समाज में परमहंस के तौर पर ख्याति प्राप्त की थी।

परमानन्द सरस्वती अपने चचरे भाई की तरह आजीवन ब्रह्मचारी थे। तैलंग स्वामीजी की तरह उन्होंने भी परिवार का त्याग कर दिया था और योगमार्गी बन गये थे। कहते हैं कि हिमालय के किसी दुर्गम अंचल में जाकर उन्होंने कठोर योग साधना की थी। भंयकर प्राकृतिक अपदाओं, धूप, वर्षा और हिंसक पशुओं से भरे स्थान में उन्होंने 50 वर्ष तक साधना की थी। कहते हैं कि लम्बे समय तक इस स्थिति में रहने की वजह से असंख्य विषैले कीट पतंगों ने परामन्नद जी के शरीर में घर बना लिया था। इतना ही नहीं उनकी स्थूल देह बर्फ और असंख्य पौधों से ढके स्तूप में बदल गया था। देह के बोध से हीन अवस्था में, लोगों की आँखों से दूर 50 वर्ष तक इस प्रकार साधना करने के बाद परमान्नद जी परमार्थ की दुनिया से इस संसार में लौटे तब उनकी शारीरिक अवस्था बहुत बुरी थी। घावों से भरे हुये शरीर में रहने वाले कीड़े मकोड़ों ने उनके शरीर को चलनी बना दिया था, जटाओं से भरे सिर में पक्षी और सरीसृपों ने घर बना रखा था। परमानन्द जी क्रमशः स्वस्थ और स्वाभाविक होने लगे उनका शरीर ठीक होने लगा लेकिन घाव के गहरे निशान बने रह गये। वे फिर से योग भूमि में जाकर हिमालय के कैलाश मानसरोवर अचंल में जाकर अनेक योगियों को योग शिक्षा देने लगे। 260 वर्षों के जीवन में उन्होंने अनेक लोकहित के कार्य किये।

परमानन्दजी महाराज के शिष्य स्वाधीनता सेनानी परमंहस योगानन्दजी महाराज द्वारा दिये गये तथ्यों से पता चलता है कि परमानन्द जी की इच्छा अनुसार वर्तमान बांगला देश स्थित ढाका के पास लांगलबाधा में साढ़े तीन हाथ जमीन में उन्हें समाधि दी गयी। उन्होंने इच्छा प्रकट की थी कि सुबह शाम उनकी समाधि पर दीपक जलाया जाय और फूल चढ़ाये जायें। उस स्थान पर सफेद फूलों वाला एक वृक्ष उग आया जो आज भी 365 दिन उनकी समाधि पर फूल बिखेर कर महाराज की इच्छा पूरी कर रहा है। हालीशहर में स्टेशन के पास योगानन्द जी द्वारा स्थापित 'श्रीश्री परमानन्द योगानन्द योगाश्रम' आज भी परोक्ष रूप से तैलंगस्वामी जी के निर्देशों के अनुसार चल रहा है।

स्वामीजी के जीवन का विश्लेषण करने से पता चलता है कि श्रीमद्भागवत गीता में श्री भगवान ने सनातन धर्म के जो महान आदर्श स्थापित किये हैं, तैलंग स्वामीजी उस महान् आदर्श की जीवंत मूर्ति थे।

श्रीमद्भागवत गीता में श्रीकृष्ण ने सनातन धर्म का जो महान आदर्श स्थापित किया था, वह मानो "जीवनमुक्त तैलंग स्वामीजी" के रूप में सजीव होकर संसार में अवतीर्ण हुआ था। श्रीमद्भागवत गीता के द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण, छठे अध्याय में मुक्त योगी पुरुष के लक्षण, बारहवें अध्याय में आदर्श भक्त के लक्षण और चौदहवें अध्याय में त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण के बारे में जो संकेत दिया है वे सभी जीवनयुक्त तैलंग स्वामी के जीवन में अक्षरशः मिलते है, जिसकी चर्चा यहाँ करना आवश्यक हैं

जैसे भगवान के परिचय की कोई सीमा नहीं होती है उसी तरह स्वामीजी के जीवन का वर्णन भी वर्णनातीत है। गीता के दूसरे अध्याय के 54वें श्लोक में अर्जुन ने भगवान से पूछा है–

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषोत किमासीत ब्रजेत किम्।।

(गीता 2/54)

गीता के द्वितीय अध्याय में अर्जुन ने भगवान से पूछा कि स्थितप्रज्ञ, समाधिवान और स्थितधी पुरुष कैसे होते हैं ? किस भाषा में बातें करते हैं? और कैसे विचरण करते हैं? योगी की अवस्थाएँ साधारण व्यक्ति के ज्ञान से परे हैं।

महर्षि वशिष्ठ ने साधक की सिथति में अंतर के आधार पर सात प्रकार की योगभूमियों का वर्णन किया है अर्थात् भिन्न–भिन्न साधना भूमियों में प्रष्फुटित होनेवाले ज्ञान के परिमाण के बारे में बताया है। जो योगशस्त्र के मतानुसार अष्टांग योग साधना, वेदान्त के अनुसार साधन चतुष्टय, दर्शन शास्त्र के अनुसार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन तथ तंत्र मतानुसार जो तत्व साधन है, वह सब इन्हीं सात प्रकार के ज्ञान को प्रष्फुटित करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार ज्ञान का विकास होने पर शास्त्र का कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता, समस्त विषयों का सम्यक ज्ञान हो जाता है। सम्यक ज्ञान का ही दूसरा नाम ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्मज्ञान के बाद कुछ भी अविदित नहीं रह जाता। इस का आधार है योगः

1. प्रथम–शुभेच्छाः साधना के द्वारा विवेक और वैराग्य उपस्थित होकर जब मन में मुक्ति पाने की इच्छा जन्म लेती है उसे शुभेच्छा कहते हैं। इस स्तर में यही जाना जाता है कि मुझे ज्ञान लाभ हो रहा है।

2. द्वितीय–विचारणा : श्रवण, मनन आदि के द्वारा विचार शक्ति उपस्थित होने का नाम है विचारणा। इस स्तर पर पहँचकर यह पता चलता है कि जो जानने योग्य है वह जान लिया गया है, अब जानने को कुछ बाकी नहीं बचा अतएव मन में किसी प्रकार के असंतोष का भाव नहीं रह जाता।

3. तृतीय–तनुमानसा : विषय वासना का परित्याग कर निधियासन द्वारा सत्स्वरूप में स्थित होने का नाम तनुमानसा है। इस स्तर में पहुँचने पर पता चलता है कि जो सत्य है वह हमारे अंदर ही स्थित है, बाहर कुछ भी नहीं है। इससे मन को क्षीणता प्राप्त होती है अर्थात् मन अन्दर ही डूबा रहता है।

4. चतुर्थ–सत्वापत्ति : किसी विषय–वासना के न रह जाने पर समस्त विषयों के प्रति अनासक्ति का नाम है सत्वापत्ति। इस अवस्था में चित्त विमुक्त हो जाता है और हर ओर भागने की प्रवृत्ति नहीं रह जाती। यहाँ पहुँच कर साधक अवस्था समाप्त होती है एवं योगी अवस्था का प्रारंभ होता है।

5. पाँचवी – असंशक्ति : 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह भाव जाग्रत होता है। इस अवस्था में योगी संसार को भूल जाता है, अपने को भूल जाता है। यही समाधि की शुरुआत है। इस अवस्था के स्थायी और स्थिर होने पर साधक कृतार्थ हो जाते हैं।

6. छठी–अवस्था : पदार्थाभावनी : इस अवस्था में योगी का व्युत्थान नहीं होता,

उसके लिए सृष्ट और असृष्ट कुछ नहीं रहता। सुख–दुःख, जन्म–मृत्यु का भ्रम या ज्ञान नहीं रहता है। इसी अवस्था को द्वन्द्वातीत अवस्था या परम प्रज्ञा की अवस्था कहते हैं।

7. सातवीं– तुर्यावस्थाः ही अंतिम अवस्था है। इसे समाधि की अंतिम अवस्था कहते हैं। इस अवस्था को किसी भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह साक्षात शिव रूप या ब्रह्म रूप है।

तैलंग स्वामीजी के जीवन पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि वे योग की इस अंतिम अवस्था को प्राप्त कर ब्रह्म स्वरूप में विराजमान थे।

प्रजहाति यथा कामान् सर्वां पार्थ मनोगताम्।
आत्मन्येवात्माना तुष्टः स्थितप्रज्ञ स्वदेच्चते।

(गीता 2/55)

काम संकल्प के द्वारा मनुष्य का मन विषय–वासना भोगता है और उसी में आनन्द प्राप्त करता है। विषयों का अभिलाषी मन–इन्द्रियों के द्वारा अमृत आहरण करने की चेष्टा में घूमता–फिरता रहता है, पर आनन्द होता तब तो इसका आस्वादन कर पाते। इन्द्रिय सुख में वास्तविक आनन्द का ही अभाव है, उसमें रस का आभास मात्र है, जिससे मन की तृप्ति नहीं होती। इसीलिये वह परमानन्द पाने के लिए एक से दूसरे विषयों की ओर भागता रहता है, हाहाकार नहीं मिट पाता। मन जब विषयों की ओर दौड़ता है तब उसे अपनी खबर भी नहीं होती, वह नहीं समझ पाता कि परमानन्द उसके अंदर ही है। गुरु कृपा से जब इस रहस्य का पर्दा उठता है तब वह विषयों की ओर नहीं दौड़ता। मन लगाकर साधना करते–करते उसे मन संकल्प–विकल्प, मन का टूटना–जुड़ना अच्छा नहीं लगता। मन से क्रियायें करते–करते क्रियाओं की परावस्था का अनुभव होता है तथा असली आनन्द और शांति मिलती है। स्थिरता प्राप्त करने के पश्चात् योगी अपनी इच्छा से उसमें प्रवेश कर लेते हैं। संसार को भूला सकने की अवस्था प्राप्त करनेवाले योगी को ही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। महात्मा तैलंग स्वामीजी स्थितप्रज्ञ थे।

दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः/
वीतरागभय क्रोधः स्तिथधीर्मुनिरुच्यते।

(गीता 2/56//)

अर्जुन ने भगवान से समाधि स्थितधी पुरुष के लक्षणों के बारे में पूछने पर श्रीकृष्ण ने कहा–जो समाधिस्थ हों एवं समाधि से उठकर साधारण रूप से चलने–फिरने, खाने–पीने लगें। ऐसी अवस्था में भी पुरुष के भी प्रारब्ध का नाश नहीं होता है। प्रारब्ध–भोग के बिना विनष्ट नहीं होता, जिस कारण इस अवस्था के पुरुष को भी अपने कर्मानुसार आध्यात्मिक, अधिभौतिक तथा अधिदैविक तापों का अनुभव करना होता है। लेकिन साधारण व्यक्ति प्रारब्ध–भोग से जिस प्रकार विभ्रांत हो उठते हैं, प्रियजन के मिलन आदि सुखों के लिए जिस प्रकार व्याकुल हो उठते हैं, समाधि से उठनेवाले पुरुषों में ऐसी संभावना नहीं रहती। देहाभिमानी व्यक्तियों का अज्ञान संस्कार के कारण ही सुख–दुःख, पीड़ा के कारण बनते हैं पर स्थितप्रज्ञ व्यक्तियों में देहाभिमान नहीं रहने के कारण किसी वस्तु पर अनुराग या द्वेष नहीं रहता, उनमें भय और क्रोध नहीं रहता जिस कारण सुख–दुःख, भय–क्रोध आदि में उनमें कोई उद्वेग नहीं आता, उसका ताप उनको नहीं लगता। वे शांत रहते हैं। ऐसे पुरुष को ही स्थितधी पुरुष कहते हैं। स्वामीजी स्थितधी थे।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

(गीता 2/57//)

ब्रह्म–भावापन्न साधकों में हम और हमारे भाव का लोप हो जाता है जिससे उनका चित्त सदा अज्ञान तथा भ्रांतिशून्य एवं तामसिक वृत्तियों से रहित रहता है। अतः उनमें हर्ष या विषाद कैसे रह सकता है? वे आसक्ति शून्य रहने के कारण शुभ–अशुभ की प्राप्ति में द्वेष या आनन्द का अनुभव नहीं करते हैं, ऐसे योगी को प्रज्ञा प्रतिष्ठित कहते हैं। स्वामीजी प्रज्ञा–प्रतिष्ठित थे एवं सर्वदा इसी प्रकार अवस्थान करते थे।

यदा संहरते चायं कुर्मोऽगांनीव सर्वशः
इन्द्रियाणी न्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

(गीता 2/58//)

जिनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है, वे देखकर भी नहीं देखते। जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार प्रज्ञा प्रतिष्ठित व्यक्ति में आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा आदि बाहरी इन्द्रियों के रहते हुए भी उनकी गति कभी बाहर की

तरफ नहीं रहती, सब अंतरमुखी होती हैं। इसलिए आँख आदि रहने पर भी वे वाह्य दृश्यों को न तो देख सकते हैं, न सुन सकते हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह सब माया का ही खेल हैं, एक मात्र आत्मा ही अनन्त शक्ति का आधार एवं जगतव्यापी है। पंचभूत तथ पंचतत्व आदि भ्रम दृष्टि ओर प्रकृति का मध्यागत खेल है। यह खेल नहीं टिकता है, अन्तरदृष्टि तथा ज्ञान से ये नष्ट हो जाते हैं अन्तरदृष्टि सम्पन्न योगी आत्मस्थ रहने के कारण उनमें भ्रम–दृष्टि नहीं रहती है। व्युथित योगी भी विषयों से इन्द्रियों का प्रत्याहार कर लेता है। जो ऐसी शक्ति अर्जन कर लेता है, वह स्थितप्रज्ञ है। तैलंग स्वामीजी स्थितप्रज्ञ थे।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानपमानयोः ।।

(गीता 6/7//)

जिन्होंने आत्मा को जीतकर प्रकृतरूप से शांतिपद को प्राप्त कर लिया है उनके लिए शीत, उष्ण, सुख–दुःख और मान–अपमान कुछ भी बाकी नहीं रहता। प्रारब्ध वश सुख–दुःख और मान–अपमान आने पर भी वे उससे विचलित नहीं होते। किसी नशाग्रस्त की तरह शान्तभाव से उसका भोग करते हैं तैलंग स्वामी भी मन और इन्द्रियों के साथ शरीर को भी वश में कर सदा परमात्मा में लीन रहते थे।

ज्ञान विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोदष्टाश्म कांचनः।।

(गीता 6/8//)

जिन्होंने शरीर–इन्द्रिय और मन को पूर्ण रूप से अपने वश में कर लिया है उनका चित्त सदा सम और शांत रहता है। शीत, उष्ण, सुख–दुःख और मान–अपमान सभी अवस्थाओं में प्रशान्त, निर्विकार और ईश्वर में समाहित रहनेवाले पुरुष को जितात्मा कहते हैं। वह आप ही अपना मित्र है। स्वामीजी जितात्मा बन कर सदा ब्रह्म से एककार रहते थे।

सुहृन्मित्रायुदासीन मध्यस्थ द्वेष्यवन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिः विशिष्यते ।

(गीता 6/9//)

सुहृद, मित्र, बैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और वंधुगणों में धर्मात्माओं में और

पापियों में सम भाव रखनेवाले को अत्यन्त श्रेष्ठ बताया गया है। साधू, शास्त्रों को मानने वाले सदाचारी एवं पापी दुराचारी इन सभी को समान मानना, रागद्वेष से रहित होना ही योगारूढ़ व्यक्ति के सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले योगी में भ्रम या संशय नही रह जाता। जो योगारूढ़ अवस्था में दृढ़ चित्त सहित गुरूद्वारा दिखाये हुए मार्ग पर साधना को ही अपना जीवन–व्रत मान लेते हैं, वे लक्ष्य की तरफ अग्रसर होते हुये उस रहस्यमय परमपद को प्राप्त करते है। जहाँ सब कुछ होकर भी कुछ नहीं है, जहाँ सूर्य और चन्द्रमा की भी गति नहीं है, अंधेरा या उजाला न होकर भी एक दिव्य प्रकाश व्याप्त रहता हैं उस परम धाम में स्थित योगी की दृष्टि किसी ओर नहीं जाती। शोर के बीच रहकर भी वे एकाकी होते है, वे शान्त, गंभीर, मौन हो जाते हैं, किसी भी बात से विचलित नहीं होते। सुख–दुःख, मान–अपमान उन पर कोई असर नहीं डाल पाता। तैलंग स्वामी सदा मौन बनकर परमात्मा में लीन रहते थे।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

(गीता 7/16//)

सुकृतिशाली व्यक्ति भगवान की आराधना करते हैं। ऐसे लोग चार प्रकार के होते हैं–

1. आर्त – रोगों से कातर, इनमें से जिन्हें पूर्व जन्म की सुकृति प्राप्त होती है वे ही ईश्वर आराधना करते हैं अन्यथा साधारण देवी–देवताओं की आराधना कर जन्म–मृत्यु के चक्कर में उलझे रहते हैं।

2. जिज्ञासु – जिनमें आत्मज्ञान प्राप्त करने की बलवती इच्छा रहती है।

3. अर्थार्थी – इहलोक तथा परलोक में योग साधनाभूत अर्थलिप्सु!

4. ज्ञानी – आत्मविद्।

पहले तीन प्रकार के भक्त को सकाम भक्त कहते हैं, केवल चौथे प्रकार के भक्त ही निष्काम भक्त होते हैं। उनके मन में किसी प्रकार के फल की कामना नहीं होती है। ऐसे भक्त तत्वसाक्षात्कारी पुरुष कहलाते हैं, ये ब्रह्मानन्द में विभोर रहते हैं। स्वामीजी आत्मविद् होकर सदैव ब्रह्मलीन रहते थे।

ज्ञान वैराग्य सम्पन्न निष्काम पुरूष आत्मप्रेम में मग्न और देहविभ्रम शून्य होते

हैं। ऐसे जीवन्मुक्त पुरूष ही ज्ञानीभक्त होते हैं।

तेषाज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिः विशिष्यते
प्रियो ही ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं संचमम प्रियः।

(गीता 7/17//)

ज्ञानी भक्त जिसे आत्मा का सर्वाग ज्ञान होता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्त है क्योंकि आत्मा के अलावा सब कुछ परमात्मा से दूर है। आत्मविद् आत्मैव भवति–आत्मविद् पुरुष आत्मा ही बन जाते हैं। सकाम भक्त परमात्मा से नहीं जुड़ते क्योंकि वे संसार तथा भगवान दोनों को माँगते है जिस कारण एकनिष्ठ नहीं बन सकते। सब कुछ छोड़कर ईश्वर का बन जाना उनके लिए संभव नहीं है। एकमात्र ज्ञानी भक्त ही ईश्वर से सदायुक्त रहते हैं और वे ईश्वर के अत्यन्त प्रिय है और ईश्वर भी उनके प्रिय हैं।

स्वामीजी एकात्म होकर सदा ईश्वर भक्ति में लीन रहते थे। उनके जैसा जीवन्त भक्त आज कल विरले ही मिलते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणेव चं
निर्ममो निरहंकारः सम दुःख सुख क्षमी।

(गीता 12/13//)

श्रीमद्भागवत गीता के बारहवें अध्याय के 12वें श्लोक से लेकर आखिरी 30वें श्लोक तक भगवान को प्राप्त हुए ज्ञानी तथा प्रेमी भक्तों का लक्षण बताया गया है। ऐसे भक्त सभी भूतों में द्वेष भाव रहित, सभी को प्रेम सहित, दयालु ममता से रहित एवं अहंकार रहित सुख तथा दुःख में समभाव, क्षमाशील, अपराध करनेवालों को भी अभयदान दान देनेवाले, निरन्तर संतुष्ट, मन, इन्द्रियों तथा शरीर को अपने वश में किये तथा ईश्वर में दृढ़ निश्चय युक्त रहनेवाले भगवान को प्रिय कहते हैं। ऐसे व्यक्ति क्षमाशील होते हैं और मनुष्य स्वभाव को अपरिहार्य जानकर उसे क्षमा करते हैं।

ऐसे भक्त भय तथा उद्वेग रहित, न किसी को उद्वेग देनेवाले न स्वयं ही किसी से उद्विग्न होते हैं ऐसे भक्त सदा ईश्वर की अभ्यर्थना करते हैं तथा उन्हीं को चाहते हैं और ईश्वर से ही प्रेम करते हैं। उनका स्वभाव संयत होता है और वे आत्मतत्व में दृढ़ निश्चयी रहते हैं। उनके मन में सदैव ममता व्याप्त रहती है। उनका मन हर्ष, दुःख, भय, उद्वेग शून्य रहता है। वे निस्पृह, बाह्य एवं अभ्यन्तर से शुद्ध होते हैं वे सभी कर्मों में सकुशल, उदासीन, भय एवं आडम्बर–शून्य होते हैं।

ऐसे भक्त अनापेक्ष अर्थात् पक्षपात रहित होते हैं। उनका शरीर तथा मन हमेशा पवित्र रहता है। सभी अवस्था में स्थिर, अटल तथा अचल रहते हैं एवं हमेशा आसक्ति शून्य रहते हैं। ऐसे पुरुष सर्वारंभ परित्यागी अर्थात् इहकाल तथा परकाल की भोग वासना के लिए जो चेष्टा या उद्यम किया जाय उसे आरंभ कहते हैं– उनमें ऐसे कर्म की कोई चेष्टा नहीं रहती। ब्रह्मलीन पुरुष में अभीष्ट प्राप्त न होने के कारण अनावश्यक काम की कोई इच्छा नहीं रहती। मन की एकाग्रता के कारण शनैः शनैः उनमें निरोध अवस्था आती है और स्थिरता उन्हें स्वयमेव प्राप्त हो जाती है तथा वे मौन हो जाते हैं। आत्म स्वरूप बन जाने से उनमें परमानन्द बोध का उदय होता है और वे परमात्मा के परमानन्द में लीन होकर ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेते हैं।

स्वामीजी का जीवन चरित्र ध्यानपूर्वक पढ़ने से श्री गीता में बताये गये योगी पुरुष के सभी लक्षण उनमें स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं। जो लोग ईश्वर का भजन नहीं करते, उनसे प्रेम नहीं करते, उन्हें नहीं चाहते, उनका अंत करण मलयुक्त (गंदा) होता है जिस कारण ईश्वर सभी प्राणी में समान रूप से विद्यमान रहने पर भी अभक्त लोग उनके स्वरूप को नहीं पहचान पाते हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्यत् भगवद्मात्मनः
भूतानि भगवत्यात्मन्येव भागवतोत्तमः (श्रीमद्भागवत)

अर्थात् जिन्हें सभी प्राणियों में भगवद् दर्शन होता है और जो सभी जीवों को अपने में और अपने को ईश्वर में देखते हैं, वही उत्तम भक्त कहलाते हैं।

साधना करते–करते जब उसका पूर्ण विकास प्राप्त होता है तब साधक के साधन लब्ध ज्ञान, प्रेम शक्ति, ऐश्वर्य एवं श्रीभगवद् के ज्ञान, प्रेम एवं ऐश्वर्य में भेद नहीं रहता तथा दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं। सिद्ध साधक की इच्छा में ही भगवद् इच्छा का प्रकाश होता है तब साधक ईश्वर के सभी गुणों को प्राप्त करता है तथा ईश्वर ही जीवन्त विग्रह रूप में पृथ्वी पर अवस्थान एवं विचरण करते हैं। सिद्ध साधक ही भगवान कहलाता है। उनके हृदय में अपने को पूर्णारूपेण विकसित करके अपनी उपलब्धि तथा संयोगरूप लीला–विलास करते हैं। एकोऽहं बहु श्याम एक ही ईश्वर अनेक होकर अपनी सृष्टि का सार्थक एवं पूर्णरूपेण सम्पादन करता है। तैलंगस्वामी ने अपने जीवन में ईश्वरीय ज्ञान, प्रेम, शक्ति आदि को पूर्ण रूप से विकसित कर मनुष्य जीवन की चरम सार्थकता प्राप्त करली थी, जो विश्व में विरल है।

इसके प्रमाण स्वरूप हम उनकी उक्ति में पाते हैं–"ईश्वर ने समस्त मनुष्यों को अपनी पूर्ण शक्ति और गुण प्रदान कर उनकी सृष्टि की है! इसीलिए मनुष्य चाहे तो अपने अंदर ईश्वर की उपलब्धि कर सकता है एवं स्वयं ईश्वर स्वरूप हो सकता है। स्वामी जी के अलौकिक कार्यलाप एवं उनके अंदर ईश्वरीय शक्ति का प्रकाश देखकर समझा जा सकता था कि वे जीवन्त ईश्वर स्वरूप थे। जब कोई व्यक्ति उनके पास किसी समस्या के समाधान के लिये आता था तब उसके प्रश्न करने से पहले ही वे उसके आने का कारण जान जाते थे तथा उसकी समस्या और संशय का समाधान कर देते थे। **महात्मा तैलंग स्वामीजी के साधना सिद्ध जीवन की पर्यालोचना करने पर यह शिक्षा मिलती है कि आत्म उपलब्धि एवं आत्मज्ञान ही हिंदू धर्म का चरम फल है। मनुष्य साधना द्वारा उस उत्कर्ष का अधिकारी बन सकता है।**

सभी मनुष्यों का आधार समान नहीं होता। जो व्यक्ति जितने का अधिकारी हो उसे उसी प्रणाली से तत्वज्ञान की शिक्षा देने के लिए स्वामी जी ने अपने आश्रम में विभिन्न देवी–देवताओं की मूर्तियाँ तथा यंत्र आदि की स्थपना की थी। मन की धारणा शक्ति के अनुसार ही जीव ईश्वरीय सत्ता का अनुभव करता है। तैलंग स्वामी हिंदू ब्राह्मण थे एवं हिंदू धर्म की पद्धति का अनुसरण कर जीवन को परिमार्जित कर उन्होंने हिंदूधर्म के साधन मार्ग के चरम उत्कर्ष को प्राप्त किया था तथा साधन मार्ग को प्रशस्त कर गये। वे निर्विकार, त्रिकालज्ञ, सदा शांत एवं दया के सागर थे। वे जीवन्मुक्त होकर सदा पूर्ण आनन्द सहित विराज करते थे।

तैलंग स्वामी जी अपने जीवन में ईश्वरीय ज्ञान, प्रेम–शक्ति आदि को पूर्णरूप से विकसित करके जीव–सृष्टि की चरम सार्थकता प्राप्त कर ली थी जो पूरे संसार में विरल ही है। इसके प्रमाणस्वरूप हमलोग उनके कथन में देखते हैं कि ईश्वर ने सभी मानव को अपनी पूरी शक्ति तथा गुण देकर बनाया है। मनुष्य अगर कोशिश करे तो उसे ईश्वर को अपने अन्दर ही प्राप्त कर सकता है।

स्वामी जी सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा रखते थे। वे सभी धर्मों की उपास्य शक्तियों की भक्ति करने का उपदेश देते थे। उनका कहना था कि विभिन्न धर्मावलम्बी व्यक्तियों के देवी–देवता अलग नहीं हैं, इसीलिये अन्य धर्मों के देवी–देवताओं या शक्तियों के प्रति अश्रद्धा रखना उचित नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने धर्म में स्थित रहकर अपने धर्म की पद्धति का अनुसरण करते हुए उपासना करने पर ईश्वर

एवं ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर सकता है। तैलंग स्वामी का मतवाद और स्वामी विवेकानन्द का मतवाद एक ही है। यहाँ पर हम इसका उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं।

स्वामी विवेकानन्दजी ने "भारत मेरा अमर भारत" पुस्तक में लिखा है– उनके गुरुदेव श्री श्री रामकृष्णजी कहते थे कि धर्म एक है, दो नहीं। सभी धर्मो की ज्ञानातीत या तूर्यावस्था एक ही है। मनुष्य जब अपने देह–ज्ञान की अतीत अवस्था में पहुँच जाता है तब हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई सभी को एक ही प्रकार की अनुभूति होती है। किसी धर्म के लोगों को अपना धर्म त्याग करने और दूसरे धर्म को आत्मसात करने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, 'सभी धर्म, सभी धर्मों के सार (भाग) को लेकर पुष्टिलाभ कर सकते हैं एवं अपनी सारी विशेषताओं को अटूट रखकर अपनी प्रकृति के अनुसार व्यक्ति को आगे बढ़ना चाहिए।' स्वामी विवेकानन्द ने आगे कहा है कि धार्मिक विश्वासों में विभिन्नता रहने से सुविधा ही हुई है। जो धर्म मनुष्य को धार्मिक जीवन यापन करने का साहस प्रदान करता है, तब तक वह विश्वास मानव जाति के लिए शुभ है। धर्म सम्प्रदाय जितने अधिक होंगे, उस संस्कार पर विश्वास करके सफल होने में उतनी ही अधिक सुविधाएँ भी प्राप्त होंगी।

विवेकानन्दजी ने कहा है कि अगर मानव जाति का केवल एक ही धर्म रहता, एक ही ईश्वर आराधना का उपाय होता और एक ही मानदण्ड को स्वीकार या ग्रहण करना होता तो दुनिया का दुर्दिन सामने होता। यह अवस्था सभी धर्मों तथा आध्यात्मिक प्रगति के रास्ते पर मृत्यु के समान आघात करती। यह अवस्था तभी बढ़ेगी जब हमलोग अच्छे या बुरे रास्ते से, जबरन अपने धर्म को दूसरे धर्मावलम्बियों पर थोपेंगे। अगर मनुष्य सबको अपने–अपने रास्ते पर चलने में सहायता करेगा और उचित मार्ग की बाधाओं को दूर करने का प्रयास करेगा तो एकमात्र धर्म प्रतिष्ठा की चेष्टा भी अपने आप व्यर्थ हो जायेगी।

हमारे भारत ने सभी धर्मो की तल्खी ही सहन नहीं की है वरन सभी धर्मों को सत्य मानकर उन पर विश्वास भी किया है। स्वामीजी ने कहा है कि जो जाति सभी धर्मों तथा सभी निपीड़ित एवं आश्रयोच्छुक मनुष्यों को आदिकाल से आश्रय देती आ रही है, हम उस जाति के अंतर्गत होने के कारण अपने को गौरवान्वित महसूस करते हैं।

सत्य ही सभी धर्मो का सूत्र है जिस कारण हमें पराये धर्म और मत पर केवल दोष–शून्य होने से ही नहीं होगा, हमें उस धर्म तथा मतवाद का आलिंगन करना पड़ेगा।

किसी की निन्दा मत करो, सबको अपने रास्ते पर चलने दो, किसी को गाली देने से, चुगली करने से उसकी उन्नति नहीं होती, बल्कि इससे अपनी ही शक्ति का क्षय होता है और अंततोगत्वा यह देखने को मिलता है कि परिभाषा अलग हो सकती है पर हमलोग एक ही सत्य ही ओर बढ़ रहे हैं।

साधुता, पवित्रता, दया आदि दुनिया में किसी एक धर्म, मजहब या पंथ की अपनी निजी सम्पत्ति नहीं है। विभिन्न धर्मावलम्बी लोगों में अति उन्नत चरित्रवान तथा महापुरुषों का आाविर्भाव हुआ है। सब कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण रूप में देखने पर भी अगर कोई स्वप्न देखें कि सभी धर्मों का लोप होकर केवल अपना धर्म ही टिका रहे तो इससे बड़ी भयंकर भूल और क्या हो सकती है? ऐसी सोच रखनेवाले केवल कृपा के पात्र ही नहीं है बल्कि इनके लिए हार्दिक रूप से दुःखी होना ही उचित है। 'विवाद नहीं सहायता, विनाश नहीं परस्पर भाव ग्रहण, मतविरोध नहीं समन्वय और शांति' आवश्यक है।

यदि कभी किसी सार्वजनीन धर्म का उद्‌भव होता है तो वह किसी देश या काल की सीमा में आवद्ध नहीं रहता। इस धर्म में जिस असीम भगवान की बातों का प्रचार होगा, वही धर्म सभी धर्मों की समष्टि स्वरूप होगा एवं उसमें असीम उन्नति का अवसर रहेगा। वह उदार धर्म असंख्य बाहु प्रसारित कर पृथ्वी के समस्त नर–नारियों का सादर आलिंगन करेगा। उस धर्म की नीति में किसी के प्रति विद्वेष या उत्पीड़न के लिए कोई स्थन नहीं रहेगा। उस धर्म में समस्त नर–नारियों के देव–स्वभाव को स्वीकृति मिलेगी और उस धर्म की शक्ति समस्त मानव जाति को देवत्व की स्थिति में पहुँचाने में सहायक होगी। सभी धर्मों के महापुरुष जिन्हें सत्य की उपलब्धि हो चुकी है, वे सभी बारम्बार एक ही शिक्षा प्रदान करते हैं कि दूसरे के धर्म के प्रति हिंसा मत करो, उससे श्रद्धा व्यक्त करो क्योंकि अपने–अपने धर्म पर चलकर भी सभी एक ही जगह पहुँचते है। कहने का अर्थ यह है कि रास्ते अलग–अलग हो सकते हैं मगर मंजिल एक है। समस्त धर्मों में अच्छी–अच्छी चीजें है, उसे ग्रहण करना है ताकि अपना नैतिक उन्नयन हो सके। मन को निश्छल और स्थिर रखकर भक्ति– भाव से अपनी चेतना को विश्वचेतना के साथ जोड़ना ही धर्म

है और जिस मार्ग पर चलने से ऐसा संयोग हो सकता है, वही धर्म–पवित्र है। असल में भक्ति ही मूल चीज है। भक्ति ही भगवद्– प्राप्ति की मूल प्रणाली है। भक्ति से ही निर्भरता जन्म लेती है और पूर्णरूपेण निर्भरता आ जाने पर ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर ही आत्म–उपलिब्ध होती है।

तैलंग स्वामी कहते थे–मन का स्थूल भाव ही ईश्वर का स्थूल भाव है और मन का सूक्ष्म भाव ही ईश्वर का सूक्ष्म भाव है। मन की लय प्राप्ति से ईश्वर का स्वरूप प्राप्त होता है। जब तक मन चंचल रहता है तब तक निराकार या निर्गुण ईश्वर की कोई धारणा नहीं बनती। जो मनुष्य मन की विशुद्धता तथा सरलता को प्राप्त कर लेता है वही प्रेम और भक्ति के आवेग से भगवान का दर्शन कर कृतार्थ होता है। स्वामीजी ने कभी दूसरे धर्म का गुण–दोष नहीं देखा और न ही दूसरे धर्म को हेय दृष्टि से देखा। उन्होंने प्रशांत भाव से हिन्दू धर्म की सेवा की और असीम शक्ति का अधिकारी बने। मनुष्य मात्र उनके मार्ग का अनुसरण कर सही अर्थों में मनुष्य बन सकता है।

हे भारतवासी हिन्दू सनातनगण! महात्मा तैलंगस्वामी के जीवन की ओर दृष्टिपात करो। वे किस प्रकार निःस्वार्थभाव से अपनी मुक्ति का उपाय ढूंढ़कर जीवन मुक्त हो गये थे। सभी के उपास्य देवताओं और परंब्रह्म में कोई भेद नहीं करते थे क्योंकि ईश्वर एक है दो नहीं। जो सहज, सरल ज्ञान और तृप्त मन से उसे चाहे और उसकी उपासना करे, वही दिव्य ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है।

अपने विरुद्ध मतावलम्बी या विभिन्न देवी–देवताओं की आकृति (मूर्ति) के प्रति घृणा करना किसी के लिए कदापि उचित नहीं है। महात्मा तैलंग स्वामीजी अपने सुख या दुःख के प्रति कभी ध्यान नहीं देते थे। उनके हृदय में इन दोनों वृत्तियों में किसी भी वृत्ति के लिए कोई खाली जगह थी ही नहीं।

जब उन्होंने तत्वज्ञान प्राप्त किया उस समय उनके हृदय में परमानंदनजनक ब्रह्मदर्शन सुख के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। वे जगत को ब्रह्ममय देखते थे। दुःख जैसी कोई चीज है, ऐसा वे नहीं जानते थे। उन्होंने जीवनमुक्त होकर आजीवन एक ही भाव से जीवन व्यतीत किया। उनकी इस अवस्था को चाहे जिस संज्ञा से व्यक्त किया जाय किन्तु वे अपने भाव में मस्त रहते थे।

वास्तव में भक्ति ही मूल है। भक्ति ही मानव को भगवान के नजदीक ले जाने की

प्रणाली है। साधारण दृष्टि से देख जाय तो पता चलता है कि कुछ प्रवृत्तियों के आधार पर ही जीव का जीवन निर्भर करता है। उन प्रवृत्तियों का प्रतिफलन ही उनके लिए सुगम कहलाता है। जिस नीति के बल पर उनको चरितार्थता मिलती है वह नीति ही उनके जीवन को धारण करती है। वही जीव–धर्म बन जाता है इसलिए जिस शारीरिक, मानसिक व आत्मिक प्रवृत्ति के ऊपर जीव का जीवन निर्भर करता है उसका आत्मिक प्रकाश तथा विकास ही भागवत भाव है। भक्ति उस भाव को विकसित करने में सहायक होती है। वस्तुतः भक्ति से निर्भरता आती है तथा पूर्णरूपेण निर्भर होने से ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। ब्रह्मज्ञान से निष्काम भाव का उदय होता है आर निष्काम ज्ञान ही भगवद् प्राप्ति है।

तैलंग स्वामी प्राथमिक साधन के जीवन को पार कर जीवन मुक्त होकर कालयापन करते थे। वे त्रिगुणातीत शुद्ध–प्रबद्ध, नित्य मुक्त अवस्था में विराजित रहते थे। उनके इस त्रिगुणातीत चित्त में किसी विकार का रंचमात्र भी अधिकार नहीं था। वे केवल मन से ही द्वन्द्वातीत नहीं थे बल्कि अपने पंचभौतिक शरीर को भी प्राकृतिक द्वन्द्व से मुक्त करके अपने वशीभूत कर रखा था। जिस कारण उन्हें जाड़ा गर्मी, पानी, भूमि और आकाश में कोई विभेद ज्ञान नहीं था। कोई परिवर्तन उन्हें प्रभवित नहीं कर पाता था। वे हमेशा वस्त्र विहीन ही रहते थे।

वे अधिक अवधि तक समाधिस्थ रहकर जीवन व्यतीत करते थे। वाह्य दुनिया में अवस्थित रहकर उनकी अन्तरमुखी अवस्था का कोई विपर्यय नहीं होता था। बाहरी दुनिया के सुख–दुःख या आकर्षण उनके वदन, वाक्य या व्यवहार में कोई बदलाव लाने में असमर्थ थें उनके दर्शन से यह महसूस होता था कि वे किसी शांतिमय ध्यान–लोक में आनन्दपूर्वक विचरण कर रहे हैं। केवल मात्र जीव कल्याण के लिए करुणा के वशीभूत होकर इस धरती पर अवस्थान करे, मनुष्य को धन्य बना रहे हैं। उनका प्राणवायु केवल यंत्र के मानिन्द काम करता था।

आहार के बारे में स्वामीजी पूरी तरह उदासीन थे। कभी आहार्य वस्तु–संग्रह के लिए चेष्टा नहीं करते थे। आहार के बारे में उनकी दो वृत्तियाँ थी। पहली अजगर वृत्ति वे अपने हाथ से कभी खाना नहीं खाते थे। अन्न, रोटी, दूध, फल जो कुछ भी लोग लाकर उनको खिलाते थे वे उसे ही खा लेते थे। खाद्यवस्तु की मात्रा का भी कोई पैमाना नहीं था। कभी एक किलो एक साथ खा लेते थे और कभी एक मन भी

अपने योग बल से ग्रहण कर लेते थे।

दूसरी वृत्ति है– आकाश वृत्तिः खाने की वस्तु के संग्रह के लिए वे कोई प्रयास नहीं करते थे न उसे भविष्य के लिए सुरक्षित रखते थे। जो आ गया या मिल गया उसे ही खा लिया और फिर मगन हो गये अपने कर्म में।

काशी में तीर्थ–यात्रियों के अतिरिक्त बहुत सारे धनवान, दानशील व्यक्ति भी सदा रहते हैं। उनमें से कोई–कोई व्यक्ति स्वामीजी को मूल्यवान वस्त्र आभूषण से सजा कर अपनी इच्छा पूरी कर अपने को कृतार्थ कर लेता था और परम प्रसन्न हो जाता था। पर उनके बाहर निकलते ही आपरधिक प्रवृत्ति के लोग उनके शरीर से सारी मूल्यवान वस्तुएँ खोल लेते थे। किन्तु स्वामीजी कुछ नहीं बोलते थे और न ही उनके घृणित कर्म का विरोध ही करते थे। उनके लिए सोना या मिट्टी में कोई फर्क नहीं था।

स्वामीजी ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के बाद बाह्य दुनिया तथा सांसरिक वस्तुओं से अपने को पूरी तरह अलग कर लिया था। प्रकृति अपना काम स्वयमेव करती थीं स्वामीजी अपने को अकर्ता मानकर सदा सच्चे स्वरूप का ध्यान करते थे। ईश्वरीय ऐश्वर्य तथा महिमा उनके शरीर को सदैव आलोकित करती थी। वे केवल निमित्त मात्र थें

असली ज्ञानी तथा साधक व्यक्ति योगबल से प्राकृतिक नियमों के सहारे ऐसी शक्तियों के अधिकारी बन जाते हैं जो साधनहीन, साधारण व्यक्ति को अलौकिक और असाधारण लगती है। साधारण व्यक्ति षट् विकारों के दास बनकर तथा उपयुक्त शिक्षा और दीक्षा के अभाव में तथा प्रयासहीन हो अपने मन तथा इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति का पूर्ण विकास नहीं कर पाते हैं जिस कारण उनकी क्षमता तथा ज्ञान के बाहर की हर वस्तु उन्हें अलौकिक तथा असाधारण प्रतीत होती है। महापुरुषों की साधनलब्ध क्षमता सदालोक कल्याण के लिए ही होती है। ईश्वर के ऊपर प्रेम तथा उनकी सृजित वस्तुओं पर प्रेम ही धर्मशील व्यक्तियों का मुख्य बाहरी प्रकाश है जिस कारण आधि या व्याधि से क्लांत या दूसरी तरह से कातर किसी ईश्वर के सृष्ट प्राणी को विपन्न देखकर महापुरुष व्यक्ति स्थिर नहीं रह पाता है और उस पर अपनी कृपा–दृष्टि डालने के लिए अपने को सन्नद्ध कर लेता है। स्वामीजी के जीवन में ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं जिनका विवरण पहले ही दिया जा चुका है। वास्तविक धर्म पार्थिव वस्तुओं के लाभ का धर्म नहीं है, यह साधना द्वारा

आत्मिक उन्नति कर, निष्काम सेवा द्वारा वास्तविक मूल्यबोध के माध्यम से मनुष्यत्व प्राप्त करने का विषय है। वास्तव में इस पृथ्वी पर कुछ भी अलौकिक नहीं है और है भी। यह महासागर, विशाल हिमालय पर्वतश्रेणी, यह अनन्त आकाश, अनन्त ब्रह्माण्ड, क्या ये अलौकिक नहीं हैं? यदि ये लौकिक होते तो मनुष्य इन्हें बना सकता था। नरलोक के किस धनाढ्य उद्योगपति या सम्पन्न कृषक या विख्यात वास्तुकार या धरती को कंपानेवाले श्रमिक ने इन्हें बनाया है? हम नित्य अपनी आँखें के सामने इतना कुछ देखते हैं, इनके बीच रहते हैं इसीलिए ये हमें लौकिक और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। कोई भी इसे अस्वीकार कर सकता है कि ये सभी अलौकिक हैं पर क्या कोई इन्हें ध्वस्त कर इनका निर्माण कर सकता है? भगवान तैलंग स्वामी की समस्त जीवन लीला में इन सभी प्रश्नों का उत्तर निहित है।

स्वामीजी का नश्वर शरीर आज हमारे बीच नहीं है फिर भी उनके बारे में किसी प्रकार का प्रचार या चर्चा उनकी इच्छा के विरुद्ध है। जिसकी सच्चाई बहुत सारी घटनाओं में आज भी प्रमाणित एवं सत्यता की कसौटी पर खरी है। मात्र उनके भक्त ही इसे महसूस करते हैं। आज भी उनकी इच्छा तथा कृपा के बिना उनके मठ में कोई कुछ भी नहीं कर सकता है।

उन्हीं के द्वारा प्राण–प्रतिष्ठा की हुई पत्थर की मूर्ति की चमक अभी भी ज्यों की त्यों है और उसकी बड़ी विशेषता यह है कि उनके भक्त तथा उपासक आज भी तत्कृपा द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह अलौकिक कृपा उनके उपासकों के लिए एक महान प्राप्ति है तथा उन्हें इसे अपना अहोभग्य मानना चाहिए। उनकी इच्छा से ही उनकी कृपा की उपलब्धि (प्राप्ति) भक्तों को होती है। उनकी तीन अमोघवाणियों को हमें सदा याद रखना चाहिए जो निम्नलिखित हैं–

(क) प्रचार मत करो : स्वामीजी प्रचार के घोर विरोधी थे। सभी मनुष्यों का आधार अलग–अलग होता है जिस कारण ईश्वर के बारे में प्रचार सबके ऊपर बराबर असर नहीं करता हैं। जिनका आधार अच्छा होता है वह उनकी कृपा के पात्र होते हैं और ईश्वर खुद बढ़कर उनकी सहायता करते हैं, किसी के द्वारा प्रचार या भाषण से उन्हें कुछ फायदा नहीं होता।

(ख) भिक्षा मत माँगो : जब साधक ईश्वर के ऊपर पूर्ण रूप से निर्भर हो जाता है और उनकी साधना में सदैव तल्लीन रहता है तो उसकी सभी चिन्ताएँ भगवान स्वयं

हरण करते हैं। उसके रहन–सहन, जीवन यापन की देखभाल स्वयं ईश्वर करते हैं जिसका उदाहरण हम स्वामीजी के जीवन में देखते आये हैं। वे कभी अपने खाने–पीने आदि के लिए कोई चेष्टा नहीं करते थे पर सब कुछ उनके पास पहुँच जाता था इसीलिए वाराणसी स्थित उनके मठ में आज भी पैसे आदि के लिए कोई दान पात्र नहीं रखा गया है। जो तीर्थयात्री मठ में आते हैं, उनमें जिसकी जो इच्छा होती है उनकी मूर्ति के सामने समर्पित कर चले जाते हैं। मन्दिर के संस्कार एवं परिष्कार आदि का कोई जरूरी काम आता है और पैसे आदि की जरूरत पड़ती है तो कोई न कोई भक्त उसकी व्यवस्था कर देता है। किसी से माँगना नहीं पड़ता है न ही मन्दिर के नाम पर बैंक में कोई खाता है, अगर भ्रमवश किसी ने किसी से पैसा माँग लिया तो स्वमेव उसमें बाधा उत्पन्न हो जाती है। ऐसी चमत्कारिक घटनाएँ आज भी उनके मठ में होती रहती हैं।

(ग) अनित्य संसार में डूबकर मत रहो जो नित्य तथा महासत्य है, उसी की आराधना करो : यह जो वाह्य या दृश्यमान संसार है वह मिथ्या है क्योंकि यह टिकता नहीं है। इस अनित्य संसार में मनुष्य केवल अपना कर्मफल भोगने के लिए बार–बार आता–जाता रहता है जब तक प्रारब्ध कर्म समाप्त होकर आत्मज्ञान की इच्छा नहीं होती है, तब तक आना–जाना चलता ही रहता है। मनुष्य जन्म लेते ही संसार के मायाजाल में उलझ जाता है और अपने उद्देश्य से भटक जाता है और आत्मज्ञान की चेष्टा से दूर हो जाता है, इसी कारण स्वामीजी की यह अमोघ वाणी बहुत ही महत्वपूर्ण है।

दूसरा भाग

जीवनमुक्त तैलंग स्वामीजी का तत्वोपदेश

वेद विभिन्ना : स्मृतयोर्विभिन्नाः ।
नाहसौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नं ।।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां ।
महाजनो येन गतः स पन्था ।।

वेद विभिन्न हैं, स्मृति शास्त्र भी विभिन्न प्रकार के हैं, ऐसा कोई मुनि नहीं है जिसका मत भिन्न नहीं है। धर्म का तत्व (आत्मतत्व), गुहा (मनुष्यों के हृदय गुहा में) अवस्थित है, महाजन (महापुरूष) जिस रास्ते (धर्म के रास्ते) से चलते हैं या गमन करते हैं वही पथ है अर्थात् धर्म मार्ग के रूप में ग्रहण योग्य है।

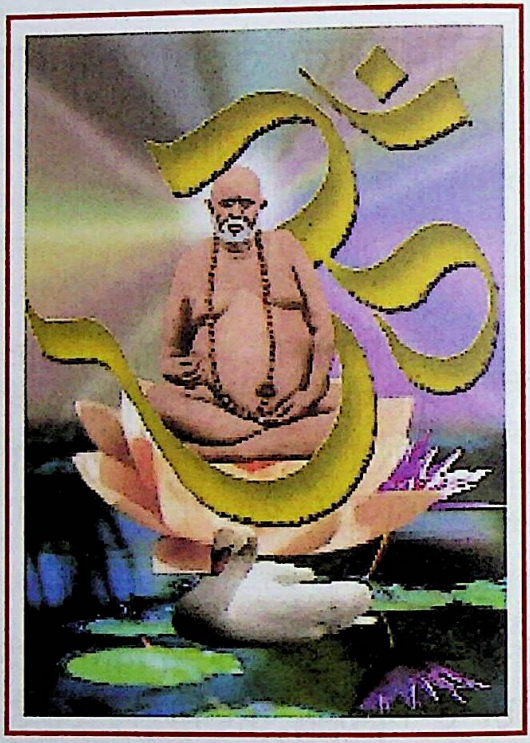

॥ हंसहसाय विद्महे परमहंसाय धीमहि
तन्नो हंस प्रचोदयरत् ॐ ॥

तत्वोपदेश

ईश्वर के बारे में ज्ञान को तत्वज्ञान कहा जाता है। ईश्वर प्रत्येक मनुष्य के अंदर आत्मा के रूप में विराजमान हैं। जिन्हें ईश्वर पर विश्वास है एवं जो उसे पाने के लिए मार्ग तलाश रहे हैं उन्हें पहले विशेष रूप से इस बात को जान लेना होगा कि "मैं कौन हूँ?" अपने को जान लेने पर आत्मरूप में अपने अंदर विराजमान ईश्वर को भी जाना जा सकता है। अपने को जान लेने पर शांति और मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हुआ जा सकता है। अपनी आत्मा से परमात्मा का योग स्थापित करने पर मुक्ति प्राप्त होती है। आत्म साक्षात्कार से ब्रह्म ज्ञान होता है और ब्रह्म ज्ञान होने से मुक्ति मिलती है।

स्वामीजी कहते थे– अधिक शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिए क्योंकि शास्त्रों के अत्यधिक पठन–पाठन से मन किसी एक विषय पर स्थिर नहीं रहता और अनेक प्रकार के संदेह उपस्थित होते हैं जो धर्म के मार्ग पर अग्रसर होने में बाधा उत्पन्न करते हैं।

"स्वामीजी के जीवन–चरित्र तथा तत्वोपदेश" नामक पुस्तक में उमाचरण बाबू ने स्वामीजी के बताये हुए बारह तत्वोपदेशों का वर्णन किया है। इस अध्याय में उसी का पुनर्लेखन किया गया है।

आजकल साधारण मनुष्य का मन चंचल रहता है, समय एवं धैर्य का भी अभाव है। अक्सर सुना जाता है कि स्वामी जी के तत्वोपदेश पढ़े पर कछ समझ में नहीं आया और याद भी नहीं रहा। स्वामी जी के ये उपदेश अत्यन्त मूल्यवान हैं एवं साधना के मार्ग में इनका पालन अति आवश्यक है। जो इनका पालन करेंगे वे समझ पायेंगे कि स्वामीजी साधकों को किस अमूल्य सम्पदा का दान कर गये हैं।

उनके जैसा उच्च साधक इस पृथ्वी पर पाना विरल है। वे अपनी साधना से प्राप्त भंडार से साधकों को सहजता से स्मरण योग्य अनेक जटिल तत्वों का उपहार दे गये हैं।

स्वामीजी के श्रीमुख से निकले बारह तत्वोपदेशों को लिपिवद्ध करने के बाद

उमाचरण बाबू ने उनका पाठकर स्वामी जी को सुनाया था। उसे सुनने के बाद स्वामीजी ने उनका अनुमोदन किया थ। स्वामी जी के महाप्रयाण के बाद उमाचरण बाबू ने उनके जीवन चरित को पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर शिष्यों एवं भक्तों का भला किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक अध्याय की सारगर्भित बातों को संक्षिप्त आकार में तत्वोपदेश के नीचे जोड़ा गया है जिसे समझाना साधारण लोगों के लिये आसान होगा।

स्वामीजी के बारह तत्वोपदेश उनकी स्वयं की वाणी हैं जो इस प्रकार हैं –

1. ईश्वर
2. सृष्टि
3. संसार
4. गुरु व शिष्य
5. चित्त शुद्धि
6. धर्म
7. उपासना
8. पुनर्जन्म और परजन्म
9. आत्मबोध
10. तन्मयता
11. कुछ मुख्य बातें
12. तत्वज्ञान

स्वामीजी कहा करते थे कि जैसे अंधकार दूर होने से सब कुछ स्पष्ट दिखाई देता है वैसे ही अवस्तु या अज्ञान का विनाश होने पर उसकी वस्तुस्थिति (ब्रह्म) साफ दिखलायी पड़ता है।

तत्वज्ञान के बिना अज्ञानता दूर नहीं होती इसीलिए आत्मदर्शन नहीं होता और मुक्ति भी नहीं मिलती हैं स्वामीजी का तत्वोपदेश एक अमूल्य निधि है।

ईश्वर

ईश्वर क्या है? और उसे जानने की इच्छा समस्त मनुष्यों में हैं सभी ने यह स्वीकार किया है कि ईश्वर सर्वव्यापी एक सत्ता है। जब कहते हैं ईश्वर सर्वव्यापी, विश्वव्यापी सत्ता है तो लगता है कि इस बात में किसी को संदेह नहीं है ईश्वर में स्थान व्यापकता का गुण है। जैसे एक पुस्तक स्थान ग्रहण करती है इसीलिए उसे साकार कहते हैं किन्तु ईश्वर सर्वव्यापी होते हुए भी निराकार क्यों कहलाते हैं? जो वस्तु सीमाबद्ध स्थान लेकर रहती है उसे साकार समझा जाता है। विश्वव्यापी ईश्वर किसी स्थान में सीमाबद्ध नहीं है। यह विश्व अनन्त और असीम है और उसी अनन्त और असीम विश्व में ईश्वर भी अनन्त, असीम होकर विस्तृत है। इसलिए वे निराकार हैं।

अगर कल्पना में एक सीमा निर्धारित कर ली जाय और सोचा जाय कि उस सीमा के बाहर और कोई स्थान है कि नहीं? तो कोई भी इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता एवं यह बात किसी की बुद्धि में भी आ नहीं सकती। इसीलिए विश्व की कोई सीमा नहीं होती और इसीलिए ईश्वर निराकार है एवं विश्व में जितना भी स्थान है, हर स्थान पर ईश्वर व्याप्त है इसलिए वे निराकार हैं। मनुष्य के ज्ञान और बुद्धि में ऐसी किसी वस्तु को स्थिर करने की क्षमता नहीं है जिससे वह विश्व का परिमाप कर सके। उसके आकार की तुलना कर सके, ठीक उसी प्रकार ईश्वर भी उतना ही विस्तृत है, एतदर्थ निराकार है।

ईश्वर को निर्गुण करते हैं पर क्यों ? कहते हैं कि ईश्वर में इतने गुण हैं जिनकी कोई सीमा नहीं है। उनके गुणों का कोई परिमाप नहीं है। इस जगत में जितने प्रकार के गुण परिलक्षित होते हैं सभी गुण ईश्वर के अनिर्वचनीय गुणों से ही उत्पन्न हुए हैं। उनके गुण को मनुष्य की इन्द्रियों के विषयी भूत गुणों से नहीं मापा जा सकता। वे इन्द्रियातीत गुणों के अधिकारी है, इसीलिए तो निर्गुण है।

ईश्वर का रूप क्या है ? इस संसार में जितने प्रकार के रूप हैं, वे सब एकमात्र ईश्वर के रूप से निकल कर भिन्न–भिन्न भाव में प्रकाशित हैं। संसार में ऐसा कोई भी रूप नहीं है जिसकी तुलना उनके रूप से की जा सकती है।

वे ज्योतिर्मय आनन्द–स्वरूप है इसलिए उन्हें विश्व रूप कहते हैं। विष्णु, ब्रह्मा, महेश्वर सभी देव–देवियाँ उनके स्थूल रूप हैं। मुमुक्ष व्यक्तियों को पहले स्थूल रूप का आश्रय होना चाहिए क्योंकि पहले स्थूल रूप का ध्यान किये बिना कोई भी व्यक्ति सूक्ष्म रूप से दर्शन का अधिकारी नहीं बन सकता। उसका अनुभव नहीं हो सकता। उस प्रभु का रूप माधुर्य जिसने नहीं देखा, उसका क्या कहना ? और जिसने देखा है वह भी उसका वर्णन करने में असमर्थ है क्योंकि उसे व्यक्त करने के योग्य भाषा नहीं है। उस रूप के लावण्य से मुग्ध होकर लोग वाक्यहीन ही नहीं, ज्ञान–शून्य भी हो जाते हैं।

ईश्वर चेतन है या अवचेतन ? ईश्वर चेतन भी नहीं, अवेचतन भी नहीं। इनके निर्गुण अनवीक्षित हैं अर्थात् निर्गुण सत्ता को ही चैतन्य गुण कहा जाता है। चैतन्य गुण क्या है, इस बात को सब लोग जानते हैं पर अनवच्छिन्न गुण कैसा है, उसके बारे में हम मन में धारणा करने में भी असमर्थ हैं। ईश्वर विश्व रूप निराकार, निर्गुण है इसलिए उसके आकार, रूप और गुण को धारण करना हमारे सामर्थ्य के अतीत है, इसलिए उसकी उपासना करना भी बहुत कठिन है। अस्तु, हमें सगुण ईश्वर को धारण करके चिन्तन करना चाहिए। सगुण का चिन्तन करते–करते जैसे–जैसे चित्त निर्मल होता जायेगा, वैसे–वैसे आत्मा का प्रकाश उत्तरोत्तर विकसित होता जायेगा, तब मन की सहायता के बिना भी ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव कर सकेंगे।

सगुण ईश्वर किसे कहा जाता है? इस संदर्भ में इतना ही निवेदित किया जा सकता है कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, ईश्वर में लीन हो जाता है, उस अवस्था में पहुँचने पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं दिखता है, ऐसा पुरुष समस्त ब्रह्माण्ड को अपने भीतर देखता है, वही उन्नत पुरुष जो मनुष्य की दशा की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है समग्र विश्व को अपने में प्रतिबिम्बित पाता है, दरअसल वही सगुण ईश्वर है। जो कार्य करते हुए भी निष्क्रिय है, जो मनुष्य आकार धारण करके भी भीतर से विश्व रूप है, उसके अहं ज्ञान से समग्र ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है वही ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान रखता है, वही आत्मज्ञानी पुरुष भगवान का स्वरूप लेकर सगुण ईश्वर कहलाता है।

यदि ईश्वर संबंधी तत्वज्ञान की लालसा उत्पन्न हो तो ऐसे उन्नत पुरुष के बारे में अविराम चिंतन करो।

अपने आप को ऐसे मुक्त आत्मा के गुण में मिलाने की कोशिश करो। क्रमशः इस

बात का अनुभव होगा कि चित्त निर्मल हो रहा है एवं कोई मार्ग दिखाकर तुम्हें अपने साथ ले जा रहा है। ईश्वर एक ही है, वे निर्गुण, निराकार, विश्वव्यापी एवं सच्चिदानंद हैं यह बात अचछी तरह समझ जाओगे।

जो हमारे चारो ओर, अंदर व बाहर नित्य निरविच्छिन्न होकर अधिष्ठित हैं, जिनके संकेत मात्र से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वायु एवं वरुण आदि अपने–अपने कर्तव्य का पालन करने को तत्पर रहते हैं, जिनकी सत्ता के प्रभाव से हम सब जीवित हैं, जो चिरशून्य है पर सर्वत्र गमन करते हैं, कर्णहीन होकर भी मन के अंदर की बात भी सुन लेते हैं, नेत्रहीन हैं पर सबका प्रत्यक्ष करते हैं, जो मुझे देख रहे हैं पर मैं उन्हें नहीं देख पाता, काम, क्रोध, लोभ, दुराशा, विषय–वासना जैसे प्रतारक जिनके समागम के भय से देश त्याग कर पलायन कर जाते हैं, जिनके स्वरूप का निर्णय करने में ज्ञान भी अक्षम है, जिनका परिमाण करने में कल्पना भी सक्षम नहीं है, जिनके पास जाकर मन एवं आत्मा वापस नहीं लौटते, माया जिसे ढक नहीं सकती, वाणी जिसकी व्याख्या नहीं कर सकती, वे ही ईश्वर है।

जिसकी आरती करने के लिए चन्द्र, सूर्य दीपक जलाते हैं, पवन चँवर डुलाता है, तरुलता पुष्पराशि लेकर सुगन्ध विकीर्ण करती है, विहंग–वृन्द जिसका यशकीर्तन करते हैं। शंख–ध्वनि जिसके अस्तित्व का उद्घोष करती है। श्रद्धा–भक्ति, करुणा–शांति, मुक्ति जिसकी पद सेवा करती है। वैराग्य, ज्ञान, योग, धर्म जिसके द्वार पर पहरा देते हैं जो जीव को कर्मानुसार फल प्रदान करते हैं जो व्यक्ति के विस्मृत होने पर भी उसका त्याग नहीं हो सकता। जो माया निद्रा भंग कर जाग्रत होने के लिए सबका आह्वान करती है। जो स्वयं निर्गुण होते हुए भी त्रिगुण से त्रिजगत को बांध कर रखते हैं। अरुप होने पर भी आश्चर्यजनक रूप से त्रिभुवन को मोहित कर रखा है! स्वयं चैतन्य स्वरूप भी होकर जीव–जगत को मोहिनी माया से अचेतन कर रखा है – वही ईश्वर है।

ब्रह्म तो जगत से परे है, लेकिन ब्रह्म से परे कोई वस्तु नहीं है जो सब दृश्य पदार्थ हैं, वह केवल मरुभूमि में मरिचिका की तरह मिथ्या ज्ञान मात्र है। जो चीज देखी या सुनी जाती है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है, कारण ज्ञान के उदय होने पर वही वस्तु अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म के सिवा और कुछ ज्ञात नहीं होती। ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान–चक्षु से सर्वव्यापी, नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा का दर्शन करता है,

ज्ञान–चक्षु–विहीन व्यक्ति उसका दर्शन नहीं कर पाता है, जैसे अंधा सूर्य का दर्शन नहीं करता। जो सूक्ष्म भी नहीं, स्थूल भी नहीं, ह्रस्व भी नहीं, दीर्घ भी नहीं, जन्म मृत्यु विहीन, रूप गुण, वर्ण व नाम रहित, नित्य एक ही रूप में चारों दिशाओं अवस्थित है, पूर्ण सत्य, चैतन्य आदि अंतरहित, अद्वितीय, आनन्दमय है, वही ईश्वर है।

जिस लाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं है, जिस सुख से बढकर और कोई सुख नहीं है, जिस ज्ञान से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है, जिनके दर्शन से और कोई दृश्य शेष नहीं रह जाता, जहाँ पहुँचने से फिर जन्म नहीं होता, जिनको जानने से और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता, वही ब्रह्म या ईश्वर है।

सूर्य, चन्द्र आदि उज्जवल वस्तु जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते, जिसके प्रभाव से सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशित होते हैं। जिससे वह ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है जैसे अग्नि लौह पिण्ड के अन्दर बाहर रहकर इस जगत को प्रकाशित करती है। उसी प्रकार जो समस्त वस्तु के अंदर एवं बाहर व्याप्त रहकर सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करते हैं, वे ही ब्रह्म या ईश्वर हैं।

जो मनुष्य देवता, ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, गृही, ब्रह्मचारी, वाणप्रस्थ, राजा या भिक्षु नहीं है परन्तु सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी, ज्योतिर्मय ज्ञानस्वरूप है, इन्द्रियादि जड़ पदार्थों में जो अद्वितीय, निश्चल, अग्नि की तरह उष्ण नित्यज्ञान स्वरूप आत्मा का आश्रय कर अपना–अपना कार्य सम्पादन करने में लगा है। वही नित्यज्ञान स्वरूप ब्रह्म या ईश्वर है।

जैसे सूर्योदय सब लोगों के व्यवहार के कारण होता है उसी प्रकार जो मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त इन चारों अन्तरेन्द्रिय तथा पंचकर्मेन्द्रियाँ अपने–अपने विषय की प्रवृत्ति में कारण होती है और जो उपाधिरहित, आकाश की तरह सर्वव्यापी ओर मनोहर सृष्टि के द्वारा सर्वदा प्रत्यक्ष भाव से है, वही ब्रह्म या ईश्वर है।

जैसे दर्पण, जल और तेल आदि वस्तु में मुखाकृति के प्रतिबिम्ब का दर्शन होता है उसी तरह निर्मल बुद्धि में आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखायी देता है। वह भी जीवात्मा से भिन्न नहीं है, वही ब्रह्म या ईश्वर है ।

जो असली मन, कर्ण, चक्षु इन्द्रियों से भिन्न और मन के मन, प्राण के प्राण, चक्षु के चक्षु, कर्ण के कर्ण परन्तु मन, चक्षु इत्यादि किसी भी इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, वही ब्रह्म या ईश्वर है। जैसे भिन्न पात्रों के जल में सूर्य की किरणों की छाया पड़ने से

नाना प्रकार के प्रतिबिम्ब दिखायी देते हैं उसी तरह स्वयं प्रकाश, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप और अद्वितीय होकर भी नाना प्रकार के जीवों की बुद्धि के अनुसार नाना प्रकार से कल्पित होते हैं।

जैसे सभी चीजों को प्रकाशित करनेवाला सूर्य एक ही है उसी प्रकार सभी बुद्धियों को चैतन्य ज्योति द्वारा प्रकाशित करनेवाला नित्य ज्ञान स्वरूप एक ही ईश्वर है।

जैसे चक्षु सूर्य किरण द्वारा प्रकाशित रूप को ही ग्रहण करते हैं, अप्रकाशित रूप को ग्रहण नहीं सकते उसी प्रकार एक सूर्य जो चैतन्य ज्योति द्वारा प्रकाशित होकर रूपादि को प्रकाशित करता है, वही नित्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म या ईश्वर है।

जैसे सूर्य एक होकर भी चंचल जल में अनेक रूप से दिखायी पड़ता है किन्तु स्थिर जल में एक ही रूप में दिखायी पड़ता है। वैसे ही स्वरूप से एक होने पर भी चंचल बुद्धि में नाना प्रकार से प्रतीत होनेवाला नित्य ज्ञान स्वरूप ही ब्रह्म या ईश्वर है।

जैसे अज्ञानी व्यक्ति स्वयं धुंधले नयन लेकर ऐसा कहता है कि सूर्य मेघावृत होकर, प्रभाशून्य हो गया है। वैसे ही जो नित्य, शुद्ध, चैतन्य अज्ञानियों के निकट वद्धरूप से प्रतीत होता है वही नित्य ज्ञानस्वरूप ही ब्रह्म या ईश्वर है।

जो एकमात्र निर्वाणरूपी पुण्यमय हैं, जो इस जगत के सार हैं, जो पाप–पुण्य विहीन, जो व्यक्त, अव्यक्त, रूपशून्य एवं सर्वमय हैं, वे ही ब्रह्म या ईश्वर है।

जो एक होकर भी समस्त वस्तुओं के भीतर अन्तर्यामी रूप से अवस्थित है परन्तु कोई वस्तु उसको स्पर्श नहीं कर पाती और जो आकाश की तरह सर्वव्यापी है वही नित्य चैतन्यस्वरूप ही ब्रह्म या ईश्वर है।

आत्मा पृथ्वी नहीं है क्योंकि पृथ्वी में गन्ध गुण है और आत्मा में नहीं है, वह केवल गन्ध का प्रकाशक है, आत्मा जल नहीं है क्योंकि जल में रस गुण है जो आत्मा नहीं है। वह केवल रस का ज्ञाता है, आत्मा को केवल तेज नहीं कहा जा सकता क्योंकि तेज में रूप गुण है जो उनमें नहीं है वे रूप के दर्शक है, आत्मा वायु नहीं है, कारण वायु की तरह उसमें स्पर्श गुण नहीं है। आत्मा को आकाश भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि आकाश की तरह आत्मा में शब्द गुण नहीं है, वह केवल उच्चारणकर्ता है, आत्मा इन्द्रिय नहीं है। क्योंकि इन्द्रियाँ अनेक हैं और आत्मा सभी अवस्थाओं में एक भावापन्न है। जो भूमि से अलग, केवल नित्य सर्व मंगलमय है उसे ही आत्मा समझना एवं वही नित्य ज्ञानमय ब्रह्म या ईश्वर है।

जिस सच्चिदानंदमय ब्रह्म का स्थान, परिमाण, रूप, वर्ण कुछ भी नहीं है, जिसकी कोई विशेष आकृति नहीं है, जिसका दृष्टा, दृश्य, श्रवण, श्राव्य कुछ भी नहीं है, जो ब्रह्म वृक्ष स्वरूप है? फिर भी उसकी जड़, बीज, शाखा, पत्र, लता, पल्लव, पुष्प, गंध, फल एवं छाया कुछ भी नहीं है, वही नित्य ज्ञानमय ब्रह्म या ईश्वर है।

क्या वेद, क्या शास्त्र, क्या शौच क्या संध्या, क्या मंत्र, क्या जाप, क्या ध्यान, क्या ध्येय, क्या हवन, क्या यज्ञ जिनको इन सब कर्मों की जरूरत नहीं जो ऊर्ध्व भी नहीं, अध भी नहीं, शिव नहीं, शक्ति नहीं, पुरुष और नारी नहीं, ब्रह्मा भी नहीं, विष्णु भी नहीं, ग्रह–नक्षत्र, मेघमाला, चन्द्र, सूर्य, कुछ भी नहीं, जो स्वर्ग नरक या क्षेत्र में अवस्थित नहीं करत। जातिगत– अजातिगत, किसी से भिन्नता नहीं, जो पाप–पुण्य रहित एकमात्र निर्वाणरूपी, पुण्यमय जो जगत का सार है, वे ही ब्रह्म या ईश्वर हैं।

जैसे प्रकाश से अंधकार का नाश होता है, किन्तु अंधकार के तत्व को जाना नहीं जा सकता, बादल हट जाने से आकाश पूर्ववत स्वच्छ होकर आकाश का अस्तित्व आकाश रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार दृश्य प्रपंच का विनाश और अवसान होने से चिद्शक्ति में स्वाभविक सत्ता उदित होती है। यह सत्ता या अस्तित्व उससे भिन्न नहीं है। जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता है, वह उससे भिन्न नहीं है। ईख के रस की मधुरता, अग्नि की उष्णता, तुषार की शीतलता एवं सरसो के तेल की तरह चित्त की सत्ता ही जगत की सत्ता है। जिस प्रकार पल्लवों में शिरायें होती हैं, वह पल्लव से अभिन्न होकर भी अलग रूप में दृश्यमान होती है उसी प्रकार ब्रह्म जगत से और जगत ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी ब्रह्म जगत को धारण किये हुए हैं।

राग–द्वेष, प्राण, वायु, मन बुद्धि, माया, आशा–वासना, चिन्ता इत्यादि किसी ने देखा नहीं है। ये अप्रत्यक्ष होने पर भी उनके कार्य को देखकर प्रत्यक्ष जान पड़ते हैं, उसी प्रकार ईश्वर नहीं दिखने पर भी उनके अलौकिक कार्यकलाप को देखकर अप्रत्यक्ष होने पर भी उनका प्रत्यक्ष रूप मालूम होता है।

संक्षिप्त : ईश्वर को जानने की इच्छा मनुष्य मात्र में ही है। ईश्वर और ब्रह्म अभिन्न है, भेद केवल भाषा का है। केवल अद्वय ज्ञान से ही उनकी उपलब्धि हो सकती है क्योंकि वे निराकार (जिनका विशेष आकार होता है वह प्रमेय अर्थात् प्रमाण के योग्य है, लेकिन ईश्वर या ब्रह्म अप्रमेय हैं क्योंकि उन्हें प्रमाणित नहीं कि या जा सकता है, उनका लय–क्षय नहीं है, इसीलिये वे निराकार हैं), निर्गुण (ईश्वर त्रिगुणों

के अतीत वोधव्य है क्योंकि वे गुणनिधि अर्थात् त्रिगुणों के आधार स्वरूप त्रिगुणातीत हैं। समस्त गुण उन्हीं में संकलित हैंलेकिन वे गुणों द्वारा स्पृष्ट नहीं हैं), अनादि (जिसका आदि–अंत न हो यानी जो सृष्टि, स्थिति, लय से परे हो), नित्य ज्ञानस्वरूप (जो ज्ञान लीलाभूमि से परे नित्यभूमि में रहे वही उनका वास्तविक स्वरूप है), नित्य चैतन्य स्वरूप (लीलाभूमि से परे नित्यभूमि में 'मैं चिदात्मा स्वरूप' का बोध), अद्वितीय (अपनी उपमा वे स्वयं है, किसी अन्य द्वारा उनका निर्देश संभव नहीं है), सत्यस्वरूप (जिसकी किसी प्रकार की विकृति न हो, वही सत्य स्वरूप है, ब्रह्म अविकारी), सर्वव्यापी (सर्वभूतों में विराजमान), सर्वमंगलमय (वे सभी जीवों की मंगलकामना से सर्वभूतों मे विराजमान हैं, अन्यथा जीव अपना मंगल स्वयं करने में सक्षम क्यों नहीं है), आत्मस्वरूप (वे जीवों में आत्मा के रूप में विराजमान हैं वरना जीव उनका अनुभव किसके माध्यम से करता!), आनन्दमय (अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष एवं आनन्दमय कोष इन पंच कोष रूपों में जीवदेह के अंदर विराजमान होने पर भी एकमात्र आनन्दमय कोष में ही उनका पूर्ण प्रकाश होता है) हैं। एकमात्र उनकी इच्छा से ही इस दृश्य विश्व–ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है। इस विश्व की सृष्टि करके सभी चीजों में वे स्वयं समाये हुए हैं। यह दृश्यमान संसार उन्हीं का रूप है। इस रूपाधार में ईश्वरीय शक्ति की पूर्ण लीला है, उनके इस रूप को ही सगुण ईश्वर कहा जाता है। जब वे रूप–परिग्रह नहीं करते तो निर्गुण कहलाते हैं, जिसे न हम देख सकते हैं न वर्णन कर सकते हैं। यह विश्व संसार उन्ही में उत्पन्न और उन्ही में लीन होता है।

अगर किसी को ईश्वर के तत्वज्ञान को जानने की लालसा हो तो 'मैं शरीर हूँ' व 'मैं सब हूँ' के ज्ञान को भूलाकर, मुक्त आत्मा होकर अपनी आत्मा को मुक्त आत्मा से मिलाना होगा, जो केवल अध्यवसाय व निरंतर प्रयास से ही संभव है। इससे क्रमशः चित्त निर्मल होगा और अज्ञान दूर होकर ब्रह्म ज्ञान स्वयं प्रकाशित होगा तथा यह अनुभव होगा कि जगत के ब्रह्म से और ब्रह्म के जगत से भिन्न होने पर भी ब्रह्म ने ही इस जगत को धारण कर रखा है। ईश्वर के अप्रत्यक्ष होने पर भी उनके कार्यकलापों को देखकर उनके प्रत्यक्ष होने का अनुभव होता है। इस विश्व ब्रह्माण्ड में एकमात्र ईश्वर तथा ब्रह्म ही सत्य स्वरूप में विराजमान हैं। ब्रह्माण्ड में एकमात्र ईश्वर तथा ब्रह्म ही सत्य स्वरूप में विराजमान हैं।

अपनी आत्मा को ईश्वर की मुक्त आत्मा से मिलाना होगा। जो केवल अध्यवसाय और निरंतर चेष्टा से ही संभव है।

सृष्टि

विश्वपति की विश्वसृष्टि का अपार कौशल साधारण मनुष्य की बुद्धि से परे है, लेकिन उनकी सृष्टि के नियम इतने सरल हैं कि विचार के द्वारा मनन करने से मन भक्ति रस में डूब जाता है। जीव सृष्टि के प्रारम्भ में जगत में केवल पंचभूत और परमात्मा का ही अस्तित्व वर्तमान था। वही पंचभूत सृष्टि के उपादान रूप में गृहित हुआ है।

उसी नित्य चैतन्य स्वरूप परमात्मा से पहले आकाश की सृष्टि हुई। फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। इस उत्पत्ति के बाद आकाश, वायु, अग्नि आदि के कारण गुण के कम या अधिक तारतम्य से सत्य, रज एवं तमोगुण की उत्पत्ति हुई। आकाश आदि को सूक्ष्मभूत, महादूत एवं पंचतन्मात्रा कहा जाता है। इसी सूक्ष्मभूत से सूक्ष्म शरीर एवं स्थूलभूत सब उत्पन्न हुए हैं।

जो सप्तदश अवयवयुक्त शरीर है, इसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। सप्तदश अवयव युक्त शरीर यथा–पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचप्राण, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि है। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ–यथा चक्षु कर्ण नासिका, जिह्वा, त्वचा। ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ आकाश के पृथक्–पृथक् सात्विक अंश से उत्पन्न होती हैं। जैसे आकाश के सत्वांश से कर्ण, वायु के सत्वांश से त्वक, तेज के सत्वांश से चक्षु, जल के सत्वांश से जिह्वा और पृथ्वी के सत्वांश से घ्राण उत्पन्न हुआ है। यह सूक्ष्म शरीर सुख या दुःख भोगने का कारण होता है।

बुद्धि निश्चयात्मक अंतःकरण वृत्ति हैं। मन संकल्प विकल्पात्मक या संशयात्मक अंतःकरण वृत्ति है। चित्त एवं अंहकार–बुद्धि और मन के अंतर्गत दो वृत्तियाँ हैं। चित्त अनुसंधानात्मक वृत्ति है एवं अंहकार अभिमानात्मक वृत्ति है। बुद्धि एवं मन आकाशदि पंचभूतों के सात्विक अंश से उत्पन्न होते हैं। ये पंच ज्ञानेन्दिकयाँ, मन एवं बुद्धि इनके स्वभाव के प्रकाश से इन्हें सात्विक अंश का कार्य कहा जाता है।

पंच कर्मेन्द्रियाँ यथा–वाक, पाणि, पाद, पायु व उपस्थ। ये पंचकर्मेन्द्रियाँ आकाश के तामश अंश से उत्पन्न हुई है। आकाश के रज अंश से वाक, वायु के रज अंश से पाणि, तेज के रज अंश से पायु, जल के रज अंश से पाद और पृथ्वी के रज

अंश से उपस्थ उत्पन्न हुआ है।

पंच वायु यथा : प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। ऊर्ध्व गमनशील, नासाग्र स्थायी वायु को प्राण वायु कहते हैं। अधोगमनशीलता वायु स्थान में स्थायी वायु को अपान वायु कहते हैं। भुक्त पीत अंश जलादि के समीकरणकारी वायु को समान वायु कहते हैं। ऊर्ध्व गमनशील कण्ठ में स्थायी वायु को उदान वायु कहा जाता है। सर्व नाड़ियों में गमनशील समस्त शरीर में फैली हुई वायु को व्यान वायु कहते हैं।

सांख्य मतावलम्बी लोगों का कहना है कि नाग, कूर्म, कृकट, देवदत्त और धनंजय नाम की और पाँच प्रकार की वायु होती है। नाग– उद्‌गीरण करनेवाली वायु है। कूर्म– चक्षु खोलनेवाली है। कृकर– क्षुधाजनक वायु है, देवदत्त–उच्छवास जनक वायु है, धनंजय– पुष्टिकारक वायु है। वैदान्तिक लोग नागादि पंचवायु को प्राणादि पंचवायु के अंतर्गत करके पंच वायु ही कहते हैं। ये प्राणादि पंच वायु आकाशदि के पंचभूत से मिले हुए रजः अंश से उत्पन्न हुई हैं। गमनागमन क्रियाशील स्वभाव के लिए प्राणादि पंचवायु के रजः अंश का कार्य कहा जाता है।

शरीर तीन प्रकार के हैं– स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर। इन तीन प्रकार के शरीरों में पाँच कोष हैं : अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष एवं आनन्दमय कोष।

1. स्थूल शरीर अन्न रस से उत्पन्न होता है, अन्न रस में बढ़ता है, विनष्ट होकर फिर अन्नमय पृथ्वी में लीन हो जाता है। इसलिए इसको अन्नमय कोष कहा जाता है।

2. पंचकर्मेन्द्रिय के साथ मिलकर प्राणादि पंचवायु को प्राणमय कोष कहते हैं।

3. पंचकर्मेन्द्रिय के साथ मिलकर मन को मनोमय कोष कहा जाता है।

4. ज्ञानेन्द्रिय के साथ मिलकर मन को मनोमय कोष कहा जाता है। यह विज्ञानमय कोष कर्तव्य, भोक्तव्य, सुख, दुःख का अभिमानी बनकर इहलोकः परलोकगामी जीव कहलाता है।

कारण शरीर में सुषुप्ति काल में आत्मा प्रचुर मात्रा में आनन्दभोग करती है। इसलिए उस कारण शरीर को आनन्दमय कोष कहते हैं। संतोष ही कारण शरीर है।

जीव के अपने कर्म से संचित फल से पंचीकृत पंचभूतों से निर्मित यह स्थूल

शरीर सुख–दुख भोगने का स्थान है, जो अनिर्वचनीय व अनादि, अविद्या है और जो सब प्रपंच का कारण है, उसी के कारण शरीर कहा जाता है। जो कारण शरीर सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर से भिन्न है, वही आत्मा है।

जैसे स्फटिक अत्यन्त निर्मल है किन्तु नीलवर्णादि वस्त्र के संयोग से नीलवर्णादि बोध होता है वैसे ही आत्मा अति निर्मल होते हुए भी अन्नमय, प्राणमय मनोमय विज्ञानमय और आनन्दमय पंचकोष के संयोग से कोषमय रूप से ज्ञात होती है।

इन पंचकोष में ज्ञानशक्ति सम्पन्न विज्ञानमय कोष कर्ता है। इच्छा शक्ति सम्पन्न मनोमय कोष कारण क्रियाशक्ति सम्पन्न प्राणमय कोष कार्य और एकत्रित यह कोशमय सूक्ष्म शरीर कहलाता है।

पंचीकरणः प्रत्येक पंचभूत को दो भाग में विभाजन करना। फिर उस दस भाग के प्रत्येक पंचभूत के पहले चार अंश का स्वकीय, दूसरे भाग से मिश्रण करना।

इस पंचीकरण के आकाश में शब्द, गुण, वायु में शब्द एवं स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप, पानी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध उत्पन्न होते हैं।

स्थूल शरीर चार प्रकार से उत्पन्न होता है :

जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिद (वनस्पतियाँ)। मनुष्य, पशु आदि जरायुज से उत्पन्न होते हैं। पक्षी, सर्प आदि अंडज से, गंदगी से मसक, जुएं आदि और भूमि से तृण, लता वृक्ष आदि उत्पन्न होते हैं जो उद्भिद कहे जाते हैं।

जरायुज शरीर तीन प्रकार के होते हैं– पुरुष, स्त्री और नपुंसक। शुक्र का अंश अधिक होने से पुरुष, शोणित का अंश अधिक होने से नारी और दोनों समान होने से नपुंसक होता है।

ऋतुकाल में स्त्री पुरुष संसर्ग होने से शुक्र के साथ जीव माता के गर्भ में आता है। जोड़ दिन में संसर्ग होने से वह संतान पुरुष, बेजोड़ दिन में स्त्रीभोग करने पर वह संतान नारी रूप पाता है। ऋतु स्नान करके नारी जिसका मुखावलोकन करेगी, उस ऋतुकाल में उत्पन्न संतान का आकार उसी तरह का होगा। अतः पति का मुखावलोकन करना ही उचित है। भ्रूण की वृद्धि पाँच दिनों मे बुदबुदाकार होती है। 7 दिनों में मांसपेशी में परिणत होता है, 15 दिनों में शोणित युक्त हो जाता है।

24 दिनों में अंकुर प्रस्फुटित होता है। 1 मास में स्कन्ध, ग्रीवा, मस्तक, पृष्ठ और उदर का निर्माण होता है। 2 मास में हाथ–पैर, 3 मास में सब अंग के जोड़, 4 मास में जीव शरीर में रक्त संचार होता है। 5 महीनों में आँख, कान, नाक नख एवं मलद्वार बनता है। 6 महीने में मलद्वार के छिद्र, स्त्रीचिह्न, पुंचिह्न, कर्णछिद्र, और नाभि बनती है। 7 मास में केश रोमादि होते हैं। 8 महीने में जीव गर्भ में विभक्त अवयववाला हो जाता है। केवल दाँत एवं मूँछ तथा दाढ़ी छोड़कर समस्त अंगों का निर्माण हो जाता है। 9 महीने में जीव सम्पूर्णतः चैतन्य लाभ को प्राप्त हो जाता है। तब जीव माता के गर्भ में उसके भोजन के अनुसार ही विकसित होता है। तदनान्तर गर्भ से निकलकर मांस, पिण्डवत् रहता है, किसी काम को करने की क्षमता उसमें नहीं रहती। जितने दिन सुष्मना नाड़ी श्लेष्मा से आवृत रहती है, उतने दिन चलना, फिरना या बोलना संभव नहीं होता। कालक्रम से ही सभी क्रियाकलाप होते हैं, तब माया से मुग्ध होकर गर्भयंत्रणा को भूल जाता है।

वाल्यावस्था अत्यन्त कष्टकर होती है। बालक न बोल सकने के कारण मन भावों को प्रकट नहीं कर सकता। वह अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता। समय–समय पर मलमूत्र में ही रहना पड़ता है। बाल्यावस्था उससे भी कष्टकर होती है। पढ़ना–लिखना सीखने के समय अतीव परिश्रम करना होता है। किसी के वशीभूत न होने की इच्छा रहते हुए भी सब लोग अपने वश में रखने की कोशिश करते हैं। कभी गिरकर चोट लगती है तो कभी हाथ–पैर कट जाता है तो कष्ट होता है। नाना प्रकार के अत्याचार करने का मन करता है, तब बहुत पीड़ा भोगनी पड़ती है।

यौवनकाल और भी कष्टकर होता है। अधःपतन होने का यही समय होता है, केवल शरीर की थोड़ी सी चमक होती है। तरह–तरह के नशे, वेश्यावृत्ति, लोभ, चोरी, विषयों में आसक्ति, मार–काट, विवाद, मुकदमाबाजी आदि सब प्रकार के खराब काम लोग उसी समय करते हैं। तैरकर समुद्र पार करना संभव है, लेकिन यौवन शांत भाव से बीता पाना किसी तरह संभव नहीं, अधिकांश लोग इस समय शरीर पर नाना प्रकार के अत्याचार करके इसे नष्ट कर देते हैं। जो इसे अच्छी तरह व्यतीत कर लेते हैं, वह महापुरुष कहलाते हैं। यौवन में पदार्पण करते ही लोगों के प्रति आसक्त होना अपना पहला काम समझते हैं। जितने दिन स्त्री–संसर्ग से दूर रहते हैं, उन्हें संसार अखरने लगता है। संसार में कोई सुख नहीं है–ऐसा प्रतीत होता है और वृथा वैराग्य

मन में आता है। विचारकर देखो–रमणी में क्या है ? पंचभूतों से बने हुए एक आकार से भिन्न और कुछ नहीं है। स्तन युगल दो मांस पिण्ड छोड़ और कुछ नहीं। उससे संग करना नरक कुण्ड में जाना है। मनुष्य मछली जैसा होता है, उसका चित्त पानी, वासना डोरी और चिन्ता कांटा है। संसार में तरुणी के प्रति आसक्त युवा विन्ध्यगिरि गह्वर में कामासक्त हाथी की तरह आबद्ध होकर अति शोचनीय दशा को प्राप्त होना है। वासना छूटने से जगत छूट जाता है। और जगत छूट जाने से महासुख मिलता है।

यौवन पूर्ण होते ही जरा आकर यौवन को ग्रास बनाकर वार्धक्य अवस्था में ला पटकती है। तब लोभ बढ़ता है, श्रीहीन, तेजहीन, और शक्तिहीन होकर मनुष्य चिन्तामग्न हो जाता है। उस समय परिवार के लोग घृणा और उपेक्षा करते हैं। जितनी उम्र बढ़ती है उतनी ही अच्छे पदार्थ खाने की इच्छा बलवती होती है और पहले जो कुछ अन्याय पूर्ण कार्य किया है, वह सब एक–एक करके मन में उदित होते हैं ओर क्या किया जाय, कया करना उचित है, पर जन्म में क्या होगा? यह सब सोचकर अत्यन्त भय होता है और अन्त में वह चुप रहने का निश्चय करता है। कारण इस अवस्था में उत्साहहीनता और कातरता उपस्थित होती है। शक्तिहीन और आहार करने में आसक्त होकर हृदय दुख से दग्ध होता रहता है। शरीर में जरा आने से मृत्यु भी पीछा करती है। श्वास, कास, वात आदि नाना प्रकार की व्याधियों की यंत्रणा होती रहती है। जिस शरीर के प्रति इतना आदर और मोह किया, वही शरीर आज मृत्यु की ओर जा रहा है। स्त्री, पुत्र, परिवार, रिश्तेदार, जायदाद, सम्पत्ति सब छोड़कर जाना पड़ेगा, यह सोचकर व्याकुल होकर रहता है।

इस शरीर को थोड़े में आनन्द और थोड़े में दुःख होता है। इसलिए शरीर की तरह नीच, निगुर्ण, शोचनीय और कुछ नहीं है। शरीर से हमारा कोई संबंध नहीं तथा हमसे भी शरीर का कोई संबंध नहीं। यह शरीर और हम एक नहीं है। जो मनुष्य सत्पथ पर चलकर, ईश्वर की सेवा मन लगा रहकर जीवनयात्रा का निर्वाह करता है, वही अंत में ईश्वर लाभ करता है और जो विषय वासना और भोग–विलास में डूबा रहता है उसका जीवन निष्फल कहलाता है। ऐसे संसार में जो अपार सुख की भावना रखता है, काल उसको ग्रास बना लेता है। जगत में उत्पन्न में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो काल का कराल ग्रास नहीं बनती है।

भगवान ने सृष्टि करने के लिए स्वेच्छा से अपने रूप को दो–दो भागों में विभक्त किया है। शिव प्रधान पुरुष और शिव परमा प्रकृति। तत्वदर्शी योगीगण उसका शिव शक्ति उभयात्मक, परात्पर परम ब्रह्म के रूप में कीर्तन करते हैं, वही ब्रह्म रूप से इस चराचर जगत का सृलन करते हैं, वही विष्णु रूप से समस्त जगत का पालन करते हैं और वही अंतकाल में शिव रूप से समस्त जगत का का संहार करते हैं।

इस चार प्रकार के स्थूल शरीर, स्थूलभोग के लिए जागृत रहते हैं। जागृत काल में चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक इन पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा क्रम से रूप, रस, शब्द, गंध, रस और स्पर्श रूपी पंचवाहक विषयों की अनुभूति होती है।

वाक, पणि, पाद, पाय तथा उपस्थ इन पंच कर्मेन्द्रियों से क्रमशः संशय, निश्चय, अंहकार तथा चिन्तन की अनुभूति होती है।

जीव शरीर में जीवन अथवा प्राण अर्थात् जीवात्मा– परमात्मा तथा चैतन्य सब एक ही चैतन्य के अंतर्गत हैं जैसे वृक्ष जंगल से अलग नहीं है, जल जलाशय से अलग नहीं है।

जीव चैतन्य में नाना मातावलम्बी मनुष्य नाना प्रकार के मत प्रकाशित करते हें, अति अज्ञानी लोग पुत्र को आत्मा कहते हैं, कुछ लोग स्थूल शरीर को आत्मा कहते हैं, कुछ लोग मन को आत्मा कहते हैं, कुछ बुद्धि को आत्मा कहते हैं, कुछ लोग अज्ञान को आत्मा कहते हैं, इस प्रकार अति अज्ञानी व्यक्ति पुत्र से लेकर शून्य तक आत्मा की व्याख्या किया करते हैं। वास्तव में पुत्र स्थूल शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अज्ञान अथवा शून्य कभी आत्मा नहीं हो सकते। केवल सत्य स्वरूप चैतन्य मात्र आत्मा है जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होने पर प्रतीत होता है फिर भ्रम मिट जाने से रज्जु ही रह जाती है, वैसे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्तु रूप अज्ञानादि जड़ वस्तु के नाश हो जाने पर चैतन्य मात्र में अवस्थित होती है।

तत्वमसि अर्थात् तत् त्वम असि। तत् शब्द का अर्थ अप्रत्यक्ष चैतन्य, तम् शब्द का अर्थ है प्रत्यक्ष चैतन्य। इन दोनों पदों का अर्थ शोधन करके तत् त्वम असि इस वाक्य द्वारा अखण्ड चैतन्य को अवगत करने से, मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्व स्वरूप, परमानन्द अद्वितीय ब्रह्म हूँ, ऐसा बोध अंतःकरण में उदित होता है। वैसे अंतःकरण वृत्ति में चैतन्य प्रतिविम्ब होकर उसके प्रकाश से अभिन्न परब्रह्म विषयक अज्ञान नष्ट हो जाता है।

जैसे सूर्य का प्रकाश दीप की रोशनी को म्लान कर देता है। मनोवृत्ति द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाता है, परन्तु प्रतिबिम्बित चैतन्य उसका प्रकाश नहीं कर सकता क्योंकि पर ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप है। इसलिए उसको दूसरी कोई वस्तु प्रकाशित नहीं कर सकती। जो सर्वव्यापी प्रकाश स्वरूप, जन्मरहित, विनाश रहित, अलिप्त सर्वगत, सर्वदा विमुक्त स्वभाव है वही अद्वितीय चैतन्य है।

मायामय अचेतन सत्य, रज एवं तमोगुण ओर इन्द्रियगण कर्म करते हैं। वही गुणत्रय ओर इन्द्रियों का अधिष्ठाता आत्मा सचेतन होने पर भी कुछ नहीं करता। जैसे लोहा अचेतन होने पर चुम्बक के आकर्षण से उसके पास जाता है। वैसे शरीर में सब अचेतन होने पर भी चैतन्य के अधिष्ठान से अपना–अपना कर्म करते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से लोग कर्म करते हैं परन्तु सूर्य स्वयं कुछ नहीं करता और किसी को कर्म में नियुक्त भी नहीं करता। ठीक उसी प्रकार आत्मा को जानना चाहिए।

आत्मा सर्वव्यापी तथा स्वभावतः निर्मल होने पर भी सत्य–असत्य सभी कर्म का मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं द्रष्टा, ऐसा ज्ञान करता है जैसे स्फटिक स्वभावतः निर्मल होने पर भी नाना प्रकार के वर्ण के सहयोग से नाना प्रकार के वर्ण धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा सर्वव्यापी तथा स्वभावतः निर्मल होने पर भी सत्य, रज, तमोगुण के सहयोग से मन, प्राण, इन्द्रिय तथा शरीर के स्वभाव को धारण करता है।

जैसे वाष्पजल में जल की भ्रांति, सीप में चांदी की प्राप्ति, रज्जु में सर्प भ्रांति, दृष्टि दोष से दिग्भ्रान्त तथा दृष्टि की विलक्षणता हेतु एक चन्द्र दो दिखता है। उसी प्रकार यह जगत भ्रांतिमूलक है। धर्म–अधर्म, सुख–दुःख कल्पना, स्वर्ग, नरकवास, जन्म मरण, वर्ण तथा आश्रम ये सब सांसारिक अवस्था में होते हैं। परमार्थ में ये सब नहीं हैं, जैसे एक सूर्य सब जलाशय में भिन्न–भिन्न दिखता है, उसी प्रकार एक आत्मा सब उपाधियों में अर्थात् मन, प्राण, इन्द्रिय तथा शरीर में भिन्न–भिन्न रूप में प्रकाशित होता है।

जैसे जल में सूर्य बिम्ब जल के साथ गमन करता है ओर जल स्थिर रहने से स्थिर रहता है, आत्मा भी उसी प्रकार अंतःकरण के साथ गमन करती है तथा अंतःकरण के साथ स्थिर रहने से आत्मा स्थिर रहती है जैसे राहु अदृश्य होने पर भी चन्द्रविम्ब में प्रकाशित होता है वैसे ही आत्मा अदृश्य होने पर भी जीव की बुद्धि में दृश्य होती है। जैसे निर्मल दर्पण में मनुष्य अपने रूप का दर्शन करता है, उसी प्रकार निर्मल बुद्धि में आत्मा स्वरूप का दर्शन करती है।

पंचभूत, इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन और अंहकार यह सब माया के कारण संसार की सृष्टि तथा रक्षण कार्य करते हैं। इसलिए यह सब त्याज्य है, क्योंकि यह सब बन्धन के निमित्त होते हैं। जिस प्रकार आकाशदि–घटादि वस्तु के अन्दर बाहर स्थित है, उसी प्रकार परमात्मा सब वस्तु के अन्दर तथा बाहर स्थित है अतः उसका बंधन या मोक्ष असंभव है, परन्तु शरीर और मैं या हम, इस प्रकार ज्ञान ही बंधन का कारण है, जैसे रस, गुड़ और शक्कर एक गन्ने से ही उत्पन्न होते हुए भी विभिन्न विकार ग्रस्त होते हैं वैसे एक आत्मा भी विभिन्न प्रकार की अवस्था में होती है।

परमात्मा प्राण आदि असंख्य अवस्था में जाल की तरह कभी अपना विस्तार और कभी संहार करते हुए अपनी महिमा से क्रीड़ा करता है। प्रथम जाग्रत अवस्था में विश्व, द्वितीय स्वप्नावस्था में तैजस अर्थात् सूक्ष्म शरीर उपाधि विशिष्ट चैतन्य, तृतीय सुषुप्त अवस्था में प्राज्ञ अर्थात् आज्ञान उपाधि विशिष्ट चैतन्य, ब्रह्म चैतन्य इन तीन प्रकार के भ्रांत चैतन्य के द्वारा आच्छादित है। ऐसी अवस्था में ज्ञान से स्वयं आत्मा ही बुद्धिस्थ पुरुष अर्थात् आत्मा जैसी उपलब्धि प्राप्त करता है।

जैसे अग्नि से धुआँ ऊपर को जाकर आकाश में नाना प्रकार की आकृतियों को प्राप्त करता है वैसे ही सर्वव्यापी पुरुष माया से सृष्टि रूप द्वैतभाव से प्रकाशित होता है। मन शांत होने से आत्मा शांत, मन प्रफुल्लित होने से आत्मा प्रफुल्लित, मन मुग्ध होने से आत्मा मुग्ध ऐसा भाव होता है। सांसारिक अवस्था में आत्मा का यह सब व्यावहारिक भाव है जो वास्तविक सत्य नहीं है। जैसे धुआँ ऊपर उठकर गगन को मलिन नहीं बना सकता, वैसे आत्मा प्रकृति के विकार से लिप्त नहीं होती। जैसे धुएँ से एक घर मलिन होने पर दूसरा घर मलिन नहीं होता है। उसी प्रकार एक देहस्थ जीव मलिन होने से दूसरा देहस्थ जीव मलिन नहीं होता।

ऐसी आशंका हो सकती है कि जब आत्मा एक ही है, दो नहीं, और वही सब शरीर में है, केवल उपाधि गुण के संसर्ग से जीव संग को प्राप्त किये है तो एक मनुष्य के दोष या गुण से दूसरा मनुष्य क्यों लिप्त नहीं होता? पहले कहा गया है कि आत्मा एक ही है, परन्तु आकाश की तरह निर्मल है और उपाधि गुण से लिप्त नहीं होता तथा उसको बन्धन या मुक्ति कभी नहीं होती। एक आत्मा सब जीव में रहने पर भी सब जीवात्मा और सब जीव एक हैं ऐसा विचार करना असंगत है। भिन्न–भिन्न उपाधि युक्त जीवों के भिन्न–भिन्न कार्यो का शुभाशुभ फलभोग भिन्न–भिन्न जीवों

को ही अवश्य होगा, आत्मा के साथ उसका कोई संपर्क नहीं है। इसलिये यह बात सम्पूर्ण संगत है कि एक मनुष्य के दोष या गुण से दूसरा मनुष्य लिप्त नहीं होता।

जीव के कर्मानुसार संग्रहित फल सुख–दुःख, स्वर्ग अथवा नरक इस जगत में ही भोगे जाते हैं। स्वर्ग अथवा नरक पृथक् स्थान में नहीं है। उसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं, कारण जीव असंख्य प्रकार के कष्ट पीड़ा, सुख–दुःख आदि भोग रहे हैं, जो सभी लोग सदा देख रहे हैं। स्वर्ग अथवा नरक दूसरे स्थान में रहने पर सुख या दुःख इस जीवन में भोगना नहीं पड़ता और पुनर्जन्म भी नहीं होता। जीवन्मुक्त आत्मा को किसी प्रकार का कष्ट भोगना नहीं पड़ता।

मनोवृत्ति के साथ मानव के अवयव का घनिष्ठ संबंध रहता है। वृत्ति और स्वभाव के अनुसार मानव के शरीर के अवयव का तारतम्य होता है। जो अत्यन्त क्रोधी स्वभाव के हैं उसके अवयव शांत प्रकृति विशिष्ट मानव के अवयव से सम्पूर्णतः भिन्न होते हैं। ऐसे अनेक मनुष्य हैं जो मानव के वाह्य रूप को देखकर उसके स्वाभाविक भाव को समझ जाते हैं। सब जीव अपने–अपने भोग के निमित्त शरीर तथा इन्द्रियों से सर्वदा कर्म करते हैं। हम कर्ता नहीं और कोई वस्तु भी हमारी नहीं, ऐसा ज्ञान होने से जीव कर्म से बंधन से ग्रस्त नहीं होता।

परमात्मा इस व्यक्त और अव्यक्त विश्व के पिता हैं। आत्मा परीक्षा रूप से भोग में आबद्ध है। ऐसा जानने से बन्धन से मुक्ति होती है। संसार का बंधन आत्मा नहीं है, परमात्मा का अनुसरण करना ही मोक्ष लाभ का हेतु है। आत्मा की उत्पत्ति अथवा विनाश नहीं, उसे हमेशा ब्रह्म सत्ता का आश्रय प्राप्त है।

जब जीवात्मा उपाधियुक्त होती है, तब वह परमात्मा से स्वतंत्र और अनेक रूप होती है। जब उपाधि रहित होती है तब एक रहती है। इस जगत में प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा के अंश रूप में विराजमान है। आत्मा शुद्ध निर्गुण तथा निर्मल है। परन्तु प्रकृति के सहयोग से अशुद्ध, सगुण मलयुक्त बन जाती है। जब तक आत्मा प्रकृति के साथ संयुक्त रहती है, जब तक उसे सुख–दुःख, हर्ष–विषाद इत्यादि भोगना पड़ता है, तब तक आत्मा शरीर पर अधिकार किये रहती है, उसका संसार का सुख–दुःख भोगना पड़ता है और जब शरीर छोड़ देती है तब उसको सुख–दुःख का ज्ञान नहीं रहता।

जिस प्रकार बालक नग्न रहता है वैसे ही जगत् की बाल्यास्था में उस समय के

जगतवासी भी नग्न रहते थे। जैसे बालक को नग्न होने पर कोई लज्जा नहीं होती उसी प्रकार उस समय के जगद्वासियों को लज्जा ज्ञान नहीं था।

साधुगण का परित्राण करने के लिये, पापीगण का संहार करने के लिये और धर्मसंस्थापन करने के लिये परमात्मा प्रत्येक युग में अवतार लेकर, साधुओं के हृदय में बसकर जीवों को आदर्श मार्ग दिखाते हैं। किसी भी शास्त्र का पाठ करने से ईश्वर को हृदयंगम किया नहीं जा सकता, परन्तु भक्तिभाव से और मनोयोग पूर्वक इन विषयों का पाठ करने से पुण्यवान् मनुष्यमात्र ईश्वर को हृदयंगम तथा हृदय में अवरुद्ध कर सकते हैं।

जिस प्रकार प्रज्जवलित अग्नि से सहस्त्रों चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही अक्षय परमात्मा से नाना प्रकार के जीवात्माओं की सृष्टि हो रही है तथा वे सभी उन्हीं में लीन हो रहे हैं। परमात्मा से उत्पन्न होकर अन्त में परमात्मा को ही प्राप्त करते हैं, इसलिये यह निश्चित है कि आत्मा व जीवात्मा एक परमात्मा से ही समुत्पन्न होते हैं। ज्ञानीमात्र यह जानते हैं कि आत्मा, जीवत्मा तथा परमात्मा परस्पर संयुक्त हैं।

संक्षिप्त : विश्वपति की विश्व सृष्टि का अपार सृष्टि–कौशल साधारण मनुष्य की बुद्धि के परे होता है। जीव सृष्टि के आरंभ में जगत में केवल पंचभूत और परमात्मा का ही अस्तित्व विद्यमान था। वही पंचभूत सृष्टि के उपादान के रूप में गृहीत हुआ।

उसी नित्य चैतन्य स्वरूप परमात्मा से पहले आकाश का सृजन हुआ फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। उत्पत्ति के बाद आकाशादि के कारण गुण के तारतम्य से सत्व, रज एवं तमोगुण उत्पन्न हुये। उस अवस्था के सूक्ष्मभूत से सूक्ष्म शरीर एवं स्थूलभूत से स्थूल शरीर उत्पन्न हुए हैं।

सप्तदश अवयवयुक्त शरीर को सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। सप्तदश अवयवयुक्त शरीर यथा–पंच ज्ञानेन्द्रिय, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् ये सब आकाश के पृथक्–पृथक सात्विक अंश से उत्पन्न होते हैं। पंचकर्मेन्द्रिय–वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ, ये आकाश के तमस अंश से उत्पन्न हुए हैं।

पंच वायुः प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। ये आकाशदि के रजः अंश से उत्पन्न हुई हैं।इनके अतिरिक्त सप्तदस अवयवों में अन्य दो हैं बुद्धि और मन। बुद्धि निश्चयात्मक की अंतःकरण वृत्ति।

शरीर तीन प्रकार के हैं– स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर। तीनों प्रकार के शरीर में पांच–पांच कोष हैं – अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। इन पंचकोषों में ज्ञान शक्ति सम्पन्न विज्ञानमय कोषकर्ता है।

जीवों के कर्म द्वारा संचित पंचीकृत पंच महाभूतों द्वारा निम्रित यह स्थूल शरीर सुख और दुःख भोगने का स्थान है। अनिर्वचनीय, अनादि अविद्या के समस्त प्रपंचों को कारण शरीर कहते हैं। जो कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर से भिन्न है, उसे आत्मा कहते हैं।

आत्मा अति निर्मल होते हुए भी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पंचकोषों के संयोग से कोषमय प्रतीत होती है। जीव के संचित कर्मफल के अनुसार पंचभूतों से निर्मित यह स्थूल शरीर सुख–दुःख भोगने का स्थान है। पंच महाभूत–इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन और अंहकार यह सब माया के कारण संसार की सृष्टि तथा रक्षण के कार्य करते हैं।

परमात्मा का अनुसरण करना ही मोक्ष प्राप्ति का हेतु होता है। आत्मा की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं है। उसे हमेशा ब्रह्मसत्ता का आश्रय प्राप्त है। अक्षय परमात्मा से नाना प्रकार के जीवात्मा सृष्ट हो रहे हैं और उसी में लीन हो रहे हैं। आत्मा और परमात्मा तथा जीवात्मा परस्पर संयुक्त हैं।

संसार

संसार किसे कहते हैं? सब लोग जानते हैं कि आप स्वयं और स्त्री, संतान, आत्मीय और स्वजन मिलकर संसार है। कुछ धन उपार्जन कर इन लोगों का प्रतिपालन करना ही परिवार का प्रधान कार्य है। छोटे–बड़े सब लोग जीवन भर इसी में मोहित हो रहे हैं। माया से मुग्ध होकर कौन पिता, कौन माता, कौन भ्राता, कौन आत्मीय और कहाँ से आये हैं, कहाँ जायेंगे, किस निमित्त आये हैं, किस कारण शरीर धारण किये हैं, कौन यहाँ लाया, किसने किस कार्य को पूरा करने के लिए मुझे यहाँ भेजा है? इसकी चिन्ता न कर आत्म–विस्मृत हो रहे हैं। कभी धनी, कभी मानी, कभी ज्ञानी ऐसी धारणा करके उल्लास युक्त हो रहे हैं, कभी शोक, कभी ताप, कभी रोग, कभी निन्दा, कभी धन की चिन्ता से क्षुब्ध हो रहे हैं। कभी शुद्र, कभी वैश्य, कभी क्षत्रिय, कभी ब्राह्मण वर्ण में अपने को वरण कर रहे हैं। कभी भोगी, कभी त्यागी, कभी योगी बनकर इन अवस्थाओं को अपना रहे हैं। कभी क्रोध में उन्मत होकर परपीड़न के निमित्त उत्तेजित हो रहे हैं। कभी लोग के वशीभूत होकर परद्रव्य हरण में व्यस्त रहते हैं। कभी मोहान्ध होकर किसी को अपना और किसी को पराया समझते हैं। कभी विषयमद में उन्मत्त होकर जगत को तृणवत् तुच्छ मानते हैं।

मानव, तुम एक बार सोचकर देखो कि तुम्हें अंहकार करने का क्या अधिकार है जिनके सम्मुख समस्त पृथ्वी एक धूलकण, सूर्यमण्डल छोटे से गोलक, महासमुद्र गोष्पद तुल्य है, वहाँ तुम्हारे इस छोटे से शरीर और लघु प्राण की कोई गणना नहीं। तुम धूलकण के भी एक क्षुद्र परमाणु के तुल्य एक सामान्य अंशमात्र हो, वहाँ तुम्हें अंहकार कैसे ? तुम सत्वः, रजः, तमः इन तीन गुणों के आवरण से अपने नेत्र को आच्छादित किये हुए हो। सूक्ष्म रूप परिहार का स्थूल शरीर धारण किये अभी अपने आपको पहचान नहीं पा रहे हो। अभी भी समय व्यतीत नहीं हुआ है। अब भी आत्मतत्व निर्णय करके पहचान लो कि तुम कौन हो और किस कारण यहाँ आये हो ?

सभी लोगों को 'मैं और मेरा', 'हम और हमारा' इन शब्दों ने मुग्ध कर रखा है। किसी और का पुत्र अति रूपवान होने पर भी हमारा चित्त सहसा इतना आनन्दित नहीं होता जैसे अपना पुत्र कुरूप होने पर भी उसको बारम्बार देखकर भी नयनों की तृप्ति नहीं होती। जो कार्य दूसरों के लिए करना पड़ेगा, वह सामान्य होने पर भी अति श्रम साध्य और कष्टकर जैसा बोध होता है परन्तु उससे सौ गुणा कष्टकर कार्य 'हमारा' का बोध लेकर यत्न के साथ करने पर भी विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होगा। यदि दूसरे का कोई द्रव्य तुम्हारे अधिकार का हमारे अधिकार में रहे और वह अपने को फिजूल लगे, तो भी तुमको लेशमात्र भी दुःख नहीं होगा परन्तु उसी द्रव्य पर हमारा ऐसा कहने का अधिकार मिले तो यत्न और ममता की सीमा नहीं रहती। आज जिसको तुम्हारे जैसा कहकर निन्दा कर रहे हैं कल अगर वह हमारा हो जाय तो मुख से प्रंशसा के फूल झरेंगें इस माया राक्षस 'हमारा' शब्द के कुहक जाल में कीट से लेकर ब्रह्म तक सब प्राणी मोहित हो रहे हैं। हम जिसे हमारा कहते हैं, वह हमारा नहीं है। जिस वस्तु को पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, काल के वश में वह किसका होगा– यह बात कोई नहीं कह सकता।

हमारी बुद्धि ने हमारा सर्वनाश किया है। वास्तव में तब क्या हमारा कोई भी नहीं है? जब जान गये कि हमारा कहकर जो हैं हम उनके होना नहीं चाहते, इसलिए वे हमारे नहीं है। शास्त्र कहते हैं सब कुछ उनका है पर उनका कहना है कि सब कुछ हमारा है। इस सामान्य धन, पुत्र, सुख–सम्पत्ति को अपना कहने से कितना आनन्द मिलता है परंतु एकबार सरल चित्त और भक्ति भाव से अनन्त ब्रह्माण्ड को अपना कह सकें जिसमें हम हैं तो न जाने कितना अपूर्व आनन्द मिलेगा।

मानव तुम विद्वान बनने के लिए कितनी पुस्तकें पढ़ते हो, साहित्य, इतिहास, भूगोल, ज्यामिति, गणित तथा नाना प्रकार के शास्त्र पढ़ते हैं परन्तु जिस पुस्तक का पाठ करके तुम आसानी से पण्डित बन सकते हो, उसको नहीं पढ़ते और न पढ़ने की इच्छा रखते हो। तुम दूसरे लोगों की भाषा, दूसरे लोगों की जीवनी याद करते हो परन्तु अपना क्या है और क्या नहीं है, उसको तुमने नहीं देखा और न देखने का आग्रह ही किया। मनुष्य मात्र एक ग्रंथ विशेष है। अपने आप पाठ करने से जीवन के सब विषयों को जाना जा सकता है।

अपने शरीर के अस्थि, चर्म, मांस, मेद, मज्जा, स्नायु, शिरा, रस, रंग इत्यादि के गठन, परिमाण, गतिविधि को अगर अच्छी तरह समझ सको तो देखना भगवान ने कितने सुचारूप से तुम्हारे शरीर का निर्माण किया है। कैसे स्वर–ताल मिलाकर शरीर की प्रत्येक क्रिया सम्पादित हो रही है। कैसे पंचतत्वों में पंचतन्मात्राओं में नृत्य हो रही हैं। कैसे इन्द्रियाँ यम–नियम से क्रीड़ा कर रही हैं। इनमें से एक भी वृत्ति का कार्य अगर गड़बड़ा जाय तो शरीर में महाप्रलय की स्थिति उतपन्न हो जाय। गुरु कृपा से ही अपने जीवन ग्रंथ को अच्छी तरह रखा जा सकता है। यदि उसका पाठ कर सको तो तुम्हारा और अन्य लोगों का विशेष उपकार हो सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति एक पुस्तक है। गर्भवास उस पुस्तक की जिल्द, कर्मफल उसका सूचीपत्र, दीक्षाग्रहण उसका विज्ञान, शैशव, किशोर, यौवन, वार्धक्य उसके एक–एक अध्याय, जीवन के अच्छे–बुरे कर्म उसके पाठ्य विषय हैं। जो दरिद्र और साधारण वस्त्र पहने रहते हैं, वे सादी जिल्ददार पुस्तक हैं, जो धनी, जमींदार, राजा–महाराज कहे जाते हैं। वे सोने के पानी से लिखे हुए जिल्ददार एक–एक वृहद ग्रंथ हैं। जो अल्पायु होकर विशेष कुछ कार्य नहीं करते और यों ही मर जाते हैं, वे छोटी–छोटी पुस्तकें हैं और जो दीर्घायु होकर महत् कार्य कर जाते हैं वे वृहद ग्रंथ हैं और जगत में सबके लिए आदर्श पाठ्यपुस्तकों के रूप में होते हैं।

जो दूसरों को सद्मार्ग पर चलने का उपदेश करते रहते हैं और स्वयं कुछ नहीं करते, वे व्याकरण हैं। जो राजा–महाराजा आदि बड़े आदमियों की कहानी सुनाकर सभा और समाज को उलझाये किये रहते हैं, वे इतिहास हैं। जो जगत् के लौकिक लाभ–हानि का विचार करते हुए दिन काटते रहते हैं, वे गणित के शास्त्र हैं। जो जड़ जगत के विषय में चिन्ता करना ही श्रेष्ठ समझते हैं वे भूगोल हैं। जो केवल रंग–रस, आमोद–प्रमोद और विलासिता को जीवन का सार समझते हैं, वे नाटक हैं। जो परोपकार सत्य, दया, निष्ठा, वेदाध्यान, धर्म–चर्चा आदि करते हुए कालयापन करते हैं, वे धर्मशास्त्र हैं। जो वैषयिक व्यापार से स्वतंत्र होकर भक्तिपूर्वक भगवान की आराधना करना ही जीवन का प्रधान कार्य समझते हैं, वे योग शास्त्र हैं। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य एक–एक ग्रंथ हैं। केसा कार्य करो जिससे तुम्हारा अपना जीवन–ग्रंथ खुद परम्परा के रूप में लिखित हो और तुम सबके लिए पाठ्य बनो। मृत्यु के बाद भी तुम्हारा जीवन चरित्र पुनः पुनः मुद्रित हो।

अपने जीवन चरित्र की उसी तरह रचना करो। सब पुस्तकों के अंत में समाप्त अर्थात् मृत्यु लिखा जाता है। इस बात को सदा स्मृति में रखना।

मनुष्य मात्र को सोचना चाहिए कि हम कहाँ थे, कहाँ आये, किस निमित्त आये और आकर क्या किया? यहाँ हमको कौन लाया, किस तरह लाया और किस निमित्त लाया, क्या इस पर भी हमने विचार किया है? यहाँ आकर कितना कुछ देखा, कितना कुछ सुना, कितना कुछ कहा, कितना कुछ सोचा? परन्तु देख, पुनः सोचकर भी कुछ निर्णय नहीं कर सका। यहाँ पिता–माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु–बान्धव, धन, जन, सुख सम्पत्ति मिली। यहाँ सब मिला पर किसी प्रकार की तृप्ति नहीं मिली। अनेक भाषायें सीखीं, अनेक देशों का भ्रमण किया, अनेक वस्तुएँ देखीं, अनेक मनुष्यों के साथ रहे पर असली सुख नहीं मिला। मन और बुद्धि में मेल (प्रणय) नहीं हुआ। दोनों में हमेशा भंयकर संग्राम चल रहा है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का विवाद लगा ही है। संसार सागर में प्रलय तूफान दिन–रात उठ रहा है। जिधर देखते हैं, उधर सम्प्रदाय को लेकर मतभेद चल रहा है। सब लोग अपने–अपने मत को चलाने में व्यस्त हैं, कोई कह रहा है, कोई सुन रहा है, कोई समझ रहा है, कोई चुपचाप बैठकर तमाशा देख रह है, कोई आंदोलन कर रहा है, कोई शासन कर रहा है, कोई पालन कर रहा है, कोई सिहांसन पर तो कोई धरासन पर बैठा हुआ है। कोई रो रहा है, तो कोई हँस रहा है, कोई अवाक् होकर बैठा है। संसार में सभी लोग घूम रहे हैं ओर चीत्कार कर रहे हैं– यह सब देखकर चिन्ता ही बढ़ रही है, पर सुख कुछ भी नहीं मिल रहा है। ऐसा अनुभव होता है कि किसी असली वस्तु के अभाव में दिन–रात इतने कष्ट और यंत्रणा भोग रहे हैं।

जो भगवत्चिन्ता के गंभीर सागर में मग्न हैं, वे ही परम सुखी हैं, उन्हीं को किसी बात की चिन्ता नहीं रहती। गुरु जिनको जानने, पहचानने के लिए उपदेश देते हैं। अन्दर–बाहर, सामने–पीछे सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी जिसको कोई पकड़ नहीं सकता, लेकिन वे सबको धारण किये हुए हैं। हम कौन? इसका परिचय नहीं मिलता। हमारा कौन? इसको नहीं समझा। हम, तुम, वह आदि शब्दों से किसको निर्देश करते हैं उसके तत्व को नहीं जाना। जिनका संसार, जिनका सर्वस्व, जिनके हम इत्यादि सभी हैं, उनको सर्मपण न कर 'मैं' कर्त्ता बनकर बैठ गया है। जिनका नाम लेने से आनन्द मिलता है, जिनका चिन्तन करने से भय भावना दूर हट जाती है,

जिनका स्मरण करने से विपद–संपद समान हो जाती हैं। जिनके श्रीचरणों में आश्रय लेने से जीव को जन्म, मृत्यु स्पर्श तक नहीं कर सकती, उनको जानने की चेष्टा नहीं की, तब मानव जन्म पाकर क्या किया ?

हम संसार–सुख में जीवन भर आसक्त रहते हैं। हम संसार के दास और अनुरक्त बनकर अपने को परम सुखी अनुभव करते हैं और संसार को अपने प्राण से अधिक प्यार करते हैं। जब देखते हैं कि यह गृह, बाग–बगीचे, तालाब, विषय सम्पत्तियों के हम एकमात्र मालिक है, तब हृदय में आत्म गौरव समाता नहीं, जब देखते हैं कि हमारी रूपवती युवती भार्या, हमारा पुत्र, हमारा भृत्य सब लोग ललक भरे भाव से हमारी ओर और मुँह करके ताक रहे हैं, नाना प्रकार की सुसज्जित सवारियाँ हमारे सामने खड़ी हैं, तब हमारे आनन्द की सीमा नहीं रहती। जब हमारा यश फैला, राजद्वार से सम्मान मिला, सैकड़ों हमारी प्रशंसा कर रहे हैं, तब हम आनन्द में मग्न हो जाते हैं। संसार की मोह–निद्रा में इस तरह डूबे रहते हैं।

मनुष्य आयु बढ़ने लगती है, जब आत्मज्ञान आने लगता है तथा मोहनिद्रा भंग होती है तब विषय सुख, कोमल शय्या अच्छी नहीं लगती। सुखमय संसार विषयमय जैसा प्रतीत होने लगता है। भोग–विलास विकट रूप से दंश करने लगता है, तब मन ही मन कहते हैं– संसार में अब और नहीं सोयेंगे, जिस देश में, संध्या नहीं, शर्वरी नहीं, निद्रा नहीं, स्वप्न नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, हम ऐसे देश में जाकर रहेंगे। जिनके पास मधुर स्वर, असीम दया, अतुलनीय स्नेह उसी के शरणागत होंगे। जीवन भर जो–जो अन्यायपूर्ण कार्य किया, वह सब मन में उदित होने लगते हैं और आक्षेप करता हुआ मन ही मन बोलने लगते हैं– दयामय हरि! हम सुनते हैं कि तुम भक्तों के प्रति दयालु और सहायक हो, तुम साधुओं के सर्वस्व धन हो, तेरी महिमा अपार है, जो तुम्हारा आश्रित बनता है, तुम उसके प्रति दया करते हो, हे अनाथों के नाथ! तुम दया कर दर्शन दो। तुम्हें देख नहीं सकते, हम महापापी हैं, हमें तुम्हारे अभय पदचरणों में स्थान दो। जिस मार्ग पर चलने से तुम्हारा दर्शन मिलता है, हमें कृपा कर बता दो, तुम्हारे आदि–अन्त का बोध होना हमारे लिए असंभव है, कृपा करके हमारी आशा पूर्ण कीजिए।

अपने को बिना जाने–पहचाने तुम किसके लिए धर्म–साधना करोगे और किसके बन्धन–मोचन करने के लिए ज्ञान का उपार्जन करोगे।

पहले तत्व निरूपण करके देखें, तुमको दुःख या बन्धन है या नहीं। कहाँ और किस अवस्था में हो, सर्वत्र आत्मसत्ता वर्तमान है। सुयोग के सहयोग से जब जगत को आत्ममय देखोगे, तब प्रत्यक्ष रूप से देख सकोगे कि तुम कौन हो और कहाँ से आये हो, तब किसी को संशय और भेद ज्ञान नहीं रहेगा।

सब लोग गुरु के चरणों में मन–प्राण का समर्पण करके साथ बोलें–जय गुरुदेव! अबोध शिष्य के प्रति कृपा–वितरण कीजिये। आप हमारी गति, आप हमारी मुक्ति हैं। आपने आत्ममंत्र मात्र से जिनको लक्षित किया है, उन्हें आशीर्वाद दीजिये, जिससे उनकी पूर्णसत्ता में अपनी सत्ता समर्पण कर सकें। अगर मैं ऐसा नहीं कर सकता तो मानव जीवन पाकर और आपके अभयदायक चरणों का स्मरण कर मैंने किया क्या ?

संसार के सब लोग अर्थ की चिन्ता में मग्न है। संसार में जो कुछ अनर्थ, अनिष्ट, दुर्घटनाएँ हैं, इन सबके मूल में अर्थ का कारण प्रमुख है।धनहीन होने से जितना अनिष्ट है, धनशाली होने पर भी उतना ही अनिष्ट होता है। धन न होने से जितना क्षतिग्रस्त होता है, धन होने पर उतना ही क्षतिग्रस्त होता है। धन चिन्ता का सहोदार है। तुम धनवान हो तुम्हारी चिन्ता की सीमा नहीं। हम निर्धन हैं, हमारे कष्ट एवं चिन्ता की सीमा नहीं। तुम्हारे पास धन है, तुम उसके रक्षण और वृद्धि के लिए सर्वदा चिंतित हो, हमारे पास धन नहीं है, हम कैसे धनवान बनेंगे? किस उपाय से धन का उपार्जन होगा, उसी चिन्ता में शरीर जीर्ण हो रहा है। धन रहने पर उसे खोने का डर लगा रहता है। न रहने पर उसे पाने की चिन्ता सदा सताती है। इसका संयोग तथा वियोग दोनों ही असत्य है उससे दूर रहने पर भी छुटकारा नहीं मिलता।

धन की लीलाभूमि अदृष्ट है। ईश्वर ही अदृष्ट लिपि के लेखक हैं। जीव के सुकृत और पूर्वजन्म के कर्मफल के अनुसार उसकी अदृष्ट को लिपिबद्ध करते हैं, अर्थ उसी लिखित अंश को कार्यारूप में परिणत करने के लिए कर्मफल प्रदान करता है। धन सदा चंचल है, कभी एक स्थान पर नहीं रहता, धन के लिए कोई अगम्य स्थान नहीं है और उसे लज्जा का भी लेश नहीं है। इसलिए धोबी व चाण्डाल का भी आलिंगन करता है। धन का हृदय नहीं है, एक का सर्वनाश करके दूसरे को सुखी बनाता है फिर उसी का सर्वनाश करके तीसरे की वासना पूर्ण करता है।

इस सामान्य अर्थ से भिन्न एक अर्थ और है जिसकी तुलना नहीं है और जिसको पाने से अन्य किसी अर्थ का प्रयोजन नहीं रह जाता है– वह है परमार्थ। मोक्ष प्राप्ति के लिए साधुगण संसार के अर्थ का त्यागकर परमार्थ प्राप्ति के लिए सदा सचेष्ट रहते हैं। संसार में परमार्थ ही सार वस्तु है, यह अविनश्वर है और उसका फल भी अनन्त है। पार्थिव धर्म तथा अर्थ जीवन के अन्त में लुप्त हो जाते हैं, परन्तु परमार्थ का विनाश नहीं है। वह आत्मा के साथ जाता है। जिसकी इच्छा और भावना जैसी होती है उसको सिद्धि भी वैसी ही मिलती है। आकांक्षा के बिना किसी कार्य की प्रवृत्ति नहीं होती, फिर उस कार्य में सिद्धि भी उसके अदृष्ट में वही घटती है जैसा मनुष्य कार्य करता है। मनुष्य जो करता है, उसके शुभ–अशुभ की कामना किये बिना वह कार्य नहीं करता।

धार्मिक मुक्ति कामना के लिए धर्मानुष्ठान करता है, चोर धन की कामना लेकर चोरी करता है, मनुष्य पुत्र कामना लेकर विवाह करता है, बालिका गुणवान पति पाने के लिए व्रत करती है, इस प्रकार प्रत्येक कार्य के मूल में कामना रहती है। कामना के बिना कार्यारंभ नहीं होता। कार्य बिना संसार नहीं चलता। संसार बिना चले सृष्टिकर्ता की सृष्टि का नाश हो जाता है। कार्य करके फल की कामना करना अनुचित नहीं। इन सब कार्यो के फल की इच्छा करना ईश्वर की इच्छा नहीं। जैसे श्रम करके धन का उपार्जन करना उनकी इच्छा पर निर्भर है। कार्य के गुण और अवगुण पर विचार करना चाहिए और ऐसा विचार करने के लिए विवेक की सहायता लेनी चाहिए। विवेक सब मनुष्यों में न्यूनाधिक कुछ न कुछ है। इस विवेक के बल से मनुष्य के मन में कार्य के गुण और अवगुण अपने से ही उदित होते हैं। मनुष्य जब तक कार्य के अच्छे या बुरे फल को नहीं जानता तब तक उसको करता रहता है और कार्य के फल को जानने पर उसे नहीं करता। वह केवल उसके हृदय की दुर्बलता है। सब लोग अब जान गये कि सकाम करने से स्वर्ग मिलता है और निष्काम करने से मोक्ष मिलता है। जब सभी कार्यों का अच्छा या बुरा फल है, तब उसे भोगना ही पड़ेगा।

वह उसी महती शक्ति के अधीन है, इसलिए हम हमारा नहीं करना चाहिए। उनको नहीं पहचाना इसलिए अपने को नहीं पहचाना। जिसने अपने को पहचान लिया उसने भगवान को जान लिया और संसार क्या है यह भी अच्छी तरह समझ लिया। संसार एक वृक्ष है। आशा उसका फूल है, दुःख उसका फल है, भोग उसका

पत्ता, तृष्णा उसकी शाखा है। परमात्मा ही उस जगत की उत्पत्ति के निमित्त कारण हैं। उस ब्रह्म को छोड़कर और कुछ कल्पना नहीं की जा सकती।

सब लोग सोचते हैं कि मनुष्य स्वाधीन है, परन्तु ऐसा सोचना गलत है। मनुष्य अगर स्वाधीन है तो अपनी इच्छा के अनुसार वह कार्य क्यों नहीं कर सकता? मनुष्य में वासना रहते हुए भी उसमें कार्य पूरा करने की क्षमता क्यों नहीं है? मनुष्य की इस दुर्दशा का क्या कारण है? हम अपने प्राण को जाने को नहीं कहते फिर भी वह जाता क्यों है? जो हमारी आज्ञा की अपेक्षा नहीं करता। कहने पर बात नहीं मानता, वह हमेशा बलवान है या नहीं? इस दुखमय संसार में हम अपनी इच्छा से नहीं हैं। हम आना चाहें तो नहीं आ सकते और जाना चाहें तो नहीं जा सकते। शरीर रक्षा के लिए जो कार्य चल रहा है उस पर भी हमारा कोई अधिकार नहीं है। मस्तिष्क, परिपाक, शोणित के कार्य पर भी, यदि इन कार्यों पर भी हमारा तिलमात्र अधिकार नहीं है तब हम स्वाधीन कैसे? थोड़ा विचार करने पर जाना जा सकता है कि हमारे शरीर में हमसे शक्तिशाली और कोई है, मनुष्य मात्र, पूर्ण रूप से उन्हीं के अधीन है। मनुष्य मात्र सम्पूर्ण उन्हीं के अधीन है। मनुष्य की इच्छा और अनिच्छा उस महती शक्ति के अधीन है। इसलिए हम हमारा नहीं। उसको नहीं पहचाना इसलिए अपने को भी नहीं नहीं पहचाना। जिसने अपने को पहचान लिया उसने भगवान को भी जान लिया और संसार क्या है उसको भी अच्छी तरह अपने को भी समझ लिया।

अग्नि से उत्पन्न अग्नि दाहिका शक्ति जैसी ही है, वैसे ही ब्रह्म से उत्पन्न यह जगत भी ब्रह्म ही है। वस्तुतः संसार कुछ है ही नहीं, सब केवल ब्रह्म ही है। जैसे अंधकार दूर होने पर यह दृश्य जगत दृष्टिगोचर होता है वैसे ही अवस्तु का क्षय होने पर जो असली वस्तु है, वह निर्मल रूप से प्रतिभासित होती है।

संक्षिप्तः संसार सृष्टिकर्ता परमेश्वर की लीला भूमि है। मनुष्य को जब तक मुक्ति नहीं मिलती तब तक अपने कर्मफल को भोगने के लिए बार–बार इस संसार में जन्म लेना पड़ता है।

जन्म के बाद ही मनुष्य संसार के मायाजाल में फंस कर अपने स्वरूप को भूल जाता है और इस दृश्यमान अनित्य संसार के मोह के वशीभूत होकर, हम कौन हैं, कहाँ से आये, क्यों आये, आत्म विस्मृत होकर अनित्य स्थूल वस्तु के पीछे भटकता रहता है। सब कुछ हमारा है, सोच कर मुग्ध रहता है। वास्तव में हमारा कुछ भी नहीं,

संसार छोड़कर और कुछ–सुख यहाँ से उपलब्ध करने का विचार मन में उठता नहीं पर सब कुछ पाते हुए भी किसी चीज की कमी मन में सदा महसूस होती रहती है।

संसार में सभी लोग सदा अर्थ चिन्ता में डूबे हुए हैं। सामान्य अर्थ से भिन्न संसार का और भी गंभीर अर्थ है जिसे जानना ही संसार की सार वस्तु है वह है परमार्थ। पार्थिव धर्म तथा अर्थ जीवन के अन्त में लुप्त हो जाता है परमार्थ कभी ध्वंस नही होता वह आत्मा के साथ–साथ जाता है।

मनुष्य में ईश्वर का श्रेष्ठ दान है विवेक। विवेक सब मनुष्य में कुछ न कुछ है ही। इस विवेक के बल से सभी कार्य के गुण–दोष अपने से ही मनुष्य के मन में उदित होते है। सकाम कर्म से मोक्ष नहीं मिलता है अतः निष्काम कर्म करके सब परमात्मा में समर्पण करना ही मोक्षप्राप्ति का रास्ता है। इस संसार में सर्वत्र परमात्मा की आत्मसत्ता वर्तमान है। सुयोग के सद्व्यवहार से सब जगत को आत्मवत देखना–सीखना ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का उपाय है। ब्रह्मज्ञान से अन्धकार दूर होता है और निर्मल ज्ञान प्रतिभासित होता है, वही मोक्ष है।

गुरु व शिष्य

गुरु किसको कहते हैं और उसकी आवश्यकता क्या है ? गुरु शब्द का अर्थ–'ग' अक्षर से गतिदाता, 'र' अक्षर से सिद्धिदाता और 'उ' अक्षर से सबका कर्ता। अतः ईश्वर को ही एकमात्र गुरु कहा जा सकता है क्योंकि उनके बिना जीवन को गतिमुक्ति नहीं मिलती। जो गति मुक्ति का पथ प्रदर्शन करते हैं, उनको भी गुरु कहा जा सकता है और इस कारण ईश्वर में और गुरु में विशेष अंतर नहीं है। गुरु को सगुण ईश्वर भी कहा जा सकता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि 'ग' अक्षर से अंधकार, 'रु' अक्षर से निवारक अर्थात् जो अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट कर देता है, उसको गुरु कहा जा सकता है। अतः गुरु को भी मनुष्यवत नहीं समझना चाहिए। गुरु के सन्निकट रहने से अन्य किसी देवता की अर्चना नहीं करना चाहिए और अगर किसी ने की तो वह फलीभूत नहीं होती है।

गुरु ही कर्ता, गुरु ही विधाता और गुरु के संतुष्ट होने से सर्वदेवता संतुष्ट होते हैं। गुरु यह दो अक्षर जिसकी जिह्वा के अग्र भाग पर रहता है उसको शास्त्राध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं है। 'ग' वर्ण के उच्चारण से महापाप का नाश होता है। 'उ' वर्ण के उच्चारण से इस जन्म का पाप नष्ट होता है और 'रु' वर्ण के उच्चारण से पूर्व जन्म का पाप नष्ट होता है। गुरु ही माता–पिता एवं एकमात्र गति है। शिव अगर रुष्ट हों तो गुरु रक्षा कर सकते हैं परन्तु गुरु के रुष्ट होने से किसी का उद्धार नहीं हो सकता। संसार में गुरु से श्रेष्ठ वस्तु कोई है ही नहीं। जप, तप, पूजा–अर्चना, शास्त्र मंत्र आदि गुरु से श्रेष्ठ नहीं है। जो गुरु की मूर्ति का ध्यान और उनके तत्व का सदैव जप करते हैं, उनको काशीवास का फल मिलता है। गुरु ही तारक ब्रह्म है।

गुरु प्रणाम मंत्र के भावार्थ को अच्छी तरह हृदयंगम करना चाहिए अन्यथा केवल उच्चारण करने से कुछ प्राप्त नहीं हानेवाला। भक्ति भाव से कार्य करने पर

1. गुरुब्रह्मा गुरुविष्णु गुरुदेवो महेश्वरः।
गुरुरेव परमब्रह्म तस्मे श्री गुरुवे नमः ।।
2. अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।
3. अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।

1. गुरु ही ब्रह्म, गुरु ही विष्णु, गुरु ही देवाधिदेव महेश्वर और गुरु ही परम ब्रह्म हैं। ऐसे गुरु को हम प्रणाम करते हैं।

2. समस्त ब्रह्माण्ड जिनका आधार है, जो चराचर जगत में व्याप्त है जो ब्रह्मपद का दर्शन कराते हैं, उस गुरु को प्रणाम है।

3. जो अज्ञान के अंधकार में अंधजनो को ज्ञान रूपी अंजन शलाका द्वारा उन्मीलित करते हैं, उस गुरु को प्रणाम है।

गुरु दो प्रकार के होते है – शिक्षा गुरु व दीक्षा गुरु। गुरु के उपदेश बिना सामान्य वृक्ष, लता का भी परिचय अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता है। मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रियाँ ये सब और एक प्रबल शक्ति के द्वारा परिचालित हुए बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। जिस शक्ति के द्वारा हमारी आत्मा की उन्नति होती है और हम मुक्ति की ओर अग्रसर हो सकते हैं, वही शक्ति हमारी गुरु है। दो शक्तियों के सम्मिलित घर्षण के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता और इन दोनों शक्तियों में जो शक्ति प्रबल होती है, वही दूसरे की गुरु होती है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादि जिन शक्तियों के इशारे से अपना–अपना कार्य निरन्तर सम्पादित कर रह हैं, वही जगद्गुरु हैं। ऐसे जगद्गुरु को जानने के लिए जब जीव के मन, प्राण व्याकुल होते हैं तब गुरु तत्वज्ञान का उपदेश देकर जीव के पथ को स्पष्ट और सुगम कर देते हैं, वही दीक्षा गुरु होते हैं और जगद्गुरु जो मायाजाल स्वरूप इस ब्रह्माण्ड के परमाणु से लेकर विश्व व्यापार तक वाह्य और अन्तर के तत्व को समझाते हैं वही शिक्षा गुरु कहलाते हैं। एक कीट से लेकर ब्रह्म तक सब कोई शिक्षा गुरु हो सकते हैं।

सभी जानते हैं कि वृक्ष, लता, पशु, पक्षी आदि सब कितने समय में कितनी शिक्षाएँ दिया करते हैं। सीखने के लिए जहाँ भी जायेंगे वही कुछ न कुछ सीखने लायक अवश्य मिलेगा। शिक्षा के द्वारा जीव का परमात्मा का दर्शन करने में सहायता मिलती है। सूक्ष्म तत्व लाभ करने के लिए शिक्षा प्रथम सोपान है

और दीक्षा दूसरा सोपान। शिक्षा दीक्षा के अनुकूल होनी चाहिए। विधिवत शिक्षा न होने से दीक्षा फलीभूत नहीं होती। इस कारण शिक्षा देने के लिए सुशिक्षित व दीक्षित सद्गुरु का होना आवश्यक है। जो शिक्षा तत्व व दीक्षा तत्व को पृथक समझते हैं, वे शिष्य को विशेष रूप से सुशिक्षित नहीं कर सकते। जैसे शैशव यौवन की ओर यौवन वृद्धावस्था की पूर्वावस्था होती है वैसे ही शिक्षा दीक्षा की पूर्वावस्था होती है। दीक्षा के द्वारा संशय का नाश, यर्थाथ ज्ञान तथा दिव्य दृष्टि होती है। दीक्षा के द्वारा जीव परमात्मा परम देवता का दर्शन कर पुनः कृतार्थ होता है। योग्य गुरु बिना शिक्षा और दीक्षा देने का अधिकारी और कोई हो ही नहीं सकता।

गुरु के नाम से प्रायः लोग दीक्षा गुरु समझते हैं। गुरु की याद आने से उनको जगत से उच्च लोक का समझना चाहिए, उन्हें अपनी तरह मनुष्य समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। उनके समकक्ष या समक्ष आसन पर बैठना या बैठने दुःसाहस नहीं करना चाहिए। उनके वाक्य को वेद वाक्य, उनके पादोदक को अमृत, उनकी आज्ञा शिरोधार्य और उनके दर्शन से जीव का जीवन सफल होता है। गुरु अपार संसार सागर में विलक्षण कर्णधार होता है। ऐसे पावन दीक्षा गुरु के पद (स्थान) पर किसको वरण किया जाय? हमारे देश में आजकल लोग गुरुता (गुरुपन) का व्यवसाय करते हैं, दक्षिणा लाभ जिनका लक्ष्य होता है, उन्हें किसी भी दृष्टि से सद्गुरु नहीं कहना चाहिए। कुल गुरु का त्याग कभी नहीं करना चाहिए। यह संस्कार हमारे देश में गुरुओं की दुरावस्था का मूल कारक है। दो एक अच्छे गुरु अवश्य हो सकते हैं और उन पर लोगों की श्रद्धा भक्ति भी होती है, परन्तु जो अशिक्षित, दुश्चरित्र और साधना वंचित होते हैं उनको किसी को दीक्षित करने का कोई अधिकार नहीं है। जो खुद अंधा है वह दूसरों के चक्षु उन्मीलित करने के विपरीत शलाका से शिष्य की आँखें फोड़ देंगे। उनमें शिष्य को चराचर व्यापी, अखण्ड मण्डलाकार पुरुष का दर्शन कराने की क्षमता तो नहीं है जिन्होने निज को कभी न देखा न परखा वे अन्य को कौन सा पथ दिखायेंगे? वे केवल सद्गुरु की प्राप्ति प्रणाली ही ग्रहण कर सकते हैं।

पैतृक बाग–बगीचा, गृह सम्पत्ति की तरह वे लोग शिष्य के घर पर अधिकार किये बैठे हैं। वे एक बार भी नहीं सोचते कि दीक्षा देना कोई खेल तमाशा नहीं। शिष्य को सिन्धु संसार पार कराने का गुरुतर भार उन्हीं लोगों पर है और ईश्वर के समक्ष वही लोग शिष्य के लिए जवाबदेह हैं। बिना जाने–विचारे, बिना सोचे–समझे

पता नहीं किस बूते पर धधकती अग्नि ज्वाला में हाथ डालते हैं?कहा नहीं जा सकता कि हिन्दू होकर और शास्त्रों को मानकर भी वे किस तरह ऐसे भयानक कुकृत्य करते हैं? पहले जानना चाहिए कि गुरु के लक्षण क्या हैं, तदुपरान्त दीक्षा देने का दायित्व निबाहना चाहिए। जो सर्वशास्त्रदर्शी, कार्यदक्ष, शस्त्रों के यथार्थ मर्म के ज्ञाता, सुभाषी, अविकलांग हो और जिसके दर्शन मात्र से लोगों का कल्याण हो, जितेन्द्रिय, ब्राह्मण, शांतचित्त, पितृ–मातृ भक्त, आश्रमी और देशवासी ऐसे गुणों से परिपूर्ण पुरुष को गुरु स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार गुणवान होकर शिष्य को दीक्षित करने से दोनों का कल्याण होता है। आधुनिक युग में गुरुपन नौकरी व व्यापार की तरह धन उपार्जन का रास्ता बना हुआ है। लोग कर्म दोष से गुरु पद की महिमा को कलंकित एवं उसकी मर्यादाओं को धूल धूसरित कर रहे हैं। शिष्य का उद्धार न करने से भयंकर पाप से लिप्त होना पड़ता है।

मंत्र दीक्षा के पूर्व गुरु और शिष्य को कम से कम 6 माह या साल भर तक इकट्ठे वास करना चाहिए। परस्पर प्रीतियुक्त और उपयुक्त बोध होने पर शिष्य गुरु से ज्ञान भिक्षा की याचना करे तब गुरु को कृपा करके शिष्य को भव यंत्रणा से मुक्त होने का उपाय, तत्वज्ञान के उपदेश एवं दीक्षा देनी चाहिए। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि शिष्य की सन्मति के बिना ही गुरु जबरदस्ती दीक्षा दे देते हैं, ऐसा करना पाप को आमंत्रित करना है। उपयाचक होकर दीक्षा देना केवल पैसे के लोभ के अलावा कुछ ओर नहीं है। यदि शिष्य करबद्ध प्रार्थना न करे तब तक किसी भी सद्गुरु को उसे दीक्षित नहीं करना चाहिए। शिष्य मंत्र जाप करता है या नहीं, साधना में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो रहा है या नहीं, शिष्य ने कितनी उन्नति की गुरु की जानकारी में ये सारे तथ्य आने चाहिए, परन्तु आजकल के गुरु इन तथ्यों की बिल्कुल परवाह नहीं करते। शिष्य को कितना वेतन मिलता है, उसकी ऊपरी कमाई भी कुछ है या नहीं यह बात अवश्य उनकी जानकारी में होती है। इसलिए आजकल शिक्षित लोग कुल गुरु से दीक्षा नहीं लेना चाहते। योग्य गुरु की प्राप्ति के बाद ही दीक्षित होने की चेष्टा में रहते हैं।

बिना सच्चे गुरु के उचित मार्ग बताने की योग्यता किसी में नहीं है। क्षेत्र अर्थात् मनुष्य का शरीर सबका एक समान नहीं होता इसलिए सबके लिए बीज मंत्र ठीक करना बहुत कठिन है। महापुरुष के अलावा यह कार्य कोई दूसरा कर ही नहीं सकता।

कुल गुरु से कुछ पाने या मिलने का भरोसा नहीं है, कारण कि किस मार्ग से चलना चाहिए उन्हें खुद ही ज्ञात नहीं है। अंधा अंधे को रास्ता नहीं दिखा सकता। संसार में ऐसा देखा जाता है कि एक ही परिवार में पांच लड़कों में कोई सत्, कोई असत्, कोई धार्मिक, कोई अधार्मिक, कोई नास्तिक, कोई आस्तिक होता है, परन्तु कुल गुरु हमेशा सबके लिए एक ही इष्ट देवता और एक ही बीज मंत्र निर्धारित कर (केवल अक्षरों में कुछ हेरफेर करते हुए) दीक्षा दिया करते हैं। उस बीज मंत्र से शिष्य का भला हो या बुरा, इसकी कोई जिम्मेदारी उन पर नहीं। गुरु क्या वस्तु है, इसे वे खुद ही नहीं जानते। उनका तात्पर्य बस शिष्य को दीक्षा देकर वार्षिक दक्षिणा मिलने भर से है। दीक्षा लेकर शिष्य का क्या उपकार हुआ, वे इस बात को पूछने से भी कतराते हैं, शायद शिष्य कोई प्रश्न पूछ बैठे ? वे बस एक रटी रटाई भाषा बोलते हैं कि एक जन्म में धर्म का उपार्जन नहीं होता। इसके लिए जन्म जन्मान्तर आवश्यक है। पूर्व जन्म से इस बात को सुनते आये हैं कि इस जन्म में भी सुन रहे हैं, दूसरे जन्म में भी सुनेंगे। इस प्रकार जन्म व्यतीत हो रहा है और होगा, पर वह जन्म कौन–सा जन्म है, यह स्पष्ट करने की दक्षता किसी में नहीं है फिर भी लोग गुरु होने का दम भरते हैं।

खराब धान या जला हुआ बीज जमीन में गाड़ने से अंकुरित नहीं होता, इसलिए बीज मंत्र ठीक करके ही दीक्षा लेना अति आवश्यक है। बिना सदगुरु के बीज ठीक करना संभव नहीं और सद्गुरु सहज में नहीं मिलता, अतः दीक्षा लेना भी सहज काम नहीं है। समयोचित होने पर ही दीक्षा ली जानी चाहिए। संसार में उपयुक्त गुरु न मिलने से लोगों की इतनी दुर्दशा हो रही है। कई जगह अल्पव्यस्क बालक एवं कई स्त्रियां भी दीक्षा दिया करती हैं। इनमें से किसी को भी ज्ञात नहीं कि दीक्षा कर्म कितना कठिन है। जो ऐसे गुरु से दीक्षित होते हैं वे भी नहीं जानते कि दीक्षा किसलिए ली जाती है? प्राचीनकाल में अनेक योग्य शिष्य मिलते थे, इसलिए सद्गुरु भी प्राप्त होता था। भगवान से मिलने के लिए अगर सचमुच मन व्याकुल होकर रो पड़े तो निश्चित जानना चाहिए कि भगवान स्वयं सहायक बनकर सदगुरु से मिला देंगे।

सद्गुरु बाजार, हाट, रास्ता, घाट या निकट में नहीं मिलता। अगर कोई भगवान के लिए पागल हो, उनको पाने के लिए आतुर हो, उनके दर्शन की लालसा बलवती हो और उनको न पाने से कुछ अच्छा न लगता हो, तब उन्हीं की कृपा से सद्गुरु का दर्शन मिलता है। सच्चा शिष्य नहीं होने पर सद्गुरु की भी प्राप्ति नहीं

होती। जैसा शिष्य वैसा गुरु। शिष्य यदि गुरु के प्रति श्रद्धावनत हो दीक्षा मंत्र तथा ईश्वर पर अटल विश्वास स्थापित कर सके तब निश्चित है कि गुरु के कच्चा होने पर भी शिष्य परमधाम का अधिकारी होगा, इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है।

उपर्युक्त गुणों से सज्जित शिष्य यदि वास्तविक सद्गुरु को वरण करे तथा गुरु भी इसी प्रकार के लक्षणों से युक्त होकर आचरण करे तो बात बन जाय। जिस शिष्य में पुण्य, धर्म, शुद्धचित्त, गुरु भक्ति, जितेन्द्रिय, दान–ध्यान पारायणता और धीरता एवं गंभीरता नहीं होगी, उसे सद्गुरु कभी दीक्षा नहीं देंगे। आलसी, लालची, दांभिक, कृपण, दरिद्र अर्थात् जो व्यक्ति धन का उचित व्यय नहीं करता, रोगी, अंसतोषी, क्रोधी, लोभी, कठोर भाषा का प्रयोक्ता, अन्याय–अत्याचार से उपर्जित धन का उपभोग करनेवाला हो, पर स्त्रीगामी, आचरणहीन, दूसरों को नुकसान पहुँचानेवाला, ज्यादा खानेवाला, दुरात्मा और गुरु निन्दा करता हो या सुनता हो ऐसे नराधम व्यक्ति को कभी शिष्य न बनायें। मंत्री का पाप राजा को, स्त्री का पाप पति को और शिष्य का पाप गुरु को निश्चय ही प्राप्त होता है।

गुरु जब शिष्य के घर आये तो शिष्य का फर्ज है कि वह आगे बढ़कर उन्हें अपने घर ले जाय। उनके प्रत्यागमन के समय पीछे–पीछे कुछ दूर तक जाय। बिना गुरु की अनुमति के उनके समक्ष आसन पर न बैठे। उनके सामने शास्त्र की व्याख्या न करे। शिष्य एवं गुरु के एक ही ग्रामवासी होने से त्रिसंध्या उनको प्रणाम करना चाहिए। गुरु गृह अगर दो मील के अन्दर हो तो प्रतिदिन एक बार, चार मील के भीतर हो तो प्रति माह चार दिन और आठ मील या उससे अधिक दूर होने से चार माह पर एक दिन जाकर अवश्यमेव प्रणाम करना चाहिए।

गुरु आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए। ऐसा नहीं करने से धर्म, कर्म, जप, पूजा, तप आदि विफल हो जाते हैं और शिष्य नीचगामी होता है। गुरु के साथ कभी ऋणदान या क्रय–विक्रय नहीं करना चाहिए। जो शिष्य गुरु के प्रसाद का भक्षण नहीं करता उसको पग–पग पर ठोकर लगती है। भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक प्रसाद खाने से उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं। दीक्षा लेने की इच्छा होने पर निम्न बातों का सब प्रकार से पालन करना चाहिए।

1. कभी मिथ्या वाचन नहीं करना चाहिए।
2. कभी किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।
3. समस्त जीवों पर दया करनी चाहिए।
4. यथासाध्य परोपकार करना चाहिए।
5. रिपुओं का दमन करना अर्थात् उन्हें अपने वश में लाना चाहिए।
6. दूसरे के वैभव के प्रति ईर्ष्यालु नहीं होना चाहिए, बल्कि आनंदित होना चाहिए।
7. जान बूझकर किसी प्रकार का अन्यायपूर्ण कार्य नहीं करना चाहिए।
8. व्यर्थ और अधिक नहीं बोलना चाहिए।
9. लोभ तथा वासना का त्याग करना चाहिए।
10. कामना का त्यागकर, उपासना करनी चाहिए।
11. सदैव सत्संग करना चाहिए।
12. किसी भी धर्म के प्रति अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए क्योंकि सभी धर्म समान हैं जिसका विश्वास जिस धर्म में हो उसकी उसी से मुक्ति मिलती है। भ्रमवश भी किसी का विश्वास नहीं तोड़ना चाहिए।

संक्षिप्त : गुरु किसको कहते हैं और गुरु शब्द का क्या अर्थ है? 'ग' शब्द से गति दाता, 'र' शब्द से सिद्धिदाता और 'उ' शब्द से सब का कर्ता अतः ईश्वर को ही एक मात्र गुरु कहा जा सकता है। क्योंकि उनको जाने बिना जीवन की गति मुक्ति नहीं मिलती है, जो गति मुक्ति का रास्ता दिखाते हैं उनको भी गुरु कहा जा सकता है इस कारण ईश्वर और गुरु में विशेष अन्तर नहीं है और इस प्रकार के गुरु को सगुण ईश्वर कहते हैं। संसार में गुरु से श्रेष्ठ वस्तु और कुछ भी नहीं है। जप, तप, पूजा, अर्चना, शास्त्र, मन्त्र आदि गुरु से श्रेष्ठ नहीं हैं।

गुरु दो प्रकार के होते हैं– शिक्षा और दीक्षा गुरु। जिस शक्ति के द्वारा हमारे आत्मा की उन्नति होती है। और हम मुक्ति के रास्ते पर आगे बढ़ सकते है वही शक्ति हमारी गुरु है। जिस शक्ति की इच्छा से विश्व संसार चलता है वे ही जगद्गुरु हैं। इन जगद्गुरु को जानने के लिए जब जीव के

मन–प्राण व्याकुल हो उठते हैं तब जो तत्वज्ञान का उपदेश देकर जीव के पथ को सुगम कर देते हैं, वही दीक्षा गुरु कहलाते हैं।

जगद्गुरु के मायाजाल स्वरूप इस ब्रह्माण्ड के परमाणु से लेकर विश्व व्यापार तक के तत्व को जो उसे समझाते हैं वही शिक्षा गुरु कहलाते हैं। शिक्षा के द्वारा जीव को परमात्मा का दर्शन मिलने में सहायता मिलती है। सूक्ष्म तत्व को जानने के लिए शिक्षा पहली सीढ़ी और दीक्षा दूसरी सीढ़ी है। शिक्षा–दीक्षा के अनुकूल और विधिवत होने से दीक्षा फलवती होती है। शिक्षा के द्वारा संशय का नाश, यर्थाथज्ञान और दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है। दीक्षा के द्वारा जीव भगवान का दर्शन पाकर कृतार्थ हो जाता है। योग्य गुरु बिना शिक्षा और दीक्षा के अधिकारी नहीं हो सकते हैं।

सत् शिष्य नहीं होने से सद्गुरु नहीं मिलता। जैसा शिष्य वैसा ही गुरु सबको मिलेगा। जब भगवान को पाने तथा उनसे मिलने के लिए कोई पागल बने, उनको पाने के विरह से कातर होकर कुछ अच्छा न लगे और सचमुच ईश्वर के लिए व्याकुल हो रो पड़े तो निश्चित जानना चाहिये कि भगवान स्वयं सहायक होकर सद्गुरु से मिला देंगे। जयगुरु।

चित्त – शुद्धि

हिन्दू धर्म की सार–वस्तु चित्तशुद्धि है। जो लोग हिन्दू–धर्म के अनुरागी हों या जिन्हें हिन्दू धर्म के यथार्थ मर्म को जानने की इच्छा हो उनको इस तत्व के प्रति विशेष मनोयोगपूर्वक ध्यान देना चाहिए। साकार उपासना या निराकार उपासना, एक ईश्वरवाद या बहुदेव भक्ति, द्वैत या अद्वैतवाद, ज्ञानवाद या भक्तिवाद या कर्मवाद, सब इसके सामने तुच्छ हैं। चित्त शुद्धि होने से सब मत शुद्ध हैं और चित्तशुद्धि के अभाव में सब मत अशुद्ध है। जिनके चित्त शुद्ध नहीं होते, उनके लिए कोई धर्म नहीं होता। जिनके चित्त शुद्ध हैं उनको किसी धर्म का प्रयोजन नहीं। चित्तशुद्धि केवल हिन्दू धर्म का ही सार है ऐसा नहीं बल्कि सब धर्मों का सार है। जिनका चित्त शुद्ध है वे श्रेष्ठ हिंदू, श्रेष्ठ मुसलमान, श्रेष्ठ बौद्ध इत्यादि हैं। जिनके चित्त शुद्ध नहीं, वे किसी धर्म के धर्मावलम्बियों में धार्मिक के रूप से गण्य नहीं होंगे। चित्त शुद्धि ही धर्म है और हिन्दू धर्म में ही इसकी प्रबलता है। जिसका चित्त शुद्ध नहीं वह हिन्दू नहीं कहा जा सकता।

चित्तशुद्धि क्या है , यह अनेक प्रकार के लक्षण और कार्य से जाना जा सकता है। चित्तशुद्धि का प्रथम लक्षण इन्द्रियसंयम है। इन्द्रियसंयम– इस वाक्य से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इन्द्रियों का पूर्ण रूप से उच्छेद या ध्वंस करना होगा। इन्द्रियों को संयत करना अर्थात् अपने वश में लाना होगा, उनके वश में नहीं रहना, इसी का नाम इन्द्रिय संयम है। अति भोजन करना एक प्रकार की इन्द्रियपरता है, परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उसका संयम करने के लिए बिल्कुल खाना नहीं चाहिये या आधा पेट खाना चाहिये या हवा पीकर रहना चाहिये। शरीर एवं स्वास्थ्य की रक्षा के लिए जिस प्रकार के आहार की आवश्यकता हो उसका भक्षण अवश्य करना होगा। इससे इन्द्रिय संयम में विघ्न नहीं होता। इन्द्रिय संयम इतना कठिन कार्य नहीं है। केवल मात्र किसी इन्द्रिय के वशीभूत न होकर उसको अपने वश में करना ही इन्द्रिय संयम है। इसलिए उत्तम आहार करना अनुचित नहीं पर उसके लिके स्पृहा नहीं रहनी चाहिये।

स्थूल बात यह है कि इन्द्रियों के प्रति आसक्ति का अभाव ही इन्द्रिय संयम है। आत्म रक्षार्थ या धर्म रक्षार्थ अर्थात् ऐच्छिक नियम रक्षार्थ जितने इन्द्रिय चरितार्थ की आवश्यकता हो, जो उसके अतिरिक्त इन्द्रिय परितृप्ति की अभिलाषा करता है उसका इन्द्रिय संयम नहीं होता और जो नहीं करता उसका इन्द्रिय सन्यम होता है। जिनको इन्द्रियों की परितृप्ति या सुख की आकांक्षा नहीं केवल धर्म रक्षा करना है, उनकी इन्द्रियाँ संयमित होती हैं।

ऐसे अनेक मनुष्य हैं जो इन्द्रिय परितृप्ति से विमुख हैं पर उनके मन का कलुष नहीं मिटा है। लोक–लज्जा से या लोगों में ख्याति पाने के लिके व आध्यात्मिक उन्नति के लिये या धार्मिक माया जाल के लिये जितेन्द्रियों की तरह कार्य करते हैं परंतु भीतर से इन्द्रियों का दाह अति प्रबल रहता है। आजन्म–मृत्यु तक वे लोग स्खलित पद न होने पर भी इन्द्रिय संयम से बहुत दूर हैं। जो पल–पल इन्द्रिय परितृप्ति के लिए उद्योगी और सफल हैं ऐसे लोगों में और तथाकथित धर्मात्मा से कोई भेद नहीं है। दोनों को समान रूप से इहलोक के नरक की अग्नि से दग्ध होना पड़ता है। इन्द्रिय परितृप्त करो या न करो, जब भ्रम से इन्द्रिय परितृप्ति की भावना मन में न आये केवल आत्मा या धर्म रक्षार्थ इन्द्रिय चरितार्थ करना पड़े फिर भी उसमें सुख से अधिक दुःख का बोध हो तभी समझना चाहिये कि इन्द्रिय संयम हुआ है। उसके अभाव में योग–तपस्या, उपासना या कठोर कार्य सब व्यर्थ है।

केवल योग या तपस्या से ही इन्द्रिय संयम नहीं होता। इसी संसार धर्म में ही इन्द्रिय संयम हो सकता है। जंगल में रहकर और इन्द्रिय तृप्ति के साधनों से दूर रहकर तथ सभी विषयों से निर्लिप्त रहकर सोचा जा सकता है कि वह इन्द्रिय संयम है पर जिस प्रकार मिट्टी का कच्चा बरतन स्पर्श मात्र से टूट जाता है उसी प्रकार ऐसे व्यक्ति का इन्द्रिय संयम लोभ के स्पर्श मात्र से ढह जाता है। इसके अनेक प्रमाण हैं। स्वर्ग से एक अप्सरा आई और ऋषि महोदय का योग भंग हो जाय या धैर्य धारण न कर पाने से अंततः इन्द्रिय परितृप्ति करने के पश्चात् ही शांत हुए। जिस देश में जो वस्तु नहीं मिलती वहाँ के लोग उसे नहीं खाते या उसका व्यवहार नहीं करते परंतु अगर उनको वह वस्तु उपलब्ध हो तो अति आग्रह के साथ वे उसे खायें या व्यवहार करें। इसे त्याग स्वीकार करना नहीं कहा जा सकता। जो प्रतिदिन इन्द्रिय चरितार्थ की सामग्री के संसर्ग में आकर उसके साथ युद्ध कर कभी

विजयी तो कभी विजित हुआ है, वही अंत में इन्द्रिय जय कर सकता है। पराशर या विश्वामित्र इन्द्रिय जय नहीं कर सके, पर भीष्म या लक्ष्मण ने इन्द्रियों को जय कर लिया था।

इन्द्रिय संयम की अपेक्षा चित्तशुद्धि के और भी गुरुतर लक्षण हैं। बहुतों की इन्द्रियाँ संयत है परन्तु अन्य कारणों से चित्त शुद्ध नहीं है। इन्द्रिय सुख नहीं भोगेंगे, पर हम अच्छी तरह रहेंगे, सब लोग हम से प्यार करेंगे, ऐसी वासना मन में प्रबल रूप से रहती है। हमारे पास धन हो, मान हो, सम्मान हो, यश हो, सौभाग्य हो, हम बड़े बन जायें और सब लोग हमें धार्मिक तथा महात्मा मानें, कुछ लोग सर्वदा इसी की कामना करते हैं और हमेशा ऐसी ही चेष्टा या उद्योग में व्यस्त रहते हैं जिससे उनकी वासना पूर्ण हो इसलिए अवांछनीय कार्य करते हैं और उसके (परमात्मा के) अतिरिक्त सब विषयों में मन लगाया करते हैं। ऐसे लोग उनसे भी निकृष्ट हैं, जो इन्द्रियासक्त हैं। उनके लिए धर्म कुछ नहीं, कर्म कुछ नहीं, ज्ञान कुछ नहीं, भक्ति कुछ नहीं। ईश्वर को मानने पर भी ईश्वर है या नहीं इसका पूर्ण विश्वास नहीं और जगत में रहने पर भी जगत कुछ नहीं। इन्द्रियासक्ति की अपेक्षा इस प्रकार स्वार्थपरता चित्तशुद्धि के लिए गुरुत्तर बाधा है। स्वार्थपरता और वासना के त्याग के बिना चित्तशुद्धि नहीं होती। जब हम इस विषय को समझेंगे कि अपने जैसा दूसरा भी है, जब अपने सुख की तरह दूसरे का सुख भी खोजेंगे, जब हम दूसरों को अपने से भी अधिक अपना सोचेंगे, जब क्रमशः अपने रूप को भूलकर दूसरों को सर्वस्व रूप से समझेंगे, जब दूसरों में अपने को समा देंगे, जब हमारा आत्मा विश्वव्यापी होगी, तब हम जानेंगे कि चित्तशुद्धि हुई। ऐसा न कर, केवल डोरा, कौपीन आदि धारण कर और संसार को त्यागकर भिक्षावृत्ति का अवलम्बन करते हुए भिक्षापात्र लेकर द्वार–द्वार पर हरिनाम लेते हुए घूमने से चित्तशुद्धि नहीं होती। इसके विपरीत जो राजा मणिमाणिक्य से अलंकृत होकर सिंहासन पर बैठकर, एक भिक्षुक के समान प्रजा के दुःखों को अपने दुःख की तरह समझता हैं, उसका चित्त शुद्ध है। जो सब शुद्धियों के स्रष्टा हैं, जो शुद्धिमय हैं, जिनकी कृपा से शुद्धि होती है, उनके प्रति प्रगाढ़ भक्ति, चित्तशुद्धि का प्रधान लक्षण है। ऐसी भक्ति ही चित्तशुद्धि और धर्म का मूल है।

चित्तशुद्धि का प्रथम लक्षण हृदय में शांति, द्वितीय लक्षण दूसरों का प्यार करना, तृतीय लक्षण ईश्वर के प्रति भक्ति है।

जिस व्यक्ति को ऐसी शांति, प्रीति और भक्ति योग प्राप्त हुआ है उसको किसी तरह की कामना नहीं रहती। ऐसे व्यक्तियों को सालोक्य अर्थात् हमारे साथ वास, सामीप्य अर्थात् हमारे समीवर्तित्व, सायुज्य अर्थात् हमारा तुल्य ऐश्वर्य, सारूप्य अर्थात् हमारे समान रूप या एकत्व, या मुक्ति देने पर भी वह भगवत सेवा को छोड़ और कुछ नहीं माँगेगा। धन की आशा का त्याग कर श्रद्धायुक्त, हिंसा त्याग, निष्काम पूजा या जप के द्वारा उनका स्वरूप दर्शन, स्पर्शन, स्तवकरण, वन्दन, सब प्राणियों में उनकी भाव चिन्ता करना, धैर्य, वैराग्य महान व्यक्तियों का सम्मान करना, दीन के प्रति दया, आत्मतुल्य व्यक्तियों के साथ मैत्री, अंतरिन्द्रियों का दमन, वाह्येन्द्रियों का निग्रह, आत्म विषय श्रवण, उनका नाम संकीर्तन, सरलता सत्संग करण और निरहंकारिता प्रदर्शन, इन सब गुणों द्वारा चित्तशुद्धि होती है और ऐसे लोग बिना प्रयास के उनको पाप्त करते हैं। जैसे गंध वायु के योग से अपने स्थान से आकर घ्राणेन्द्रियों को आश्रय देता है उसी प्रकार भक्तियोग युक्त चित्त बिना यत्न से परमात्मा को आत्मसात कर लेता है। परमात्मा प्राणीमात्र में आत्मा रूप से स्थित है। जीव जब तक सब प्राणियों में स्थित है, (उनको) अपने हृदय में स्थित न समझ पावें तब तक स्वकर्म में रहकर उपासना या जप करें। जो अपने में और दूसरों में किंचित मात्र भेद करता है, जिसको अपने दुःख की तरह दूसरों के दुःख का अनुभव नहीं होता, उसको ईश्वर क्या है या ब्रह्ममय जगत किस प्रकार है इसका अनुभव नहीं हो सकता। ईश्वर सर्वव्यापी है, वह सब स्थानों में अर्थात् वन में, ग्राम में, नगर में, जल में, स्थल में, शून्य में, प्रस्तर में और सब प्राणियों में आत्मा स्वरूप में अवस्थित है। केवल मुख से ईश्वर सर्वव्यापी है, ऐसा कहने से कोई लाभ नहीं होगा। ईश्वर सर्वव्यापी है, ऐसा स्वीकार करने से ही जगत ब्रह्ममय है यह स्वीकार करना पड़ेगा। जो ज्ञान द्वारा ईश्वर सर्वव्यापी, ईश्वर सर्वान्तर्यामी है, ऐसा कहते हैं, वे इसको अच्छी तरह समझते हैं कि यह ब्रह्ममय जगत किस प्रकार है। ईश्वर कौन सा पदार्थ है, उनका आकार कैसा है और किस मार्ग से चलने पर वे मिलते हैं। यह धारणा बनायी नहीं जा सकती, केवल समझ लेनी पड़ती है। इस वाक्य को समझने की चेष्टा करने से पहले कारण रूप में और बाद में प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर का दर्शन मिलता है। वह दिन–रात सामने ही हैं, केवल हम उसे अपने अन्तर में देखना नहीं चाहते, इसलिए उसे देख नहीं पाते।

संक्षिप्त : चित्तशुद्धि हिन्दू धर्म का सार है। चित्तशुद्धि होने पर सब मत शुद्ध हैं और चित्तशुद्धि के अभाव से सब अशुद्ध हैं। जिनके चित्त शुद्ध हैं, उनको किसी धर्म का प्रयोजन नहीं है। चित्तशुद्धि केवल हिन्दू धर्म का ही सार नहीं हैं क्योंकि यह सभी धर्मो का मूल तत्व है। जिसका चित्त शुद्ध है वह श्रेष्ठ है। जिसका चित्त शुद्ध नहीं है, वह धार्मिक नहीं कहा जा सकता।

चित्त शुद्धि के अनेक लक्षण हैं जिन्हें जानना आवश्यक है। इसका प्रथम लक्षण है इन्द्रियों को संयत करना अर्थात् अपने वश में लाना उनके वश में नहीं रहना। इन्द्रियों के प्रति आसक्ति का अभाव ही इन्द्रिय संयम है जिनकी इन्द्रिय परितृप्ति सुख की आकांक्षा नहीं करती, केवल धर्मरक्षा करना जिनका उद्देश्य होता है उनका ही इन्द्रिय संयम हुआ है। प्रतिदिन

इन्द्रिय चरितार्थ की सामग्री के संसर्ग में आकर उसके साथ युद्ध कर इन्द्रिय जय किया जा सकता है। इन्द्रिय सुख से जब मन में दुःख का उदय होता है तब समझना चाहिए कि इन्द्रिय संयम हुआ है। इसके अभाव में जप तप, उपासना या कोई भी कठोर कार्य सब व्यर्थ है।

चित्त शुद्धि के और भी गुरुतर लक्षण हैं। बहुतों की इच्छा होती है कि इन्द्रिय सुख नहीं भोगेंगे पर हम अच्छी तरह रहें, मेरा मान सम्मान, सौभाग्य हो, सदा ऐसी कामना करना स्वार्थपरता है और यह यह चित्तशुद्धि के लिए गुरुतर बाधा है। वासना और स्वार्थत्याग के बिना चित्त शुद्धि नहीं होती। जो सब शुद्धियों के स्रष्टा हैं, जो शुद्धिमय हैं जिनकी कृपा से सब शुद्धि होती है उनके प्रति प्रगाढ़ भक्ति चित्तशुद्धि का प्रधान लक्षण है। भक्ति ही चित्तशुद्धि और धर्म का मूल है।

चित्तशुद्धि का प्रथम लक्षण हृदय में शान्ति, द्वितीय दूसरों से प्यार करना, तृतीय लक्षण ईश्वर के प्रति भक्ति है। भक्तियोग युक्त चित्त बिना प्रयत्न के परमात्मा को आत्मसात कर लेते हैं।

धर्म

आजकल धर्म की बाहरी आवाज बड़ी ऊँची है। ऐसी पुस्तक, पत्रिका, आलेख नहीं है, जो धर्म की हुंकार से भरा न हो परन्तु असली धर्म आज के समाज और मनुष्यों में अत्यन्त विरल है। सभी सम्प्रदायों और मनुष्यों में केवल हिंसा एवं द्वेष भरा हुआ है। कोई किसी के धर्म को बर्दाश्त नहीं कर सकता। केवल भाव छिपाना अर्थात् भीतर एक प्रकार और बाहर दूसरा जारी है। आजकल कन्या वाले खुद कहते हैं विवाह में दहेज समाप्त हो जाना चाहिए और अपने पुत्र के विवाह के लिए कम से कम 1 लाख के बिना राजी नहीं होते। केवल मुँह से धर्म की ध्वनि निकलती है दरअसल उसका पालन नहीं करते। कपटता की इतनी प्रबलता और मनुष्य समाज की इतनी दुर्व्यवस्था शायद संसार में कभी नहीं हुई। मनुष्य आज असंतुष्ट है इसलिए दुःख तत्व को लेकर इतना व्यस्त है।

पहले समझना चाहिए, धर्म कहाँ से आया, कब से आरंभ हुआ और उसका सृष्टिकर्ता कौन है? लोग सोच सकते हैं कि इसका उत्तर बहुत सरल है परन्तु ऐसी बात नहीं है। ईसाई कहेंगे मूसा और यीशु धर्म को लाये हैं। मुसलमान कहेंगे कि मुहम्मद धर्म को लाये हैं। बौद्ध कहेंगे बुद्ध, हिन्दू कहेंगे स्वयं भगवान अर्थात् धर्म भगवान के और ऋषियों के वाक्य हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त और भी धर्म है। पृथ्वी पर जितनी जातियाँ है, उन सबके अपने–अपने धर्म हैं। पृथ्वी पर ऐसी कोई जाति नहीं है जिनका कोई धर्म नहीं है। उनका धर्म कहाँ से आया और क्या उनके धर्म का कोई सृष्टा नहीं है।

जो कहते हैं कि यीशु, मुहम्मद, मूसा या कुछ और लोग धर्म के स्रष्टा हैं तो उनका ऐसा कहना भयंकर भूल है क्योंकि इनमें से किसी ने भी धर्म की सृष्टि नहीं की, केवल किसी प्रचलित धर्म की उन्नति की है, ईसाई धर्म के पूर्व यूहदी धर्म था। ईसाई धर्म उसी पर गठित हुआ है। मुहम्मद के पहले अरब में इस्लाम धर्म था जो उसके और यहूदी धर्म के ऊपर गठित हुआ। शाक्य सिंह के पूर्व वैदिक धर्म था और बौद्ध धर्म केवल संस्कार किया हुआ हिन्दू धर्म ही है।

मूसा के धर्म के प्रचार के पहले एक यहूदी धर्म था, मूसा उसकी केवल उन्नति कर गये हैं। यह सब आदिम धर्म कहाँ से आये और उसके प्रणेता कौन हैं, इसका पता नहीं मिलता है। धर्म की उत्पत्ति के विषय में समझने के लिए सभ्य जाति के अन्दर खोजने से कुछ नहीं मिलेगा क्योंकि सभ्य जाति के धर्म पुराने हो गये उनकी प्रथम अवस्था अब नहीं रही वे प्रथम अवस्था से भिन्न हो गये हैं और उनमें कहीं उत्पत्ति के लक्षण नहीं देखे जा सकते। जैसे वृक्ष की उत्पत्ति का पता अंकुर से लगता है प्रकाण्ड वृक्ष देखने पर उसका पता नहीं चलता। असभ्य जातियों के धर्म की आलोचना करने से धर्म की उत्पत्ति समझ में आती है।

मनुष्य जितना भी असभ्य हो प्रत्येक व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह समझता है। चैतन्य शरीर से पृथक वस्तु है, मनुष्य चलता है, कार्य करता है, बोलता है, खाता है पर मर जाने के बाद कुछ नहीं कर सकता। उसका शरीर ज्यों का त्यों रहता है, पर कुछ कर नहीं सकता। उसके शरीर में किसी प्रधान वस्तु का अभाव हो गया जिसके कारण कुछ करने में सक्षम नहीं रहा। इसी पर असभ्य लोग समझते हैं कि शरीर को छोड़कर और कुछ ऐसी प्रधान चीज है जिसके बल से जीवत्व है, शरीर के बल से नहीं, सभ्य लोगों ने उसका नाम रखा जीवन अथवा प्राण। नाम रहे चाहे न रहे पर दूसरी एक प्रधान वस्तु का अस्तित्व अवश्य है।

विचार करने से जाना जा सकता है कि केवल मनुष्य में ही नहीं बल्कि पेड़ पौधों में भी धर्म है। पेड़–पौधों में जब तक यह वस्तु रहती है तब तक उनमें फूल, फल पत्ते निकलते हैं। ह्रास और वृद्धि होती है, उसके अभाव से सूखकर मर जाते हैं। अतः पेड़ पौधों में भी जीवन है। प्राणी से उनमें इतना ही अन्तर है कि वे हिल डुल नहीं सकते, बोल नहीं सकते और कुछ कर नहीं सकते। ज्ञान मार्ग में मनुष्य पेड़–पौधों से एक कदम आगे बढ़ा हुआ है, उनमें चैतन्य या ज्ञान है।

मनुष्य के मर जाने पर भी शरीर रहता है लेकिन उसमें चैतन्य नहीं रहता। मूर्च्छा आदि रोग होने पर भी शरीर रहता है पर चैतन्य नहीं रहता। इस बात को सभी स्वीकार करेंगे कि चैतन्य शरीर से अलग वस्तु है, यह देखना और समझना होगा कि शरीर के न रहने पर चैतन्य रह सकता है या नहीं, अगर रहता है तो कहाँ और कैसे रहता है। मनुष्य मात्र देख रहा है कि चैतन्य चोला जहाँ चाहे जा सकता है और जैसे चाहे वैसे रह सकता है।

स्वप्नावस्था इसका प्रमाण है। इसमें संदेह नहीं है कि स्वप्न में मानव का शरीर एक स्थान पर रहता है पर चैतन्य दूर–दूर के स्थान पर घूमता है, सुख–दुःख भोगता है और नाना प्रकार के कार्य करता है, अतः शरीर के न होने पर भी चैतन्य रहता है, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता है। जीव अपनी इच्छा से इसीलिए कार्य कर सकता है क्योंकि जीव में चैतन्य है। जिस चैतन्य के अभाव में पेड़–पौधे इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकते। मनुष्य शरीर में उस चैतन्य तथा ज्ञान की अवस्थिति स्वीकार करना ही धर्म का प्रथम सोपान या सीढ़ी है। यह ज्ञान ही धर्म का मूल है। जिसको ज्ञान नहीं है, उसके लिए क्या धर्म और क्या अधर्म?

धर्म का दूसरा सोपान है जड़ पदार्थ में चैतन्य का आरोप करना, इसे धर्म न कहकर उपधर्म कहा जा सकता है। उपधर्म ही सत्यधर्म की प्रथम अवस्था है। आकाश में बादल कहाँ से आता है, बादल आकर क्यों बरसाता है, बरसकर कहाँ चला जाता है। बादल के आने पर भी हमेशा बरसात नहीं होती, जिस समय वर्षा का प्रयोजन है जिस समय बरसने से फसल होगी, कभी –कभी उस समय क्यों नहीं बरसता? यह सब आकाश की इयत्ता, बादल की इच्छा, वर्षा की इच्छा है, इसलिए आकाश बादल और बारिश को सचेतन कहा जा सकता है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, वायु, अंधड़, वज्र विद्युत और समुद्र के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। इन सब से बढ़कर बलवान कौन है? अगर इनमें कोई श्रेष्ठ है तो वह सूर्य है, उसका प्रचण्ड तेज, तीव्र गति, पानीयोत्पादन शक्ति, जीवोत्पादन शक्ति, आलोक सब आश्चर्य है। सूर्य को जगत का रक्षक कहने में भी अत्युक्ति नहीं होगी। जब तक सूर्य का उदय नहीं होता, तब तक जगत के सभी कार्य प्रायः बन्द रहते हैं।

इन शक्तिशाली पदार्थों की क्षमता को देखकर ही उपासना की उत्पत्ति हुई है। यही धर्म का तीसरा सोपान है, इसलिए हर देश में सूर्य, चन्द्र, वायु, वरुण, अग्नि, आकाश आदि की उपासना की जाती है। इसलिए वेद में इन सब देवताओं की उपासना की व्यवस्था है। सीढ़ी, बांस, रस्सी आदि नाना वस्तुओं के सहारे मकान की छत पर जाया जा सकता है। उसी प्रकार धर्म और सत्य में जाने के उपाय और मार्ग हैं।

अहिंसा, भक्ति और प्रेम धर्म का मूल है। सर्वत्र लोगों के मुख से प्रेम की बात सुनने में आती है पर वास्तव में कोई किसी को अन्तर से प्रेम नहीं करता। जब तक अपने और दूसरों में समानता का बोध नहीं होगा तब तक वास्तविक प्रेम भी नहीं होगा। वास्तविक प्रेम न रहने पर धर्म की चर्चा करना व्यर्थ और विडम्बना मात्र है।

प्रेम दो प्रकार का होता है– प्रथम स्वाभाविक सम्बन्ध को लेकर प्रेम, जैसे पिता–पुत्र, पति–पत्नी से। दूसरा गुणों को देखकर जैसा मित्र, बन्धु से। यथार्थ प्रेम की एक प्रणाली है और उस प्रणाली से प्रेम करने पर वह महत् और मनोहर फल प्रदान करती है। सम्पूर्ण रूप से आत्म विस्मृत होकर अपने को तथा समस्त पृथ्वी को और समस्त प्राणियों को एक सच्चिदानंद का विकास समझकर समस्त मनुष्य, सभी प्राणियों तथा सम्पूर्ण जगत को प्रेम करना सीखने पर समझ में आता है कि असली प्रेम क्या है?

जिसे प्रेम करेंगे, वह अच्छा है या बुरा यह देखने की आवश्यकता नहीं है। अच्छा हो या बुरा हो, प्रेम करेंगे। अच्छा या बुरा देखकर प्रेम करने की शिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए। समस्त जगत सच्चिदानन्द है अतः समस्त जगत प्रेम का पात्र है। जिसने अनन्त पुरुष के ध्यान में आत्माभिमान को विनष्ट कर अपने को भगवत् भाव से भर दिया, वही समस्त जगत से प्रेम करने में सक्षम है और वही जगत को जगदीश्वर कहकर उससे प्रेम कर सकता है। हमारे विचार में सभी शिक्षित लोग यह स्वीकार करेंगे कि शास्त्रों का कुछ संस्कार होना नितान्त आवश्यक है। सब लोग जानते हैं कि हिन्दू धर्म की अपेक्षा सत्य और उत्कृष्ट धर्म कोई नहीं है। किसी ने अगर भगवान का दर्शन और मुक्ति पायी हो या मुक्ति चाहता है तो वह हिन्दू धर्म से ही पाई जा सकती है। केवल मार्ग दिखानेवाले उपयुक्त व्यक्ति का अभाव है। इस समय अनेक विषयों की उचित व्याख्या करने योग्य पण्डित नहीं है। आजकल अनेक पण्डित विषय ज्ञान भूलकर सत्य तथा मिथ्या, अच्छे एवं बुरे का विचार न कर पांडित्य दर्शाते हैं। केवल ऐसा ही नहीं, अनेक महात्मा अपने श्लोकों की रचना कर उसे पुराण की कथा में, वेद के अन्दर मिलाकर, शास्त्र की दुहाई देकर अपनी दुकान चलाते हैं। उनके लिए असली तत्व को जानना आवश्यक है।

किसी एक मार्ग का अवलम्बन किये बिना समझ में नहीं आता कि धर्म क्या पदार्थ है। पूजा–पाठ में घंटियां बजाना धर्म नहीं होता है। कुछ मंत्र उच्चारण करने मात्र से धर्म नहीं होता। नाक दबाकर धर्म का दिखावा करना धर्म नहीं होता। सभी अंगों में हरिनाम का छापा लगाकर, हरिनाम का झोला हाथ में हाथ लेकर, सड़क पर घूमने से धर्म नहीं होता। धर्म में द्वेष तथा भेदभाव नहीं होता। 'आत्मवत सर्वभूतेषु' अनुभव किए बिना कोई धर्म सच्चा धर्म नहीं होता, समदर्शी हुए बिना सिद्धि नहीं मिलती। जब जगत में कलह द्वेष पाप का घर है, तब धर्म के कलह और

साम्प्रदायिक धर्म को लेकर चर्चा करना उचित नहीं। ईश्वर सबके लिए समान है, उनके लिए कोई जाति या सम्प्रदायगत धर्म नहीं है। उनके लिए ब्राह्मण, शूद्र, यवन, शिक्षित, अशिक्षित, धनी, निर्धन में कोई भेद नहीं हे। जो उनको एक मन और भक्ति भाव से पुकारते हैं वे उसी के होते हैं। वे सबके हैं। हम उदार भाव को छोड़कर धर्मविषयक विवाद करते हैं। इससे बढ़कर दुख की बात और क्या हो सकती है? जगत एक है और जगत के लोग भी एक ही हैं। सब धर्म एक है। धर्म का रास्ता बहुत उदार है, जिसको जिस मत में विश्वास होता है वह उसी मत से धर्म का लाभ करने में समर्थ हो सकता है। कभी किसी का अपने धर्म संबंधी विश्वास को भंग करना उचित नहीं है।

अनेक लोग ऐसा सोचते हैं कि परिवार छोड़कर वन में न जाने से धर्म नहीं होता, यह बहुत बड़ी भूल है। यदि संसार के सब लोग वन में चले जायें तो वन ही संसार बन जायेगा। सृष्टि अगर न रही तो संसार की सृष्टि करने का कोई कारण नहीं था। ऐसा करने से ईश्वर के कार्य में बाधा होती। संसार ही धर्म का प्रधान स्थान है। वायु की भांति किसी में लिप्त न रहकर सब कार्य करना चाहिए। सबके धर्म का पथ एक नहीं है। गृही अगर वाणप्रस्थी या ब्रह्मचारी के पथ का अवलम्बन करें तो वह उसका पाना नहीं होगा और घर में रहकर कुंभक योगी बनने की कोशिश करें तो उसको भी कोई प्राप्ति नहीं होगी। मार्ग भिन्न–भिन्न होने पर भी कार्य एक ही है, जैसे जल की समष्टि जलाशय होता है।

जगत में अनेक प्रकार के साधक है। उनमें से दो वर्ग की साधना प्रधान है। प्रथम श्रेणी के साधक संसार के माया बन्धन को छोड़कर अपनी मुक्ति के लिए वन में जाकर योग या तपस्या करते हैं। दूसरी श्रेणी के साधक मानव मात्र को अपना मानकर अपनी मुक्ति के साथ उन्हें भी जोड़कर साधना करते हैं। अति प्रेम सहित उन्हें भी धर्म के पथ पर ले आते हैं और दूसरे के इष्ट को अपना इष्ट मानते हैं– जैसे बुद्ध और चैतन्य।

जब से मानव की सृष्टि हुई, मानव ने बोलना सीखा, जब से बुद्धि का उदय हुआ, तब से मानव समाज में धर्म का भी विस्तार हुआ। तब धर्म का नामकरण और बन्धन भले ही इतना नहीं था परन्तु कोई न कोई धर्म अवश्य था। जो सत्य है, वह अविनश्वर है और वही मानव के लिए ग्रहण के योग्य है। वेदोक्त सनातन धर्म अविनश्वर है, अतः उसका अवलम्बन करना चाहिए। सब लोग मुख से धर्म को धर्म

कहते हैं, परन्तु देखना चाहिए और उसका कार्य क्या है। मन को स्थिर रखकर व्यक्ति भाव से अपने चैतन्य का विश्व चैतन्य के साथ योग करना ही धर्म है और जिस मार्ग पर चलने से वैसा संयोग हो सकता है, वही धर्मपथ है।

धर्म क्या है और उसकी क्या आवश्यकता है ? धर्म शब्द का अर्थ निर्णय करने पर उसकी आवश्यकता समझ में आती है। धर्म शब्द 'धृ' शब्द से निष्पन्न हुआ है जो धारणा करता है, वह धर्म है। जो जिसको धारण करता है, वही उसका धर्म है। द्रव्य के स्वभाव को धर्म कहा जा सकता है। जैसे सूर्य का धर्म है ताप, जल का धर्म रस, अग्नि का धर्म दाह, उसी प्रकार जीव का धर्म है आत्मज्ञान। जिस वस्तु के अभाव में पदार्थ का पदार्थत्व नहीं रहता, वह वस्तु सबसे जरूरी है, इस बात को समझाने की जरूरत नहीं। धर्म जगत की प्रतिष्ठास्वरूप है, धर्म से पाप विनष्ट होता है इसलिए धर्म सबसे श्रेष्ठ है। विद्या दान, शरीर का सत्कुल में जन्म, आरोग्यता ओर मुक्ति केवल धर्म में ही निहित है। धर्म की वृद्धि होने से सभी बातों की वृद्धि होती है और ह्रास होने से सभी बातों का ह्रास होता है। मनुष्य मात्र के लिए धर्म का आश्रय लेना उचित है अन्यथा वह घटकर पशुत्व या किसी हीन जातित्व को प्राप्त होता है।

धर्म का मूल है – हृदय, मन, भगवान से भक्ति, प्रेम और विश्वास। पड़ोसी तथा आत्मज और समस्त जगत को अपना ज्ञान देना, कोई अन्याय न करना, जीव पर दया, अहिंसा, लोभ संवरण, क्रोध का संवरण, सत्यवाक, क्षमा, संत्संग, जितेन्द्रियता, शुचिता, गुरु भक्ति, सब प्राणियों में भ्रातृत्व भाव, ईश्वर में पितृत्व ऐसा ज्ञान ही धर्म है।

शास्त्र अनन्त हैं परन्तु मनुष्य जीवन में विघ्न भी बहुत हैं अतः सभी शास्त्रों के अध्ययन की जरूरत नहीं। जहाँ धर्म वहाँ तेज, वहाँ कान्ति, वहीं भक्ति, वहाँ श्री, जहाँ सत्संग, वहाँ सुबुद्धि और जहाँ धार्मिक लोग रहते हैं, वहाँ भगवान विराजते हैं। धर्म लाभ के लिए कोई प्रतीक्षा नहीं करता। जो जिस तरह उसका भजन करता है वह उसी तरह उसकी मनोवांछा को पूर्ण करता है। जैसे नदी नाना दिशाओं से चलकर अन्त में सागर में ही मिलती है उसी तरह भगवान की उपासना परमब्रह्म में ही अर्पित होती है।

संक्षिप्त : धर्म क्या है और उसकी क्या आवश्यकता है? धर्म शब्द धृ धातु से निष्पन्न हुआ है, जो जिसकी धारणा करता हैं, वही उसका धर्म है। द्रव्य के स्वभाव

को धर्म कहा जा सकता है। जैसे सूर्य का धर्म है ताप, जल का धर्म रस, अग्नि का दाहनशक्ति, उसी प्रकार जीव का धर्म आत्मज्ञान है।

धर्म जगत की प्रतिष्ठा स्वरूप हैं, धर्म से पाप विनष्ट होता है, इसलिए धर्म सबसे श्रेष्ठ है। विद्या धन, शरीर का सत् कुल में जन्म, मुक्ति केवल धर्म से ही होती है। धर्म की वृद्धि होने से सभी बातों की वृद्धि होती है और ह्रास होने से सभी बातों का ह्रास होता है। मनुष्य मात्र को धर्म का आश्रय लेना चाहिए नहीं तो मनुष्यत्व घटकर पशुत्व प्राप्त होता है।

धर्म का मूल है हृदय, मन और शक्ति से भगवान पर भक्ति और विश्वास रखना। मनुष्य तथा समस्त जगत को अपना ज्ञान करना, अन्याय न करना जीव पर दया, अहिंसा, काम, क्रोध, लोभ का संवरण, सत्यवाक, क्षमा, संत्संग, जितेन्द्रियता, शुचिता, गुरुभक्ति ऐसा ज्ञान होना ही धर्म है। समग्र जगत सच्चिदानंद ईश्वर है अतः समग्र जगत प्रेम का पात्र है। जगत को जगदीश्वर मान कर प्रेम करना चाहिये।

किसी एक मार्ग का अवलम्बन किये बिना धर्म क्या है यह समझ में नहीं आता है। जो भी एक मन तथा भक्ति भाव से ईश्वर को पुकारता है, वे उसी के हो जाते हैं। जिसको जिस मत में विश्वास है वह उसी मत में धर्म लाभ करने में समर्थ हो सकता है।

कभी किसी के धर्म सम्बन्धी विश्वास को भंग करना कदापि उचित नहीं है। पूजा, पाठ, मंत्र उच्चारण से धर्म नहीं होता, धर्म में कोई भेदभाव, द्वेष नहीं है। आत्मवत सर्वभूतेषु, हुए बिना कोई सच्चा धार्मिक नहीं होता। ईश्वर सबके लिए समान है वह एक है। इसलिए सब जगत एक है, सारी दुनिया के लोग एक है और धर्म भी एक है।

उपासना

पहले यह जानना आवश्यक है कि उपासना किसे कहते हैं, यदि ईश्वर को जानने की तथा पाने की इच्छा हो तो उपासना की आवश्यकता है, अगर इच्छा नहीं है तो यह आवश्यक नहीं है। ईश्वर किसी की खुशामद नहीं चाहते, सब जीवों पर उनकी समान दया है। उपासना या आराधना उत्कोच नहीं है। यह ईश्वर की विशुद्ध शक्ति को आकर्षित करने का यथार्थ स्वरूप है। उनको जानने की इच्छा होने पर जिस मार्ग पर चलने से उसे जाना जा सकता है, उसी का नाम उपासना है।

मनुष्य मात्र सुख चाहता है। लेकिन सुख किस अवस्था को कहा जाता है, वह किसी को अवगत नहीं। दुःख की चरम निवृत्ति ही महासुख है। सुख किसके मन में आलोकित होकर विराजमान है, मन की सम्पूर्ण शान्ति कौन से सागर गर्भ में छिपी है, इसकी खोज करनी है– कोई दुःख नहीं चाहता है। दुख नहीं रहने पर सुख का अनुभव होता है, वह कैसा है, उसको कोई नहीं चाहता। किसी प्रकार का अन्याय कार्य करने पर कष्ट भोगना पड़ता है। ईश्वर मनुष्य को जो कष्ट देते हैं, वह सुख भोगने के लिए, उनकी इच्छा ऐसी ही है कि मनुष्य सत्य पथ पर चलकर हमेशा सुख भोगे। सोने का दाम होता है पर मिलावटी सोने का दाम कम होता है। सुनार उसको रसायन मिलाकर गलाकर जब तक वह साफ न हो जाय, पक्का न हो जाय तब तक पीट–पीटकर उसे ठीक करता है। इसी प्रकार ईश्वर मनुष्य को कष्ट देकर उसे अन्याय कार्य से विरत कर विशुद्ध बनाकर पुनः ठीक रास्ते पर चलने योग्य बनाते हैं।

कष्ट भोगना उनकी परम दया का परिचय है, इसलिए मनुष्य को समझना चाहिए कि सुख और दुख दोनों बराबर की वस्तु है अतः कोई भी अन्यायपूर्ण कार्य करके लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकता। इस बात को सभी लोग स्वीकार करेंगे कि शरीर पर गंदगी लगाकर फिर धोने की अपेक्षा गंदगी न लगाना ही श्रेयस्कर है।

ईश्वरोपासना नितांत आवश्यक है। इस बात की विवेचना करके स्थिर सिद्धांत में पहुंचकर मन के विश्वास को पक्का करना चाहिए। इसके लिए पहले आसन की आवश्यकता होगी। आसन अनेक प्रकार के होते हैं, उनमें से जो संसारी जीवों के लिए उपयुक्त है उन्हें सबको जानना चाहिए। निर्जन और प्रशस्त कमरे में पहले कुशासन बिछाकर उसके ऊपर कम्बलासन, फिर वस्त्रासन बिछाकर साधक उस पर उत्तर की ओर मुख कर के बैठे। बैठने की मुद्रा ऐसी हो कि शरीर, मस्तक और ग्रीवा एकसीध में रहे। दाहिने जानु में बायां पदतल स्थापित कर बायें जानु पर तथा उसके मध्य दाहिना पदतल रखकर सरल भाव से बैठे। नयन मूंदकर नासिका या भ्रू के बीच दृष्टि स्थापित शांत और स्थिर भाव से मन ही मन गुरु प्रदत्त बीज मंत्र का जाप करे। इसमें जाति भेद नहीं है। प्रतिदिन प्रायः तथा सायंकाल कम से कम आधा घंटा स्थिर मन से बैठना होगा। मन की चंचलता को मिटाने के लिए इसके सिवा कोई और सरल सहज रास्ता नहीं है। मन बहुत चंचल है, इसलिए उसे समेट कर कार्य में लगाना चाहिए। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करने से वह अपने वश में हो जायेगा। मन से ही मन को वश में लाना है। हमसे ऐसा होगा नहीं– इस बात को भूलकर भी सोचना नहीं चाहिए। हमें हमेशा यह सोचना होगा कि यही हमारा प्रधान कार्य है और हमें इसको अवश्य करना चाहिए। जब तक मन एकाग्र न हो तब तक इसका अभ्यास निरंतर होना चाहिए। इसे छोड़ना नहीं। इस प्रकार दृढ़ होकर कार्य करने से फल अवश्य मिलेगा। मन स्थिर न होने पर कोई साधना नहीं हो सकती और मन स्थिर होने पर आसन की कोई आवश्यकता नहीं है।

चिद् स्वरूप आत्मा बुद्धि, मन, प्राण, देह, अंहकार और इन्द्रियों से भिन्न है, ऐसा निश्चय जानना चाहिए। वह आत्मा ही ईश्वर है जो निराकार, निर्मल, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से निरापद है, वह चिन्मय, आनन्दमय अशरीरी, पूर्ण, ज्योतिर्मय नित्य शुद्ध, ज्ञानमय, सर्वदेहस्थित और सर्वातीत है– ऐसा चिन्तन एकान्त चित्त से करना चाहिए। कोई–कोई नास्तिक बनकर ऐसा कहते हैं कि ईश्वर नहीं है, प्रकृति से ही सब कुछ होता है, उनकी तरह मूर्ख और अज्ञानी जगत में और कोई नहीं, ईश्वर अगर पल भर के लिए शरीर छोड़ दे तो नयन मूंदकर जीवन लीला समाप्त करनी होगी। आजकल धर्म की पिपासा किसी–किसी मनुष्य में जाग्रत है परन्तु कोई परिश्रम करना नहीं चाहता।

दो–चार दिन आँख मूंदकर बैठने पर कुछ न मिला तो लोग सोच लेते हैं कि यह सब झूठ है तथा परिश्रम करने से कोई लाभ नहीं। इच्छा जबरदस्ती करके अगर कोई उसके अन्दर ईश्वर का प्रवेश करवा दे तो विश्वास जगे, उनको विश्वास हो या न हो, जगत को उससे कोई हानि नहीं। ऐसे लोगों से दूर रहना चाहिए। जब नींद खुलेगी तब अपने से ही सीधे रास्ते पर चलेंगे।

प्रथमतः अरुणोदय की तरह बुद्धि रूप ज्ञान का उदय होकर अज्ञान रूपी अंधकार का हरण करता है तत्पश्चात् आत्मा सूर्य की तरह प्रकाशित होता है। जैसे भ्रांतिवश झुका हुआ वृक्ष मनुष्य की तरह प्रतीत होता है, उसी तरह भ्रांतिवश ब्रह्म भी जीव जैसा प्रतीत होता है। फिर भ्रम के नाश होने पर जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप का दर्शन होता है एवं जीवत्व व्यवहार से निवृत्ति होती है। यथार्थ ज्ञान से दिशाभ्रम दूर होता है।

चित्त की उन्नति के लिए मनुष्य को किसी उन्नत अवस्था प्राप्त महापुरुष के आदर्श के चिन्तन द्वारा हृदय के सम्मुख धारण कर उस आदर्श के अनुसार उन्नत होने की चेष्टा करनी चाहिए। हमारा मन बहुत चंचल है। सदा कोई आदर्श चरित्र मन में धारण कर रखना सहज नहीं है। इसलिए किसी आदर्श पुरुष के साथ अपने मन को किसी बंधन में बांध देना चाहिए। महापुरुष के साथ बंधन दृढ़ करने के लिए दृढ़ भक्ति की आवश्यकता है क्योंकि भक्ति के बिना ईश्वर उपासना के मार्ग पर आगे बढ़ना अंसभव है।

सम्पूर्ण ज्ञानी योगी ज्ञानचक्षु के द्वारा अपनी आत्मा में समस्त जगत को और उसी एक आत्मा को जगत में देखते हैं। यह समस्त जगत ही आत्मा है और आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार घड़ा, कलसी, हांड़ी, गमला, सब वास्तव में मिट्टी ही है, इनमें कोई भी मिट्टी से अलग नहीं है, इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति समस्त जगत को अपनी आत्मा में ही देखते हैं।

ज्ञानी व्यक्ति वाह्य अनित्य सुख की आसक्ति को त्यागकर आत्मसुख में परिपूर्ण होकर निश्चल दीप की तरह निर्मल अन्तर में प्रज्जवलित और प्रकाशित होता है और मौन होकर विचरण करता है। जैसे वायु सर्वत्रगामी होने पर भी किसी वस्तु में लिप्त नहीं होती उसी प्रकार मौनी पुरुष उपाधि का विनाश होने पर सर्वव्यापी परमात्मा में प्रवेश करता है, जैसे जल–जल में, तेल–तेल में, आकाश–आकाश में मिलते हैं।

जैसे भौंरा झींगुर को पकड़कर उसका निरन्तर चिन्तन करते–करते उसे अपने जैसा स्वरूप धारण करा लेता है, उसी प्रकार आत्मज व्यक्ति आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप की चिन्ता करते–करते अपने पूर्व स्थित उपाधिरूप और गुणों को त्यागकर अपने सच्चिदाननद भाव को प्राप्त होते हैं ऐसे व्यक्ति को जीवन मुक्त पुरुष कहते हैं।

वह ज्योतिर्मय परं ब्रह्म तथा आनन्दमय के आनन्द के विषय में आश्रय पाकर ब्रह्म से लेकर क्षुद्र जीव तक तारतम्य के अनुसार आह्लादित रूप में विराज रहे हैं, जैसे दुग्ध मात्र में घृत है, वैसे सब वस्तु ही ब्रह्म से अन्वित है। यद्यपि सांसारिक व्यवहार भी उनसे भिन्न नहीं है। जीव श्रवण, मनन, अज्ञान और उपासना के विषय में आकृष्ट है। उसको विषय से खींचकर आत्मा में स्थापित करके ज्ञानाग्नि द्वारा तपाने से समुदाय उपाधि मालिन्य से मुक्त होता है, स्वयं आत्मा स्वर्ण की भांति उज्जवल होकर प्रकाशित होकर चमकती है।

सर्वव्यापी और सबकी आधारभूत आत्मा हृदयाकाश में सूर्य की भांति प्रकाशित होकर अज्ञान के अंधकार का हरण करती हुई सबको प्रकाशित करती है। जो व्यक्ति विषय रूप से निष्क्रिय समान देश कालादि की अपेक्षारहित, शीत उष्ण आदि के विनाशक सर्वव्यापी और नित्यमुक्त स्वरूप अपनी आत्मा का भजन करते हैं, वे सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा अमृतमय बन जाते हैं।

धर्म से भक्ति, भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति मिलती है। ईश्वर में मन, प्राण, अर्पण करना ही धर्म है अतः मुमुक्षु व्यक्ति धर्म के लिए ईश्वर पर आश्रित बने। सच्चिदानन्द स्वरूप एकमात्र ब्रह्म ही सर्वमय है। सब देवता भी उसी के क्षुद्रांश हैं। विधिपूर्वक इस प्रकार के अनुष्ठान से चित्त मुमुक्षु व्यक्ति के शुद्ध होने पर वे सदा आत्मज्ञान के लिए उद्योगी होंगे। कामादि षड्वर्ग, हिंसा, सम्पूर्णतः त्यागनी होगी। क्योंकि ये सब धर्ममार्ग के लिए भयानक अनिष्टकारी हैं। जो लोग यत्नपूर्वक ऐसा कर सकेंगे, उनको तत्वज्ञान मिलेगा, इसमें संदेह नहीं। तत्वज्ञान होने से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है और आत्मा का प्रत्यक्ष होने से मुक्ति मिलती है।

मन का संयम ही साधना का प्रथम लक्षण है जो वाह्य विषयों में आसक्ति शून्य और अन्दर परमानंद का अनुभव करते हैं, वे ब्रह्म संयुक्त होकर अक्षय सुख को प्राप्त करते हैं। प्रजापालक, प्रजारक्षक राजा अथवा रणजयी राजा, योद्धा की अपेक्षा मन

को बारम्बार रखनेवालों को महापुरुष कहा जाता है। तैर कर समुद्र पार करना सहज है परन्तु मन को वशीभूत करना बहुत कठिन है।मन पर विजय प्राप्त करना सहज हो सकता है। यदि व्यक्ति भक्ति विश्वास के साथ श्रद्धा के साथ कार्य करे तो लक्षण प्राप्त किया जा सकता है।

दया ही साधना का मूल है और अभिमान नरक का मार्ग है। जो व्यक्ति अंहकार शून्य, क्षमाशील, सुख तथा दुख में समभाव, सदा संतोष रखें, भगवान में मन बुद्धि अर्पित करे तो उसे सफलता हासिल हो सकती है। जो किसी को संतोष नहीं देते, जो क्रोध, पुण्य और भय से मुक्त हैं, जो अंहकार शून्य हैं, जो हर्ष में संतुष्ट या विषाद से क्रोधयुक्त नहीं होते, जो पाप–पुण्य से रहित जो शत्रु–मित्र से भिन्न, मान–अपमान में समभाव रखते हैं, जिनको निन्दा–स्तुति का समान ज्ञान होता है। केवल शरीर रक्षार्थ जो कुछ मिला, उसी में संतुष्ट, ईश्वर परायण, श्रद्धायुक्त और भक्ति परायण हैं, वे ही ईश्वर को प्राप्त करेंगे और उनकी मुक्ति निश्चित है।

अन्य सब साधनाओं की अपेक्षा ज्ञान ही मुक्ति के लिए साक्षात कारण है। जैसे अग्नि के बिना पाक की क्रिया सम्पादित नहीं होती, उसी प्रकार अज्ञानवश निर्मल आत्मा को मलिनता का बोध होता है। ज्ञान के नष्ट हो जाने से आत्मा स्वयं प्रकाशित होती है, जैसे बादल हट जाने से सूर्य प्रकाशित होता है। जीव अज्ञान से ही मलिन है, ज्ञान ही उसे निर्मल बना सकता है। जैसे स्वप्नावस्था में स्वप्न की दृश्य वस्तुएँ सत्य की भांति ज्ञात होती हैं और जागृत अवस्था में मिथ्या प्रतीत होती हैं वैसे ही राग द्वेष से भरा यह संसार अज्ञानवश सत्य मालूम होता है और अज्ञान नष्ट होने पर मिथ्या प्रतीत होता है।

ईश्वर केवल निराकार नहीं, बल्कि रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गंध, भक्ति, दया इत्यादि गुणों से परे हैं। आजकल लोग जो निराकार की उपासना करते हैं, वे खुद नहीं जानते कि उपासना ठीक हो रही है या नहीं। उनकी भक्ति वृत्ति की चर्चा से कुछ मानसिक उन्नति हो सकती है पर इससे वास्तव में कुछ लाभ नहीं होता। जब वे समझेंगे कि निराकार के विषय में ज्ञान लाभ करने के लिए भक्ति और मानसिक वृत्ति का स्फुरण आवश्यंक है। ईश्वरीय तत्वज्ञान के लिए साकार पदार्थ का अवलम्बन लिए बिना सभी वृत्तियों का स्फुरण करने की इच्छा होती है, वही निराकार की उपासना होती है। ईश्वरीय तत्वज्ञान के लिए साकार चिन्तन के रूप

का अवलम्बन लेने से साकार उपासना होती है और साकार चिन्तन रहित जगद्व्यापी ईश्वर की शक्ति गुण आदि विषय को हृदयंगम करना निराकार उपासनं है। सगुण के बिना निर्गुण की उपासना नहीं हो सकती।

उपासना चार प्रकार की होती है– प्रथम ईश्वर उपासना, द्वितीय देव–देवियों की उपासना, तृतीय शक्तिशाली पदार्थ की उपासना, जैसे सूर्य अग्नि आदि चतुर्थ धार्मिक मनुष्य की उपासना गो, वृक्ष, नदी, गंगा, अनाज अत्यादि की उपासना भी एक प्रकार की उपासना होती है। ऐसी उपासना के वशीभूत होकर हिन्दू बढ़ई, बसुला, आरी, कर्मकार नेहाई, हथैड़ी, कुंभकार चक्र की और ब्राह्मण पोथी की पूजा करते हैं। उपासना के समय अचेतन वस्तु को सचेतन मानकर उपासना की जा सकती है। आदिम मनुष्य इसी प्रकार की उपासना करते थे। अन्य प्रकार की उपासना में अचेतन में चेतन ज्ञान ही रहता है और इस प्रकार की उपासना को जड़ उपासना कहा जाता है। ऐसा करना भी अहितकर नहीं है, कारण इससे कुछ चित्तवृत्ति की स्फूर्ति साधित होती है।

हिन्दू धर्म में जिस प्रकार की उपासना पद्धति है, उसको अच्छी तरह विचारने से समझ में आता है कि हिन्दू धर्म कितना श्रेष्ठ है। दुर्भाग्यवश हिन्दू धर्म की विकृति हो रही है। हिन्दू धर्म में एकमात्र सार ईश्वर ही है जिनके अनेक प्रमाण हैं। हिन्दू धर्म अत्यन्त उच्च एवं उदार है वैसा अन्य किसी धर्म में नहीं देखा जाता। ईश्वर विश्व रूप है अतः सब जगह उसकी उपासना हो सकती है।

ईश्वर को हम देख नहीं सकते पर उनकी कार्यशक्ति, दया तथा परिचय पाकर उन्हें हम जान सकते हैं। साकार उपासना ही निराकार उपासना का सोपान है। साकार के बिना अन्य उपासना पत्रहीन वृक्ष की भंति अंगहीन है। हिन्दू धर्म में जिस प्रकार की उपासना पद्धति है, उसको अच्छी तरह विचारने से समझ में आता है कि हिन्दू धर्म कितना श्रेष्ठ है। दुर्भाग्यवश हिन्दू धर्म की विकृति हो रही है। हिन्दू धर्म में एकमात्र सार ईश्वर ही है जिनके अनेक प्रमाण हैं। हिन्दू धर्म अत्यन्त उच्च एवं उदार है वैसा अन्य किसी धर्म में नहीं देखा जाता। ईश्वर विश्व रूप है अतः सब जगह उसकी उपासना हो सकती है।साकार उपासना ही निराकार उपासना का रास्ता दिखाती है और वहाँ पहुँचाती भी है।

जिस प्रणाली से अज्ञान का अंधकार दूर होता है, उसी प्रणाली का अवलम्बन करना ही असली ईश्वर की उपासना है। जैसे मलिन दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दिखता वैसे ही चित्त निर्मल हुए बिना ईश्वर की ज्योति प्रतिबिंबित नहीं होती, जिसके द्वारा चित्त शुद्ध, उन्नत और निर्मल हो, वही उपासना है। चित्त को निर्मल बनाने के लिए यदि किसी ने किसी देव–देवी की उपासना की, सूक्ष्म शक्ति ली है तो उस देव–देवी की आराधना को भी ईश्वर की ही उपासना कहा जाता है। ईश्वर के अस्तित्व का अन्तर में अनुभव करना ही उपासना है।

हिन्दू शास्त्रकारों ने ईश्वर के स्वरूप के बारे में उन्हें निराकार, निर्गुण, विश्वव्यापी, विश्व रूप, अनादि, अनन्त, सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, आनन्दस्वरूप, शुद्ध, जरारहित, अमर, शांत, निर्मल, अंर्तयामी, विश्ववेता, विश्व का जन्म स्थान सृष्टि, स्थिति प्रलय तथा उद्धार का कारण कहकर वर्णन किया है और वह वाक् तथा मन से अगोचर है। इनका अर्थ अच्छी तरह समझना चाहिए। रूप और आकार दोनों का व्यवहार एक ही अर्थ में होता है। द्रव्य के वर्ण व गुण को रूप कहा जाता है, लेकिन आकार भी रूप है। बहुत लोग सोचते हैं कि जो वस्तु दृष्टि से अगोचर है, उसका कोई रूप नहीं और बहुत से लोग आकार को रूप नहीं मानते और बहुतेरे रूप को आकार नहीं मानते। चक्षु इन्द्रियों के वशीभूत समझते हैं। वायु इन्द्रियों से अगोचर है परन्तु वायु का भी आकार है। शब्द, गंध, बहुत छोटे–छोटे कीट जो पानी में रहते हैं जो चक्षु के अगोचर हैं, उनके भी आकार हैं।

केवल मुख से ईश्वर–ईश्वर कहने से उनकी उपासना नहीं होती। उपासना करने के पहले ईश्वर शब्द का यथार्थ अर्थ क्या है, उसको हृदयंगम करना चाहिए। यह जो विश्वव्यापी जगत, जो एक शक्ति द्वारा परिचालित हो रहा है वही ईश्वर की अनन्त शक्ति है। क्या स्थूल, क्या सूक्ष्म, जगत में जितने प्रकार की शक्तियाँ और क्रियायें देखी जाती हैं, वह सब ईश्वर की अनन्त शक्ति है और उस शक्ति को चैतन्य शक्ति मानना होगा। जो अपनी शक्ति को अनन्त शक्ति के साथ एक तान में मिला सकता है, वही साक्षात ईश्वर को अच्छी तरह समझ सकता है। इन सब जगतों का समष्टि भाव ही ईश्वर है। इसको स्पष्ट रूप से समझने से ईश्वर निराकर, निर्गुण, सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, विश्वरूप और अनन्त है। इन बातों का अर्थ स्पष्ट रूप से हृदयगंम हो सकता है।

ईश्वर के कार्य, उसकी शक्ति की भक्ति भाव से आलोचना करने से, विचारने से साधक सब जान सकते हैं।

सृष्टिकर्ता को जानने के लिए सृष्टि के विषय में अध्ययन और उसका भाव ग्रहण करना आवश्यक है। प्रलयकर्ता को जानना हो तो प्रलय तत्व को समझना होगा और पालनकर्ता को जानना होगा और उसके पालन तत्व को जानना होगा। प्रलयकर्ता व संहारकर्ता विषयक ज्ञान एक ईश्वरीय शक्ति विशेष है। ऐसा समझने की चेष्टा करनी होगी। दृढ़ चित्त अनादि कारण के स्वरूप को जानने की चेष्टा ही उपासना है। यदि ईश्वर तत्वज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा न हो तो नदी, तीर और देवालय में बैठकर प्रार्थना करना या किसी देवी–देवता का भजन करना ईश्वर की उपासना नहीं कहलाती। कालिकादेवी की असीम शक्ति उनकी भक्तिभाव से, उपासना से ऐन्द्रिक तथा पारलौकिक अनेक फल प्राप्त होते हैं। ऐसा विश्वास रखकर यदि कालिका देवी की मूर्ति को सामने स्थापित करके उनकी उपासना की जाय तो कालिका देवी की उपासना हुई, ईश्वर उपासना नहीं। यदि किसी साकार पदार्थ को ईश्वर का स्वरूप मानकर उपासना की जाय तो वह ईश्वर की उपासना हुई।

किसी साकार पदार्थ को ईश्वर–ज्ञान करने से ईश्वर की महिमा को नष्ट करना होता है और उपासक भ्रांत–पथ के पथिक बनते हैं। अगर हम कालिका देवी के रूप का ज्ञान करते हैं और काली रूप के अन्तर में अनुभव है तब हम ईश्वर के रूपको वास्तविक समझेंगे। प्रेमी उपासना का कोई और फल है ऐसा नहीं समझना चाहिए? क्योंकि इस प्रकार आकार उपासना के द्वारा निराकार सर्वव्यापी निर्गुण ईश्वर की महिमा को जाना जा सकता है।

मनुष्य में कर्मों का फल देनेवाली शक्ति का नाम देवी है। देव–देवियों ने अनित्य सुख के प्रलोभन से मनुष्य को मुग्ध कर रखा है। इसलिए मनुष्य ईश्वर के सम्बन्ध में घोर अंधकार में पड़ रहता है। जब तक मनुष्य हृदय में सामान्य अनित्य सुख की कामना प्रबल रूप से बनी रहेगी तब तक साधक यह जान नहीं सकेगा कि नित्य सुखदाता ईश्वर क्या वस्तु है।

भगवान को पाने या देखने की इच्छा होने पर पहले कामना त्यागनी होगी। देवी–देवता की उपासना सकाम कर्म है और ईश्वर की उपासना निष्काम कर्म है। जो अज्ञान व्यक्ति मिट्टी, धातु या शिला आदि से बनी मूर्तियों को ईश्वर समझते हैं वे केवल भ्रम में पड़ते हें।

कल्पित मूर्ति अगर ईश्वर है तो स्वप्नलब्ध राज्य भी संभव है। ईश्वर को हम सहज में देख नहीं पाते, इसलिए अज्ञानवश उसके स्वरूप का निर्माणकर पूजा अर्चना करके अपने मन की आकांक्षा पूरी करते हैं। प्रेमिल मूर्ति ईश्वर नहीं हो सकती, उनकी शक्ति सर्वत्र विद्यमान है।

मनुष्य का कर्म ही शुभाशुभ फल प्रदान करता है और यह कर्मात्मक शक्ति ही देव–देवी हैं। कर्म से ही वेदान्त शास्त्र के ब्रह्म, सांख्य के निर्गुण पुरुष और योगशास्त्र की निर्विकल्प समाधि, गंतव्य स्थान तक जाया जा सकता है। ब्रह्म साक्षत्कार के बिना नित्य सुख ओर निर्वाण मुक्ति नहीं मिलती हैं देवी–देवता की उपासना द्वारा भोग ऐश्वर्य लाभ होता है, इसलिए समाधि–सुख से वंचित रहना पड़ता है। एकाग्र चित्त होकर जो जैसी कामना करेगा, उसकी एकाग्रता के निमित्त उसे कामनानुसार शक्ति की सहायता मिलती है। भोग–ऐश्वर्य की कामना रहने से भोग–ऐश्वर्य फलदाता, देवी–देवता की सहायता मिलेगी और यदि निष्काम है अर्थात् ब्रह्म ज्ञान को छोड़ अन्य कामना न रहे तो निर्गुण निराकार की सहायता मिलेगी। ब्रह्म साक्षात् साकाम कर्म–हेतु देवी–देवता की उपासना और निष्काम कर्म ही ईश्वर उपासना है।ब्रह्म–ज्ञान के इच्छुक होकर और भोग–ऐश्वर्य, कामना–रहित होकर साकार उपासना करने से यथार्थ ईश्वर उपासना होती है।

कर्म शब्द का क्या अर्थ है? जो किया जाए वही कर्म है। कर्म दो प्रकार के हैं– सूक्ष्म एवं स्थूल। हम किसी स्थान पर जाने का विचार कर वहाँ गये तो वह यह स्थूल कर्म हुआ क्योंकि शारीरिक अंगो की परिचालन शक्ति का कार्य हुआ और यदि केवल मन में सोचें और न जायें तो मानसिक शक्ति का अपव्यय हुआ। चित्त के एकात्मक कर्म का जो बीज उत्पन्न होता है वह दीर्घकाल तक स्थायी होता है। वेद का कर्मकाण्ड भाग देवी–देवता की उपासना ही है। ईश्वर निष्काम है अतः तुम भी निष्काम हो। इस प्रकार कामना रहित होकर उपासना करने से ही ईश्वर मिलते हैं, कामना और आशा रहने से ईश्वर प्राप्त की आशा नहीं, हिन्दू मात्र ही ईश्वर से मोक्ष की आशा छोड़ दे और कुछ प्रार्थना नहीं करे तो ठीक है क्योंकि परमात्मा नित्य फलमोक्ष को छोड़ और कुछ फल देना जानता ही नहीं। एकाग्रचित होकर उपासना के बिना मुख से केवल ईश्वर, जगत के रचयिता, दयामय, सर्वशक्तिमान, अचिन्त्य अव्यक्त आदि कहने से ही ईश्वर के बारे में ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

राग–द्वेष आदि दोषों से शुभाशुभ फल की उत्पत्ति होती है। कर्म ही संसार का निमित्तकरण है। इसलिए अविद्या को त्यागना सर्वतोभाव से कर्तव्य है। किसी ने अगर उपकार किया तो उपकृत व्यक्ति को पहले ऐसा सोचना चाहिए कि उपकार किसका किया। ऐसा विचार करने से द्वेष हो ही नहीं सकता। आत्मा निकल जाने से यह पंचभूत शरीर जड़ पदार्थ मात्र बन जाता है। ज्ञान चैतन्य कुछ भी नहीं रहता, तब आग से जले श्रृगालादि खायें, वह कुछ ज्ञान ही नहीं होता। ऐसे जड़ शरीर का अपमान क्या ?

अपनी आत्मा के साथ जगत की आत्मा को एक तान में मिलाने का नाम योग है। इस तरह योगयुक्त आत्मा (योगी) अपने को सर्वभूतात्मक समझते हैं। जनता एकत्रित होने पर एक प्रकार का कोलाहल सुनायी पड़ता है किन्तु प्रत्येक की अलग–अलग आवाज सुनायी नहीं पड़ती, केवल एक ही–हो हो–शब्द सुनायी पड़ता है, उसी का नाम योग है। जैसे अनेक स्वर एक तान में मिलाकर बजाने से सिर्फ एकमात्र शब्द सुनायी पड़ता है, वह स्वर ही योग है। इस प्रकार जो व्यक्ति इस जगत के समस्त भूतों के चैतन्य का अनुभव कर सकते हैं, वही जान सकते हैं कि चैतन्य अथवा योग क्या है। वह चैतन्य ही जगत की आत्मा है।

उपासना के द्वारा उपास्य देवता के बारे में जिनको 'सोहं' ऐसा ज्ञान पैदा होता है, वही ठीक समझ सकते हैं कि हम कौन हैं ? हमारे सम्पर्क हस्त–पादादि और मन के साथ घनिष्ठ हैं, ऐसा अनुभव करते हैं इसलिए हस्त, पादादि और मन से अहंकार पैदा होता है। मनुष्य क्रमशः जितनी उन्नति करेगा, उतना ही समझ सकेगा कि हमारे साथ समस्त जगत का उसी तरह घनिष्ठ संबंध है। इस अनुभव शक्ति का विकास होने पर मनुष्य स्पष्ट रूप से इस संबंध का अनुभव करता है। अपने अहं ज्ञान के साथ इस जगत् का योग ही असली योग है। जिस भिन्न ईश्वरीय शक्ति से जगत चल रहा है, उन सब शक्तियों की क्रिया को मानव कोशिश करने से अपने में ही देख सकते हैं, इसलिए मनुष्य को छोटा ब्रह्माण्ड कहा गया है। यह कम आक्षेप की बात नहीं है।

संक्षिप्त : उपासना या आराधना उत्कोच नहीं है। यह ईश्वर की विशुद्ध शक्ति को आकर्षित करने का यंत्रस्वरूप है। ईश्वर को जानने की आवश्यकता होने पर जिस मार्ग पर चलने से उन्हें जाना जा सकता है, उसी का नाम उपासना है।

मनुष्यमात्र सुख चाहता है। लेकिन सुख असल में किस अवस्था को कहा जाता है, यह किसी को अवगत नहीं है। दुःख की चरम निवृत्ति ही महासुख है। दुख नहीं रहने पर सुख कैसा है, इसको कोई नहीं जान सकता। अन्याय कार्य करने पर कष्ट भोगना पड़ता है। ईश्वर मनुष्य को जो कष्ट देते हैं, वह सुख भोगने के लिए। इनकी इच्छा ऐसी है कि मनुष्य सत्पथ पर चलकर हमेशा सुख भोगे। जीव को कष्ट देना भी उनकी परम दया का परिचय है। अतः मनुष्य को समझना चाहिए कि सुख–दुःख बराबर है अन्याय करके दुःख भेगने की अपेक्षा अन्याय न करना उत्तम है।

ईश्वरोपासाना नितांत आवश्यक है। ऐसा विचार जब स्थिर सिद्धांत के रूप में होगा और मन में ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास उत्पन्न होगा– तब पहले आसन का प्रयोजन होगा निर्जन और प्रशस्त कमरे में उपयुक्त आसन लगाकर उत्तरमुख होकर बैठना पड़ेगा जिससे शरीर, मस्तक और ग्रीवा सामने रेखा में रहे। नयन मुद्रित कर नासिकाग्र अथवा दोनों भौहों के बीच दृष्टि स्थापित कर शांत और स्थिर चित्त होकर मन ही मन गुरुप्रदत्त बीज मंत्र का जाप करे। नियमपूर्वक सुबह शाम आधा घंटा निश्चिंत मन से बैठने से और जब तक आलोक दर्शन नहीं होता तब तक समय बढ़ाना होगा। मन को स्थिर करने का इससे सीधा रास्ता और कोई नहीं है। मन स्थिर न होने से कोई साधना नहीं हो सकती। मन स्थिर हो जाने से आसन की कोई आवश्यकता नहीं है।

मन, बुद्धि प्राण शरीर अंहकार तथा इन्द्रियों से चिद स्वरूप आत्मा भिन्न है, वही आत्मा ही ईश्वर, निराकार, निर्मल तथा जन्म, मृत्युजरा व्याधि से वर्जित हैं। वे चिन्मय, आनन्दमय अशरीरी, पूर्ण, ज्योतिर्मय नित्य एवं शुद्धि, ज्ञानमय, संवेदनस्थित, सर्वातीत है। ऐसा चिन्तन एकाग्र चित्त से करना चाहिए। प्रथम अरुणोदय की तरह वृत्तिरूप ज्ञान उदय होकर अज्ञान रूपी अंधकार का हरण करता है तत्पश्चात् आत्मा सूर्य की तरह स्वयं प्रकाशित होती है।

चित्त की उन्नति तथा स्थिर करने के लिए मनुष्य को कोई उन्नत दशा प्राप्त, परम आदर्श स्वरूप महापुरुष के आदर्श के साथ मन को दृढ़ बंधन से बांध रखना चाहिए। इसके लिए दृढ़ भक्ति की आवश्यकता है क्योंकि भक्ति के बिना ईश्वर उपासना के मार्ग पर आगे नहीं बढ सकते हैं।

सम्पूर्ण ज्ञानी विशिष्ट योगी ज्ञानचक्षु द्वारा अपनी आत्मा में समस्त जगत को और उसी एक आत्मा को जगत में देखते हैं यह पूरा जगत् एक आत्मा ही है।

ज्ञानी व्यक्ति बाहरी अनित्य सुख को त्याग कर आत्मसुख से परिपूर्ण होकर निश्चल दीप की तरह निर्मल अन्तर में प्रकाशित होते हैं और मौन रूप से विचरण करते है। मौनी पुरुष के उपाधि का विनाश होने पर सर्वव्यापी परमात्मा में प्रवेश करते है ऐसे व्यक्ति को जीवन्मुक्त पुरुष कहते हैं।

धर्म से भक्ति, भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति मिलती है। मन का संयम ही साधना का प्रथम सोपान है। भक्ति, विश्वास और दृढ़ता से कार्य करने पर मन को जय किया जा सकता है। दया ही याधना की मूल भित्ती है।ईश्वर में मन–प्राण अर्पण करनेवाले कभी किसी को संताप नहीं देते।

जो श्रद्धायुक्त आसैर भक्तिपरायण हैं वे ईश्वर को अवश्य प्राप्त करेंगे तथा उनकी मुक्ति भी निश्चित है। किसी साकार मूर्ति या देवी–देवता की उपासना ईश्वर की उपासना नहीं है। किसी आकार युक्त पदार्थ को ईश्वर मानना उनकी महिमा को कम करना है, ऐसा करने से उपासक गलत मार्ग का राही बनता है। सकाम उपासना देवी–देवताओं की उपासना एवं निष्काम उपासना ईश्वर की उपासना है।

अपनी आत्मा से जगत की आत्मा का मिलन कराना ही योग है। ऐसी योगयुक्त आत्मा ही अपने को सर्व भूतस्थ मानती है तथा वे समस्त जगत के भिन्न–भिन्न भूतों में चैतन्य का अनुभव करती है एवं यह समझती है कि यही चैतन्य जगत की आत्मा है। अनुभव शक्ति के विकास से मनुष्य अपने अहम् बोध से जगत के स्पष्ट योग का अनुभव करते हैं।यह अनुभव ही उन्हें जानना है।

पूर्वजन्म और परजन्म

पूर्वजन्म और परजन्म होता है या नहीं, इसे जानने के लिए लोग उत्सुक रहते हैं। अगर इसे जानने की इच्छा हो तो चित्त स्थिर करके विचार करने से पूर्व जन्म वर्तमान जन्म और भविष्य जन्म तीनों जन्म स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ते हैं। पूर्व जन्म में हमने जो कर्म किये हैं और जिस स्वभाव के व्यक्ति रहे हैं, मृत्यु के बाद कर्म फल के अनुसार यह सब प्रमाण लेकर वर्तमान शरीर बना है। वर्तमान जन्म में हमने अच्छा या बुरा जो कार्य किया है, वह सब भलीभांति तैयार है। अच्छा कार्य करने से अच्छा फल और बुरा कर्म करने से बुरा फल भोगना पड़ेगा, यह बात सबको स्वीकार करनी चाहिए। जो विचार करेगा, वही जान सकेगा कि वर्तमान जीवन में हम किस तरह के मनुष्य बन रहे हैं और हम सब इन सब कार्यों के अनुसार भविष्य के जीवन में किस स्वभाव तथा अवस्था के व्यक्ति होंगे। चेष्टा करने से निज में ही सब जाना जा सकता है, दूसरों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती।

वर्तमान जीवन का यह लोक ही पूर्व जन्म का परलोक है और वर्तमान जन्म का परलोक ही भावी जन्म का इहलोक होगा। इस स्थूल शरीर के भीतर अन्य शरीर है, उसका नाम सूक्ष्म शरीर और उसके भीतर भी एक और शरीर है, उसका नाम कारण शरीर है। केले के वृक्ष के छाल की तरह एक के भीतर एक रहकर ही यह विचित्र शरीर संसार सागर में विराजमान है। मानव शरीर के गठन, आकृति, वर्ण, स्वभाव लघु कदाकर, विद्वान अथवा मूर्ख, कठोर या नम्र, धार्मिक या अधार्मिक, साधु अथवा असाधु, चोर या शाह, सरल या कुटिल, राजा या रंक, मध्यम श्रेणी के या गरीब, उच्च वंश या नीच वंश, यह सब पूर्व जन्म के कर्मफल के अनुसार वर्तमान शरीर बना है, उसी प्राकर पुनः इस जीवन के कर्मफल को लेकर परजन्म का शरीर बनेगा।

जीव का जन्म से मृत्यु तक का समय है, वही उसकी आयु है। अगर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो जीव की आयु अनन्त है। जीव अक्षय तथा अमर है। जीव नष्ट होने पर भी उसका उपकरण नष्ट नहीं होता। साधारण लोग सोचते हैं कि जीव जितना पुण्यवान होगा उसकी परमायु भी उतनी अधिक होगी और वह

अधिक दिन जीवित रहेगा। परन्तु ऐसा समझना भूल है। जीव संसार से जितना दूर रहेगा, पाप उसको स्पर्श नहीं करेगा। जीव कर्मफल भोगने के लिए संसार में आता है। क्योंकि यह संसार ही कर्मफल भोगने का स्थान है। जो पुण्यवान हैं, वह कभी कर्मफल नहीं भोगता। जब तक जीव का कर्मफल भोग समाप्त नहीं होता, तब तक वह पाप से मुक्त नहीं होता, उतने दिन उसे संसार में रहना पड़ता है, जो जितना पापी है उसको उतने दिन संसार में रहकर कर्मफल भोग करना पड़ता है। जिसका कर्मफल समाप्त हो गया है वह संसार से मुक्त हो जाता है और जिसकी जिन्दगी लय होती है, वह पुण्यवान और पाप शून्य होने पर ईश्वर में लीन हो जाता है, तब उसकी आयु असीम है और जब तक ईश्वर की सत्ता वर्तमान में रहती है तब तब उसकी सत्ता विद्यमान रहती है।

मनुष्य जैसा पाप–पुण्य करता है क्रमशः उसी तरह दिन–रात उसका भोग हुआ करता है, इसलिए कर्मफल समाप्त न होने से पुनः पुनः संसार में आना पड़ता है। पंचभूत का पुतला मानव मृत्यु के बाद कहीं जाता है या मृत्यु ही अंत है। अंग्रेज कहते हैं कि मनुष्य के कर्मफल इसी जन्म में भोगे जाते हैं और मृत्यु ही अंत है, किसी को कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा सोचना सर्वथा गलत है। अगर ऐसा स्वीकार किया जाय तो परजन्म भी अवश्य मानना पड़ेगा।

अगर ईश्वर है तो मनुष्य की आत्मा भी है। ईश्वर का ध्वंस नहीं तो मनुष्य की आत्मा का भी ध्वंस नहीं। परजन्म यदि नहीं हो तो ईश्वर को दयामय कभी नहीं कहा जा सकता। कारण इस जीवन में कोई राजा, कोई प्रजा, कोई धनी, कोई दरिद्र, कोई अन्धा, कोई खंज, कोई बड़े घर में, कोई नीच वंश में, जन्म क्यों लेता है। मनुष्य ने पूर्वजन्म में जिस प्रकार का कर्म किया है उसका फल भोग समाप्त न हाने पर कर्मफल के अनुसार पुनः शरीर धारण किया है। यही इसका स्पष्ट प्रमाण है। जो जन्मान्ध है, वह इस जीवन में कुछ देख नहीं सकता परन्तु और सब लोग अच्छी तरह देख रहे हैं इसका कोई कारण नहीं है, आशा करते हैं कि कोई भी व्यक्ति इस बात को अस्वीकार नहीं करेगा कि वह पूर्वजन्म के पाप का फल भोग रहा है। ऐसा जानना होगा कि इस जन्म का शरीर, आकृति, गठन, स्वभाव, ज्ञान आदि पूर्वजन्म के कर्मफल के अनुसार ठीक उसी प्रकार गठित हुआ है।

जिसने जिस प्रकार का कर्म किया है उसकी आकृति, गठन, स्वभाव ज्ञान इत्यादि पूर्वजन्म के कर्मफल के अनुसार गठित होता है। जो दस्यु वृत्ति करके

जीवन व्यतीत कर रहा है, पर जन्म में उसकी आकृति व स्वभाव दस्यु की भांति रूक्ष होगा। जो धर्म का आचरण करते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं उनकी आकृति सौम्य और स्वभाव कोमल होगा।

एक मनुष्य पूरा जीवन, धर्म का आचरण करके भी सुखी नहीं होता और संसार में नाना प्रकार के कष्ट पाता है और एक व्यक्ति अति घृणित कार्य, लम्पटता, दस्युवृत्ति कर जीवन आनन्द से बिता रहा है। पूर्व जन्म इसी का स्पष्ट प्रमाण है। यद्यपि जो व्यक्ति इस जीवन में धर्म का आचरण करके भी सुख नहीं पा रहा है तब भी उसका एक समय सुखभोग निश्चित होगा। इस जीवन में जो कष्ट पा रहा है, वह पूर्व जन्म के बुरे कर्म का फल है, जिसे भोगने का समय उपस्थित हुआ है, और जो बुरे कर्म कर सुख से जीवन बिता रहा है यह उसके पूर्वजन्म के कर्म का फल है परन्तु उसके बाद ही महान कष्ट भोगना पड़ेगा।

अनेक लोगों ने कहा है कि पाप कर्म करने की प्रवृत्ति ईश्वर की इच्छा से होती है और पुण्यकार्य करने की अनिच्छा भी ईश्वर से होती है पर यह अज्ञान की बात है। वृत्तियां और इन्द्रियां ही अच्छा या बुरा कार्य करती हैं। क्रोध करने से अनिष्ट होगा, कामना हाने से प्राप्ति की इच्छा होगी, लोभ करने से दूसरों का द्रव्य अपहरण करने की चेष्टा होगी। अहंकार होने से दूसरों का अनिष्ट करने का विचार होगा। जो जिसका धर्म है, वह अपना कार्य करता है, इसलिए ईश्वर ने मनुष्य को हिताहित का ज्ञान देकर जीव को श्रेष्ठ बनाया है। मृत्यु भी कभी श्रेष्ठ नहीं हो सकती अन्यथा ईश्वर को प्रतिदिन अनेक आत्माओं का सृजन करना पड़ता और उसका कार्य इतना बढ़ जाता हालांकि वह सर्वशक्तिमान है।

शरीर विनष्ट होने पर भी आत्मा का किसी प्रकार अनिष्ट नहीं होता जैसे मकान जल जाने से उसके अन्दर के आकाश की कोई क्षति नहीं होती। आत्मा हन्ता भी नहीं होते, न हत ही होते हैं। द्वेष ही संताप का मूल है, द्वेष ही संसार में बन्धन है, द्वेष ही मुक्ति का प्रतिरोधक है। इसलिए बलपूर्वक द्वेष का परित्याग करना चाहिए, सुख–दुःख मन के होते हैं, आत्मा को नहीं। आत्मा वायु की तरह निर्मल व निर्लिप्त है, फिर भी ईश्वर की माया से मुग्ध हम दुःख या सुख का अनुभव करते हैं। विश्वमोहिनी अनादि अविद्या का नाम ही माया है। जन्म ग्रहण करने मात्र से ही जीव का उस अविद्या या माया से सम्बन्ध होता है, वही संसार के बंधन का कारण होता है।

बुद्धि और इन्द्रियों के समीप अवस्थान करने से आत्मा निर्मल होने पर भी उसी पदार्थ के समान गुण सम्पन्न है, ऐसा बोध होता है। मन, बुद्धि, अंहकार जीव के सहकारी हैं, अपना कृत कर्मफल अपने को ही भोगना पड़ता है अर्थात् जिसका जैसा कर्मफल होता है, उसको उसी प्रकार भोगना पड़ता है। पुनः सृष्टि के समय जीव, मन इत्यादि के साथ शरीर धारण करने को बाध्य होता है, जब तक जीव मुक्त नहीं होता, तब तक उसको इसी प्रकार भ्रमण करना पड़ता है। शरीर ही मन का स्थापक मूल है, शरीर ही संसार का कारण है और कर्मफल से ही इस शरीर की उत्पत्ति हुई है। कर्म दो प्रकार के होते हैं– पाप और पुण्य। उसी पाप–पुण्य के अंश के अनुसार देही के सुख–दुःख का भोग होता है। यह सुख–दुःख दिन–रात के पर्याय से होते हैं। बिना भोगे समाप्त नहीं होते और भोग समाप्त न होने पर मुक्ति नहीं होती।

आत्मा इस जीव शरीर का कर्ता है। जिस के जीव से विच्छिन्न होने पर जीव का जीवन नहीं रहता और इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकती, वही वस्तु जीव की आत्मा है। आत्महीन शरीर को सुख–दुःख का अनुभव नहीं होता और रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श इनमें से किसी का ज्ञान नहीं रहता। अतः यह निश्चित हो गया कि आत्मा शरीर का कर्ता है। सुख–दुःख, बोध द्वारा स्वरूप आत्मा को तिरस्कार या पुरस्कार देना हो तो आत्मा के वासस्थल भूत शरीर का प्रयोजन है, क्योंकि हर्ष या विषाद का शरीर की सहायता बिना आत्मा को बोध नहीं हो सकता। आत्मा एकाकी चली जाती है शरीर उसके साथ नहीं जाता। इसलिए आत्मा को दण्ड देना असंभव है, प्रत्येक जीव के शरीर में ईश्वर आत्मा के रूप में वर्तमान है। जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है।

जैसे पाप अनेक प्रकार के होते हैं और उसके दण्ड भी अनेक प्रकार के हैं, पुण्य भी अनेक प्रकार का है, हर्ष भी अनेक प्रकार का है। अनुताप ही पाप का प्रधान दण्ड है जैसे हर्ष ही पुण्य का प्रधान पुरस्कार है। पाप पुण्य का निर्णय करने के लिए मनुष्य का हृदय ही तराजू है। पुण्य से हर्ष, पाप से अनुताप अपने आप मानव हृदय में उदित होकर उसके कृत कर्म के लिए पुरस्कार प्रदान करता है। ऐसे परिणाम को जानकर जो बुद्धिमान होगा वह स्वयं ही पाप से निवृत्त होने की शिक्षा ग्रहण करेगा। पाप–पुण्य का विचार तथा फल भोग इस जगत में ही होता है। 'पंचभूत' केवल परमाणु के समष्टि मात्र है।

परमाणु अविनश्वर है अतः भूत समुदाय का भी विनाश नहीं। मृत शरीर पुनः जल्दी ही पंचभूतों में मिल जाता है। आज जो मानव तुम्हारे सामने विराजमान है, उसका शरीर पूर्व जन्म के किसी जीव के परमाणु से निर्मित है, अतः वह भूतपूर्व जीव के पुनर्जन्म का फल तुम्हारे सम्मुख स्थित मानव है।

जो आत्मा जिस परिमाण में पाप से मुक्त है, जो आत्मा जिस परिमाण से विषय भावना शून्य है, वह आत्मा उसी परिमाण में उन्नत है। धार्मिक की आत्मा पापी की आत्मा से अनेक गुणों से समुन्नत है। शरीर छोड़ने पर भी उस उन्नत आत्मा का स्वभाव नष्ट नहीं होता बल्कि संसार की जो कुछ वासना तथा यत्किंचित प्रवृत्ति भी रुद्ध होती है, वह आत्मा क्रमशः उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ने लगती है। आत्मा पुरुष और शरीर प्रकृति है। वह आत्मा जब तक प्रकृति से संयुक्त नहीं होती, तब तक निष्फल और निर्गुण अवस्था में रहती है, प्रकृति से मिलने से उसमें इच्छा व प्रवृत्ति पैदा होती है एवं प्रकृति से भिन्न होने पर वह पुनः पूर्ववत निर्गुण निर्लेप रहती है। इसका मतलब यह है कि जिस आत्मा में जब तक प्रवृत्ति और वासनादि वर्तमान रहती हैं, तब तक वह शरीर का आश्रय लेती है और तब तक वह सगुण सर्वविषय में लिप्त और वासनादि से युक्त होती है और जब वह शरीर को त्याग देती है तब पुनः आविर्भाव को प्राप्त होती है। आत्मा शुरू में निर्गुण रहने पर शरीरस्थ होने से गुण सम्पन्न होती है और जब तक मोक्ष नहीं मिलता, तब–तक हम पाप का फल भोगते रहते हैं।

पशु के शरीर से मानव शरीर प्राप्त करने के लिए अत्यन्त कष्ट भोगना और चेष्टा करनी पड़ती है। पशु से मनुष्य होने में जितना अधिक काठिन्य है, मनुष्य से मनुष्यत्व प्राप्त करना भी उतना ही अधिक कठिन है। मनुष्य से जितना अधिक देवत्व प्राप्त करना कठिन है, मनुष्य से मनुष्यत्व लाभ करना उससे भी अधिक कठिन है। शुभ कार्य के अनुष्ठान से मनुष्य देवता हो सकता है पर अनायास असली मनुष्य नहीं हो सकता। वह समस्त भोग की आशा को बिना त्यागे मुक्ति मन्दिर में पहुँच नहीं सकता। सकाम शुभ कार्य की साधना से मुक्ति मार्ग और भी दुर्गम हो जाता है। जीव देवलोक में ऐश्वर्य भोगने में मग्न होकर भोग समाप्त होने पर पुनः मर्त्यलोक में आने के उपयुक्त बन जाते हैं इसलिए महापुरुषगण कभी देवधाम की कामना नहीं करते क्योंकि कर्मफल के निमित्त वह स्थान भी चिरस्थायी नहीं हैं। असली मनुष्यत्व लाभ करने के लिए इन्द्रियों के वेग का संवरण करना पड़ता है।

रिपुओं का वशीकरण, अंतःकरण का विशुद्धिकरण, सर्वभूत समदर्शन, अभिमान त्याग इत्यादि मनुष्यत्व लाभ करने के प्रधान उपाय हैं। इसके अतिरिक्त शम, दम, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा उपरित ये सब गुण भी मानव में रहने चाहिए।

शम – ईश्वर के विषय में श्रवण और मनन को छोड़कर अन्य विषयों से अंतरेन्द्रियों का निग्रह।

दम – विषयों में वाह्य इन्द्रियों का दमन।

तितिक्षा – शीत, उष्ण सहन करना।

समाधान – ईश्वर विषयक श्रवण आदि में मन की एकाग्रता।

श्रद्धा – गुरु वाक्य तथा वेदान्त वचन में विश्वास।

उपरति – मोक्ष की इच्छा।यह सब गुण भी मानव में रहना चाहिए।

मनुष्यत्व लाभ करने पर भी मनुष्य की मुक्ति की इच्छा सहज ही पूरी नहीं होती। जब तक विषय–भोग से क्लेश का अनुभव नहीं होगा, तब तक जीव जितेन्द्रिय या योगीन्द्र होने पर भी मोक्ष नहीं पा सकता। वासना का त्याग ही मोक्ष मिलने का प्रधान उपाय है। मुक्ति की उच्छा होने पर भी मुक्ति नहीं मिलती। महापुरुषों के साथ सत्संगति करने से मुक्तिमार्ग अवश्य मिलेगा। जीव को बहुत बड़े सौभाग्य से सत्पुरुष का सान्निध्य मिलता है। साधुगण प्रायः निर्जन स्थान में रहते हैं, कभी दृष्टिगोचर होने पर भी उन्हें सहज में पहचाना नहीं जा सकता। वे पहचाने जाने पर भी निकट नहीं रहने नहीं देते। निकट रहने का अधिकार पाने के लिए हम उनके निर्मल हृदय भाव को समझ नहीं पाते। नदी पार होने के लिए जैसे नाविक की सहायता से नौका के द्वारा ही जाना पड़ता है, उसी तरह संसार सागर से पार होने के लिए महापुरुषों का संसर्ग करके उपाय ग्रहण करना पड़ता है। सत्संग से सब सुकर्म हो जाता है। धर्मप्रियं की आत्मा को धर्मबल से क्रमशः उन्नति पाकर अंत में मोक्ष मिलता है। इस प्रकार की उन्नति एक मास या एक साल में नहीं होती, दीर्घकाल की चेष्टा करने पर मोक्ष मिलता है। इसके विपरीत पापी की आत्मा क्रमशः अधोगति प्राप्त करती है। स्वर्ग या नरक कुछ नहीं है, केवल आत्मा की उन्नति या अवनति मात्र हैं। आत्मा की उन्नति या अवनति के साथ अवस्थान्तर प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के स्थान में और नाना प्रकार की अवस्था में उनका जन्म हुआ करता है।

इस विशाल तथा विस्तृत जगत में कौन कहाँ जन्म ले रहा है, उनका अनुसंधान

नहीं हो सकता, इसलिए साधारण लोग पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। पुनः जन्म या पूर्वजन्म हम देख नहीं सकते। पुर्नजन्म प्राप्त किया है ऐसा किसी ने सामने आकर कहा नहीं, केवल अनुमान और युक्ति द्वारा प्रतिपन्न कर उस पर विश्वास करना होता है। नहीं तो धर्माधर्म, पाप, पुण्य में कुछ फर्क नहीं रहता। मनुष्य पाप करने से डरता क्यों हैं? केवल परजन्म है, इस विश्वास का कारण और परजन्म में घोर नरक यंत्रणा भोगनी पड़ेगी, ऐसा भय होने रहने के कारण। इस जन्म में कोई विद्वान कोई मूर्ख, कोई पण्डित, कोई ज्योतिषी, कोई उच्च कोटि का गायक, कोई पटुवादक इसका कारण पूर्वजन्म ही है। पूर्वजन्म वे इस विद्या में पटु रहे होंगे, इस जन्म में आत्मा वही है, केवल शरीर भिन्न है, इसलिए उनको इन विषयों का सहज ही अभ्यास हो जाता है, सीखने के जिए विशेष कष्ट नहीं होता।

यदि कर्मफल न रहा होता तो अवस्था के इतने प्रकार के भेद नहीं रहते। अच्छे और बुरे कर्म के निमित्त जीव को नाना प्रकार की अवस्था में रहना पड़ता है। अच्छा कर्म करने से आत्मा की उन्नति होकर ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है और बुरा कर्म करने से आत्मा की अवनति होकर निम्नगामी बनना पड़ता है। इस विषय का तत्वज्ञान में विशेष रूप से वर्णन किया गया है, उस प्रकरण का मनोयोग पूर्वक विचार करने से सब समझ में आ जायेगा।

संक्षिप्त : पूर्वजन्म और परजन्म है या नहीं इसको जानने की इच्छा अधिकांश मनुष्यों में होती है। इस विशाल तथा विस्तृत पृथ्वी पर कौन कहाँ जन्म ले रहा है इसका अनुसंधान नहीं हो सकता, इसलिए साधारण लोग पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। पुनर्जन्म व पूर्वजन्म हम देख नहीं सकते क्योंकि किसी ने सामने आकर ऐसा कहा नहीं है, केवल अनुमान और युक्ति द्वारा प्रतिपन्न कर उस पर विश्वास करना होता है. नहीं तो धर्माधर्म पाप पुण्य में कुछ फर्क नहीं रहता। मनुष्य पाप करने से डरता हैं? क्योंकि परजन्म में घोर नरक यंत्रणा भोगनी पड़ेगी। ऐसा भय होने रहने के कारण।

मनुष्य में कोई विद्वान, कोई मूर्ख, कोई पण्डित, कोई ज्योतिषी, कोइ गायक, कोई कुछ इसका कारण पूर्वजन्म में वे लोग उस विद्या में पटु रहे, इस जन्म में आत्मा वही है, केवल शरीर भिन्न है, इसलिए उनको इन सब विषयों का सहज में अभ्यास हो जाता है।

कर्मफल न होता तो अवस्था के इतने प्रकार के भेद नहीं होते। कर्मफल के अनुसार जीव को नाना अवस्था में रहना पडता है। अच्छा कर्म करने से आत्मा की उन्नति होकर ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है और बुरा कर्म करने से आत्मा की अवनति होकर निम्नगामी होना पड़ता है। आत्मा को अवस्थान्तर प्राप्त के लिए नाना प्रकार के स्थान में और नाना प्रकार की अवस्था में उनका जन्म हुआ करता है। आत्मा– पुरुष और शरीर प्रकृति है। जब तक प्रकृति से संयुक्त नहीं होता तब तक निर्गुण अवस्था में रहता है। प्रकृति से मिलने पर उसमें इच्छा व प्रवृति पैदा होती है। जिस आत्मा में जब तक प्रवृति और वासनादि वर्तमान रहती हैं, तब तक यह शरीर का आश्रय करती है जब तक मोक्ष नहीं मिलता तब तक पाप का फल भोगते रहते हैं। समस्त वासना और भोग की आशा को बिना त्यागे कोई मुक्ति मंदिर में नहीं पहुँच सकता। सकाम शुभ कार्य की साधना से मुक्तिमार्ग और भी दुर्गम हो जाता है।

पशु शरीर से मनुष्य शरीर प्राप्त करने के लिए, अपने स्वभाव में परिवर्तन करने के लिए अत्यन्त कष्ट और चेष्टा करनी पड़ती है। पशु से मनुष्य होना जितना कठिन है, मनुष्य से मनुष्यत्व लाभ करना उससे भी अधिक कठिन है।

मनुष्यत्व लाभ करने पर भी मनुष्य को मुक्ति की इच्छा, सहज में नहीं होती, विषय भोग से जब तक क्लेश का अनुभव नहीं होता, साथ ही साथ वासना का त्याग ही मोक्ष मिलने का प्रधान उपाय है। हरेक मनुष्य को जन्म मृत्यु के हाथ से बचने के लिए मोक्ष की चेष्टा करनी चाहिये।

आत्मबोध

आत्मबोध का अर्थ है अपने को पहचानना। हम अगर अपने को जान सके तो भगवान को भी जान सकेंगे। जब तक हम अपने को नहीं जानेंगे, तब तक भगवान को जानने की चेष्टा करने पर भी नहीं जान सकेंगे। हम क्या हैं, इसको जानने के लिए आत्मा, मन और बुद्धि इन तीन पदार्थों के तत्व को जानना आवश्यक है। यह निश्चित है कि एक आत्मा ही शरीर की प्रमुख वस्तु है, मालिक एवं कर्ता है। जैसे सूर्य पृथ्वी का कर्ता है, उसके आलोक प्रदान करने पर समस्त जीव उस आलोक के आश्रय में सब कार्य करते हैं, परन्तु सूर्य निज में कुछ नहीं करता उसी तरह मनुष्य शरीर में आत्मा ही सूर्य की भांति कर्ता होकर प्रकाश प्रदान करती है। जिस प्रकाश को पाकर इन्द्रियाँ कार्य करती हैं परन्तु आत्मा साकार है या निराकार और शरीर के किस स्थान पर किस भाव में अवस्थित है। जिसको आत्मा कहा जाता है, वह अवश्य सीमाबद्ध है, परन्तु उसका कोई आकार नहीं है, जिसके साथ उसकी तुलना की जा सके। हमारी आत्मा तथा दूसरे की आत्मा एक ही पदार्थ है जैसे एक टुकड़े कागज पर नाना प्रकार के चित्र अंकित रहने पर भी प्रत्येक चित्त का आधार वह कागज ही है उसी प्रकार जगत की सभी आत्माएँ एक ही हैं। कुछ दिन तक एकाग्र मन से आत्मा को जानने की चेष्टा करने पर हम निश्चय ही जान सकेंगे कि आत्मा अग्नि कण के समान हृदय में विराजमान है। आत्मा रहने पर परमात्मा भी है, यह निश्चित है और जो परमात्मा हैं वही ईश्वर रूप हैं। यह निश्चित है कि आत्मा ईश्वर का विशिष्ट रूप है। इसलिए चेष्टा करने पर यह अवश्य देखने को मिलता है और अनेक देखते हैं। अतः आत्मा साकार हैं–इसमें संदेह नहीं। आत्मा को जानने से परमात्मा को जाना जा सकता है और परमात्मा को जानने से भगवान या ईश्वर को जाना जा सकता है। यह निश्चित है कि आत्मा ईश्वर का अंश है, इसलिए आत्मा को जानने से परमात्मा को जाना जा सकता है।

बहुतों को जानने की इच्छा हो सकती है कि मन और बुद्धि साकार है या निराकार। मन विश्वव्यापी नहीं है मन अवश्य कुछ सीमा के भीतर व्याप्त है, तब मन

निश्चय ही कुछ वस्तु विशेष है। सब लोग कहते हैं, हमारा मन, तुम्हारा मन, आदि और यह भी समझ में आता है कि प्रत्येक मनुष्य के कार्य भी पृथक हैं और मन का कार्य भी सम्पूर्ण रूप से भिन्न प्रकार का है, यह भी चिन्ता करने से ज्ञात होता है। अतः मन साकार है। इसलिए यह सहज ही समझा जा सकता है कि मन का कार्य अलग है।

अगर मन के स्थान की व्यापकता रूप धर्म को अस्वीकार किया जाय, तब मन को फिर वस्तु नहीं कहा जायेगा। तब मन को व्यापकता, धर्म विशिष्ट वस्तु का गुण मात्र कहा जायेगा।साधारणतः स्थूल की सहायता के बिना किसा द्रव्य का आकार उपलब्ध नहीं होता, इसलिए मन का आकार किस रूप का है, वह समझ में नहीं आता। आकार शब्द के यथार्थ अर्थ का ज्ञान होने सक किसी को किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होगी। एक बार सोच कर देखो कि तुम्हारा मन तुम्हारे शरीर से सम्पूर्ण भिन्न वस्तु होते हुए भी तुम्हारे शरीर के किसी स्थान में नहीं है, ऐसी धारणा कभी नहीं कर सकते। अतः मन साकार है, यह निश्चित हुआ, अस्तु इस बात को उपलब्ध किया जा सकता है कि मन का कार्य भी पृथक है।

बुद्धि जगतव्यापी नहीं है अपितु निश्चय ही कुछ सीमाबद्ध स्थान लेकर है, इसलिए बुद्धि भी वस्तु विशेष है। जिसे बुद्धि कम होती है, उसी को लोग बेवकूफ कहते हैं। बुद्धि जब कुछ स्थान लेकर है, तब वह साकार है– इसमें कोई संदेह नहीं, अच्छे–बुरे का विचार बुद्धि करती है, यह ज्ञान भी समझ में आता है। मन और बुद्धि का स्थान मस्तक में है, यह भी सहज ही समझा जा सकता है। बुद्धि जीव शरीर में दर्पण के रूप में है।

एकमात्र प्रणव मंत्र से ही जगत की सृष्टि, स्थिति और लय कार्य चल रहा है और प्रणव मंत्र के देवता अग्नि है। हिन्दू समझते हैं कि इस अग्निगत शक्ति से ही जगत चक्र घूम रहा है और यह अग्निगत शक्ति चेतन नहीं है ऐसा वह कभी नहीं सोचते। हिन्दुओं के लिए प्रणव मंत्र का लक्ष्य अग्निगत शक्ति, ब्रह्मचैतन्य तथा चेतनायुक्त है।

जब तक हमारी उंगली हमारे हाथ में लगी है, तब तक वह चेतनामय है, उसको काट देने से, हमसे अलग हो जाने पर उसमें चेतना नहीं रहती, वह अचेतन पदार्थ बन जाती है। यह समग्र विश्व एक चेतनामय पुरुष का शरीर है। यह समग्र विश्व एक पुरुषमय पुरुष का शरीर है और भिन्न–भिन्न शरीर का आधार है यथा अग्नि, वायु,

नदी, पर्वत, मिट्टी इत्यादि उसी शरीर के अंग विशेष है, अग्नि को यदि उस चेतनामय पुरुष से अलग न समझें तो उसमें चेतना है, ऐसा समझेंगे और जो मनुष्य अग्नि का उस चेतनामय पुरुष से सम्पर्क नहीं है, ऐसा समझते हैं उनके लिए अग्नि जड़ पदार्थ है।

आत्मा सदा स्वतंत्र रहने पर भी सर्वत्र प्रकाशित नहीं होती, केवल निर्मल बुद्धि में ही प्रकाशित होती है। इन्द्रियों को अपने–अपने कार्य में लगे रहने के कारण अविवेकी लोग समझते हैं कि आत्मा ही सब कार्य में लगी है जैसे बादल धायमान होने से मालूम होता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि चैतन्यस्वरूप आत्मा का आश्रय लेकर कार्य करते हैं जैसे सूर्य के आलोक का आश्रय लेकर मनुष्यगण कार्य करते हैं।

अनुराग, इच्छा, सुख, दुःख इत्यादि वृत्तियां बुद्धि में ही होती है, परन्तु बुद्धि के न रहने से राग, इच्छा इत्यादि कुछ नहीं रहता। जैसे सूर्य का स्वभाव है प्रकाश, जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव, सत्य, चैतन्य, आनन्द, नित्यता तथा निर्मलता है। आत्मा की वर्तमानता चैतन्य का अंश और बुद्धिवृत्ति इन तीनों के संयोग से अविवेकी लोगों में हम जानते हैं, हम करते हैं– ऐसी प्रवृत्ति होती है।

आत्मा में किसी प्रकार का विकार नहीं है, बुद्धि कदापि इसका बोध नहीं कर सकती। इसलिए जीव समुदाय वस्तु को जानकर हम ज्ञाता, हम द्रष्टा ऐसे ज्ञान से मुग्ध होता है। जैसे रज्जु में सांप का ज्ञान होने से सर्प का भय होता है परन्तु रज्जु का ज्ञान होने से भय नहीं रहता, उसी प्रकार जीव में आत्मा का जीव ज्ञान होने से भय होता है, हम जीव नहीं, हम परमात्मा हैं, ऐसा ज्ञान होने से भय नहीं रहता।

मन, बुद्धि इत्यादि इन्द्रियों को आत्मा ही प्रकाशित करती है। अचेतन बुद्धि इत्यादि अन्य इन्द्रियाँ आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकती जैसे दीपक सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है पर दीपक को कोई वस्तु प्रकाशित नहीं कर सकती। आत्मा के स्वरूप का बोध होने पर, उसका ज्ञान प्राप्त होने पर दूसरे ज्ञान की इच्छा नहीं करती। जैसे दीपक का स्वरूप प्रकाशित होने पर दूसरे दीपक की इच्छा नहीं रहती।

अविद्या उत्पन्न शरीरादि सभी दृश्य वस्तु जल बुदबुद की भांति विनाशी हैं। इन वस्तुओं से परे जो निर्मल ब्रह्म है वही हम हैं, ऐसा ज्ञान करना चाहिए। ऐसा बोध करना चाहिए कि हमारा शरीर नहीं और हम शरीर नहीं हैं। शरीर से हम पृथक हैं, इस कारण जन्म, जरा, मृत्यु इत्यादि शरीर धर्म हममें नहीं है और इन्द्रियाँ भी हमारी नहीं है,

अतः इन सबों के विषय या कार्य से हमारा कोई सम्पर्क नहीं। हमारा मन नहीं इसलिए दुःख, राग, द्वेष, भय आदि जो कुछ मन का कार्य है, वह सब हममें नहीं। हम अप्राण, हम अमल, हम शुद्ध आत्मास्वरूप हैं। यह वेद प्रसिद्ध वाक्य है। निर्गुण क्रियारहित जो नित्य आत्मा है, वही हम हैं। हमारा कोई आकार या विकार नहीं, हम सदा मुक्त हैं। जब हमारा क्षय नहीं, तब हम अचल, सर्वदा शुद्ध व निर्मल और आकाश की भांति समभाव से सब वस्तुओं के अन्दर तथा बाहर है। जो व्यक्ति हम ब्रह्म हैं, ऐसी वासना करता है, उसके लिए समस्त दृश्य वस्तुएं विनष्ट हो जाती हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन सबों का प्रभेद परमात्मा में नहीं है। चैतन्यमय आनन्दस्वरूप होकर वह स्वयं दीप्यवान हैं।

जैसे एक ही आकाश घट के अन्दर होने से घटाकाश कहलाता है तथा भिन्न–भिन्न आकाश मालूम होता है और घट टूट जाने से एक ही आकाश हो जाता है, भिन्न–भिन्न आकाश नहीं रह जाते, उसी तरह एक ही परमात्मा नाना उपाधिभेद से भिन्न–भिन्न ज्ञात होता है, उपाधि नष्ट होने पर जो एक परमात्मा है, वही रह जाता है। परमात्मा भिन्न–भिन्न नहीं। जैसा अंत में लवण आदि रस या लाल आदि रंग मिलने से स्वाद और रूप में प्रभेद आरोपित होता है, उसी प्रकार नाना उपाधिवश जाति, नाम और आश्रय इत्यादि सब वस्तुएँ परमात्मा में आरोपित है।

जैसे धान को कूटने से चावल निकल आता है, उसी तरह शरीर में आवृत परमात्मा को युक्ति द्वारा शरीर से पृथक कर भगवान बनाने से उनका शुद्ध स्वरूप प्रकाशित होता है। जैसे उष्णता अग्नि का आश्रय लेकर रहती है, उसी प्रकार इन्द्रियादि जड़ वस्तु समूह को अद्वितीय, निश्चल और निश्चय नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा को आश्रय बनाकर अपने–अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। उनको ही उस सर्वान्तर्यामी ज्ञानमय नित्य आत्मा समझना चाहिए। अतः आत्मा ही हम हैं और हम कहने से अन्य किसी पदार्थ को नहीं जानना चाहिए। हम ही वह अथवा वही हम और कुछ नहीं, हमारा कुछ नहीं। वही एवं उसका ही सब है।

मानव रूप तृण को वासना वायु द्वारा संचालित होकर जन्म जन्मान्तर में जो दुःख होता है, वह वचनातीत है। यह हमारा है और यह हमारा नहीं, इस प्राकर का भ्रम ज्ञान ही संसार बंधन का कारण है। हम कहने से आत्मा से भिन्न और कुछ नहीं है। सभी ब्रह्म है ऐसा ज्ञान होने से मुक्ति हो सकती है। ऐसा उपाय भी अपने अधीन है। अतः स्वाधीन उपाय रहने पर भी जो असीम संसार यंत्रणा का भोग करना पड़ता है यह

कम आक्षेप की बात नहीं है।

संक्षिप्त : अपने को पहचानना ही आत्मबोध कहलाता है। जब तक मनुष्य अपने को नहीं जान सकता है। तब तक भगवान को जानने की चेष्टा करने पर भी उन्हें नहीं जान सकता है।

अपने को जानने के लिए आत्मा, मन, बुद्धि इन तीन पदार्थो के तत्व को जानना आवश्यक है। आत्मा ही शरीर की प्रधान वस्तु या कर्ता है। आत्मा परमात्मा का अंश है आत्मा को जानने से परमात्मा को जाना जा सकता है परमात्मा को जानने से ईश्वर को जाना जा सकता है। आत्मा ही शरीर की प्रधान वस्तु या, मालिक है। जैसे सूर्य के आलोक के आश्रय से सब कार्य चलता है पर सूर्य निज में कुछ नहीं करते उसी प्रकार मनुष्य शरीर में भी आत्मा भी सूर्य की भांति कर्ता है। जिसके प्रकाश से इन्द्रिय, मन, बुद्धि सभी कार्य करते हैं, परन्तु आत्मा निज में कुछ नहीं करती। आत्मा का कोई आकार नहीं है जिसके साथ उसकी तुलना की जा सके। हमारी तथा दूसरे की आत्मा एक ही है जैसे एक टुकड़े कागज पर नाना प्रकार के चित्र अंकित रहते हैं पर प्रत्येक चित्र का आधार एक ही कागज है। उसी प्रकार सभी जीवों का आधार एक आत्मा ही है। एकमात्र प्रणव मंत्र से ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय कार्य चल रहा है और प्रणव मंत्र के देवता अग्नि हैं इस अग्निगत शक्ति से ही जगत चक्र घूम रहा है।

आत्मा सदा सर्वत्र रहने पर भी सर्वत्र प्रकाशित नहीं होती, केवल निर्मल बुद्धि में ही प्रकाशित होती है। आत्मा का स्वभाव सत्य, चैतन्य, आनन्द नित्यता तथा निर्मलता है।

आत्मा के स्वरूप का बोध होने से उसका ज्ञान प्राप्त करने से दूसरे ज्ञान की इच्छा नहीं रहती है। जैसे धान को कूटने से चावल निकल आता है, उसी तरह शरीर में आवृत परमात्मा को युक्ति द्वारा शरीर से पृथक करके भावना करने से उनका शुद्ध स्वरूप प्रकाशित होता है। आत्मा निर्मल ब्रह्म है वही हम है, जन्म, मृत्यु जरा आदि शरीर का धर्म है उसके कर्म के साथ भी हमारा कोई संपर्क नहीं है। हम ही परमात्मा हैं। हम, या हमारा इस प्रकार का भ्रम ज्ञान ही संसार बंधन का कारण है। हम कहने से आत्मा से अलग और कुछ नहीं। सब ब्रह्म ही है ऐसा ज्ञान होने से मुक्ति हो सकती है। हमारा कुछ नहीं वही एक हैं और उनका ही सब है।

तन्मयता

जीवन की हर एक अवस्था एक निर्दिष्ट कार्य के लिए व्यवस्थित है। मानव जीवन में उसी समयानुसार कार्य का अनुष्ठान करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि एक समय का कार्य अन्य समय में नहीं हो सकता। एक उम्र में जो कार्य निर्दिष्ट है, अन्य उम्र में भी वह कार्य सम्पादित हो सकता है। समयानुसार कार्य का अनुष्ठान करने से वह कभी विफल नहीं होते, असमय में करने से प्रायः विफल होते हैं। दो–एक के सफल होने पर भी सम्पूर्णतः सफल नहीं होता। कुछ अंशमात्र ही होता है। योग का समय वार्धक्य है, जब चित्त में किसी प्रकार का कुभाव उदित नहीं होता और मानव की इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती है, इसलिए यही समय योग या उपासना के लिए उपयुक्त होता है, जिनमें यौवन में उत्तेजित वृत्ति समूह को निवृत्त करने की क्षमता है वे ही योग शिक्षा के उपयुक्त हैं। यौवन में प्रवृति की निवृत्ति करने की क्षमता जिनमें है वही योग शिक्षा का उपयुक्त पात्र बना जा सकता है।

योग–साधना बिल्कुल सरल बात नहीं है। योग शब्द का अर्थ है तन्मय हो जाना। तन्मयत्व भाव हृदय में न बसे तो योग नहीं होगा और अगर हुआ भी तो कार्यकारी नहीं होता। यदि तन्मय हो सको और ईश्वर में तथा तुममें किसी प्रकार का भेद न रहे तो तुम योग–शिक्षा लेकर अच्छा लाभ कर सकते हो और योग शिक्षा का प्रकृत अधिकारी बन सकते हैं। योग के सम्बन्ध में जितने नियम हैं, उनमें षटचक्रभेदन सर्वप्रधान है। षटचक्रभेदन से दूसरी किसी साधना का प्रयोजन नहीं होता। केवल एकमात्र भेदन कर सकने से स्वर्ग राज्य का अधिकार पाने का सामर्थ्य मिल सकता है। योगशास्त्र का सर्वस्व है षटचक्र। षटचक्र का भेदन करके वह चिदानन्द स्वरूप परम ब्रह्म का साक्षात् पाने का अधिकारी होता है जो समस्त वृत्तियों का प्रयोजन है जिसमें बिन्दु मात्र व्यतिक्रम होने से वह साधित नहीं होता। उपयुक्त व्यक्ति बिना परिश्रम से षटचक्र भेदन कर सकता है। प्रथम षटचक्र क्या है? इसको जानना आवश्यक है, तब क्षमता होने होने पर उसको भेदन करने की चेष्टा करनी चाहिए और तभी उसके महत्व और आवश्यकता का अनुभव प्रतीत होता है।

जीव शरीर में अन्नमय कोष का अवलम्बन करके मनोमयकोष, मनोमय कोष का अवलम्बन करके प्राणयम कोष, प्राणमय कोष का अवलम्बन करके विज्ञानमय कोष और विज्ञानमय कोष का अवलम्बन करके आनन्दमय कोष स्थित है। अंगूठे के अग्रभाग के परिमाण वाला जीवात्मा आनन्दमय कोष का आवलम्बन करके स्थित है। यह अवस्थिति चार प्रकार की अवस्था में निष्पन्न होती है।

प्रथम वैश्वानर, वे शरीर में रहकर शरीर का संचालन करते हैं, यह जीव की चेतना अवस्था है। द्वितीय अवस्था तैजस – यह जीव की स्वप्नावस्था है। तृतीय प्राज्ञ – यह जीव की निद्रावस्था है। चतुर्थ ब्रह्म – सर्वप्राणियों में सर्वावस्था में ब्रह्म–जीव शरीर में अवस्थान करते हैं, इनको जाना है। यह चार प्रकार की अवस्था अ, उ, म और ऊँ – इस मंत्र द्वारा साधित होती है। नाड़ियों में जो वायु निरन्तर प्रवाहित हो रही है, उसका अवलम्बन कर पंचवायु– इप सबों के भीतर से नाड़ी प्रधान सुषुम्ना अन्तर के ऊर्ध्व से निकलकर मस्तिष्क के भीतर से केशमूल तक प्रतिविम्बत है। इस नाड़ी में प्रवेश कर ज्ञान तथा आनन्दमय अन्तराकाश में पद्मवत् गुहा में आत्मा बसी है। भूर्भुवः प्रभृति सब वहां अवस्थित है। यह षट चक्रभेदन करके नाड़ी प्रधान सुषुम्ना में संयमित आत्मा का प्रवेश कराकर उसे सच्चिदानन्द के संग मिलाना पड़ता है। यह सम्मेलन ही षटचक्र भेदन कहलाता है।

कठिन योग की अपेक्षा सरल योग सहज ओर अधिक फल देनेवाला है। कठिन योग शारीरिक तथा मानसिक शिक्षा है। मानसिक शिक्षा विषय का समाधान होने से शारीरिक शिक्षा का कोई प्रयोजन नहीं। कठिन योग–कुम्भक, विकुम्भक, आनुमीन, उत्क्रांति और दार्ष्टि है। सरल योग सत्य, सत् और निर्विकार हैं सरल योग सहज साध्य है और उसे साधारण व्यक्ति ग्रहण कर सकता है। कठिन योग–साधना साधारण व्यक्ति के योग्य नहीं होती। सरल योग की शिक्षा के लिए अरण्यवास, कायिक क्लेश कुछ नहीं करना पड़ता, केवल चित्तवृत्ति को अपने वश और सन्मार्ग में संचालित कर पाने से महान् फल लाभ होता है। यदि चित्त में चिन्मय की मूर्ति प्रतिफलित कर दी जाय तो कायिक क्लेश, तीर्थ पर्यटन, उपवास इत्यादि का कुछ प्रयोजन नहीं होता। सद्वृत्ति की आलोचना और सदवृत्तियों का अनुशीलन करने से जो फल मिलता है वह तीर्थ पर्यटन से नहीं मिलता। मन परिशुद्ध होने एवं जीव के आत्मशुद्ध होने से चित्त जब निर्मल होता है, तब साधक अपने हृदय में ही सब तीर्थों का दर्शन करता है। अतः तीर्थ मानव के शरीर में वर्तमान है। गंगा नाशापुट में, यमुना

जिस पुरी में प्रवेश करने से किसी प्रकार की कुण्ठा अर्थात् संकोच नहीं होता, वह वैकुण्ठ है। भय का मूल पाप है। जो पापी है, वह सर्वदा संकुचित रहता है, जो निष्पाप है, उसको किसी प्रकार की शंका नहीं होती, वह सदा कुण्ठा–शून्य रहता है अतः वह वैकुण्ठपुरी में जाने का अधिकारी है। उसके हृदय में सद्चित आनन्दमयस्वरूप वैकुण्ठ विराजते हैं।

वैकुण्ठ अर्थात् हृदय के नीचे इड़ा तथ पिंगला नाड़ी या चन्द व सूर्य अर्थात् गंगा व यमुना का संगम है। इस संगम में स्नान करने से जीव के सब पाप नष्ट हो जाते हैं। गंगा–यमुना का संगम हृदय के निम्न भाग में है। इड़ा को आत्मज्ञान एवं पिंगला को विवेक नाम से पुकारा जाता है। गंगा यमुना का जिस प्रकार का सम्बन्ध है, इड़ा और पिंगला का ठीक उसी प्रकार का सम्बन्ध है। पिंगला अर्थत विवेक से इड़ा–आत्मज्ञान की उत्पत्ति होती है। मन को इस पिंगला में प्रवेश कराकर क्रमशः निवृत्ति द्वारा इड़ा में सम्मिलित करना होता है। बाद में इड़ा और पिंगला का जहाँ संयोग हुआ है अर्थात् जहाँ आत्मज्ञान व विवेक एकत्र हुआ है। मन को उस स्थान पर ले जाकर स्नान कराने से अर्थात् मन को आत्मज्ञान रूपी सलिल में निमज्जित करने से महान फल का लाभ होता है। आत्मज्ञान होने पर योग उनके लिए सहज साध्य हो जाता है। योग का फल आत्मलाभ करना ही है। अर्थात् आत्मज्ञान लेने के लिए योग शिक्षा लेनी पड़ती है। उसके लिए गृह–त्याग या अरण्यवास नहीं करना होता। ऐसे कुछ नियम हैं जिनका केवल मात्र चिन्तन और उस तरह का आचरण करने से योग फल तथा आत्मज्ञान लाभ होता है। आत्मज्ञान लाभ करने के लिए अन्य किसी प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं, केवल उन नियमों का अनुधावन करने से योगफल लाभ होता है और उसको सरल योग कहा जाता है। योगफल लाभ करने के लिए जिन वृत्तियों के निरोध करने का एकान्त प्रयोजन होता है। उसको नहीं करने से योगफल प्राप्त नहीं होता। वह नियम निम्नलिखित है वैसा उच्चारण और हृदय में उस भाव को ग्रहण करने में समर्थ होने से अवश्य योगफल लाभ होता है।

1. असंतुष्ट व्यक्ति किसी को संतुष्ट नहीं कर सकता, जो सदा संतुष्ट रहता है, वही सबको प्रफुल्लित कर सकता है।

2. जिह्वा पाप–कथा कहने में बहुत तत्पर है, अतः इसे संयत करने की आवश्यकता है।

3. आलस्य सभी अनर्थों का मूल है। अतः यत्नपूर्वक आलस्य का परित्याग करना चाहिए।

4. संसार धर्माधर्म की परीक्षा का स्थल है, अतः सावधान होकर धर्म–अधर्म का विचार करके काम करना चाहिए।

5. किसी धर्म में अश्रद्धा नहीं करना चाहिए। सर्वधर्मों का सार है जिसमें सत्य अंतनिर्हित है।

6. दरिद्र को दान करना चाहिए। धनी को दान देना व्यर्थ है क्योंकि उसे आावश्यकता नहीं है, अतः दान पाकर वह आनन्दित नहीं होता।

7. साधु सहवास ही स्वर्ग और असत संग ही नरकवास का मूल है।

8. आत्मज्ञान, सत्पात्र को दान और संतोष को पाने से मोक्ष प्राप्ति है।

9. जो शास्त्र पाठ करके और उनके मर्म को जानते हुए भी अनुष्ठान नहीं करते, वे पापी से भी अधम हैं।

10. किसी भी कार्य के अनुष्ठान के मूल में धर्म रहना चाहिए, नहीं तो वह कार्य सिद्ध नहीं होता।

11. किसी की हिंसा नहीं करना चाहिए। सत् या असत् उद्देश्य से कभी किसी प्राणी का वध नहीं करना चाहिए।

12. जो व्यक्ति पाप कंलक बिना धोये और मिताचारी तथा सत्यानुरागी बिना हुए रंगीन वस्त्र पहनकर ब्रह्मचारी बनता है, वह धर्म का कंलक स्वरूप है।

13. जैसे छतहीन गृह में वृष्टिधारा गिरती है, वैसे ही ईश्वर चिन्ताहीन मन में रिपुगण प्रवेश करते हैं।

14. पापी व्यक्ति इस जीवन में अनुताप रूपी अनन्त में भूना जाता है उसे जब भी कुकार्य याद आता है तुरन्त अनुताप जाग्रत हो जाता है।

15. (क) चिन्ताशीलता अमरत्व प्राप्ति का मार्ग है और चिन्ता ही मृत्यु का रास्ता है।

(ख) कभी किसी को गर्वित नहीं होना चाहिए एवं कामभोग की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

16. शत्रु जितना अनिष्ट नहीं कर सकता, कुपथगामी मन उसकी अपेक्षा अधिक अनिष्ट कर सकता है।

17. मधुमक्खी जैसे फूलों का सौन्दर्य अरैर सुगन्ध न महसूस कर मधु संग्रह करती है, तुम भी उसी प्रकार पाप में लिप्त न होकर ज्ञान लाभ करना सीखो।

18. अति अज्ञानी व्यक्ति, यह पुत्र हमारा, यह ऐश्वर्य हमारा, ऐसी चिन्ता कर क्लेश भोगता है, वह निज में निज का नहीं, तो पुत्र या सम्पत्ति उसकी कैसे हो सकती है?

19. थोड़े मनुष्य उस पार पहुँचते हैं, अधिकांश व्यक्ति धर्म की नकल कर इसी पार दौड़ते रहते हैं।

20. जो व्यक्ति संग्राम में लाखों व्यक्तियों को जीतता है, वह असली विजयी नहीं, परन्तु जिसने अपने को जीत लिया है, वही असली विजयी है।

21. पाप हम पर आक्रमण नहीं करेगा। ऐसा सोचकर निश्चिंत मत रहना। जैसे बूँद–बूँद पानी से घड़ा भरता है, उसी तरह निर्बोध व्यक्ति क्रमशः पापमय हो जाता है।

22. किसी को कठोर वाक्य नहीं बोलना चाहिए। कठोर वाक्य बोलने से कठोर वाक्य सुनना पड़ेगा। आघात करने से आघात सहना पड़ता है, किसी को रूलाने से स्वयं रोना पड़ेगा।

23. जो वासना का जय नहीं कर सका, वह विवस्त्र शरीर, जटा धारण, भस्म लेपन, उपवास, मृत्तिका–शयन अत्यादि साधन से मन को पवित्र नहीं बना सकता।

24. दूसरों को जो उपदेश देना चाहो, पहले अपने वैसा बनो। जो अपने को वशीभूत कर सकता है वह दूसरों को भी वशीभूत कर सकता है। अपने को वशीभूत करना कठिन है।

25. पाप और पुण्य स्वयं कृत है, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को पवित्र नहीं कर सकता।

26. यह जगत् जल–बुदबुद की तरह तथा मरीचिका मात्र है जो इस जगत को तुच्छ मानता है, मृत्यु उसको देख नहीं पाती।

27. धावमान संकट के तुल्य उत्तेजित क्रोध को जो संयत कर सकता है, वही असली सारथी है, दूसरे केवल रस्सी पकड़े रहते हैं।

28. प्रेम द्वारा क्रोध पर जय करो, मंगल द्वारा अंमगल को जीतो। निःस्वार्थता द्वारा स्वार्थ पर विजय करो एवं सत्य द्वारा असत्य पर विजय करो।

29. गुरु जो उपदेश दें उसको मनोयोगपूर्वक सुनकर उनका पालन करना चाहिए।

30. वृथा वाक्य न बोलें, जो अधिक बातें करता है, वह निश्चय ही अधिक मिथ्या बोलता है, शन्ति के लिए जहाँ तक हो सके, बात कम बालनी चाहिए।

योग शिक्षा के लिए अरण्यवास एवं अनाहारी रहने की आवश्यकता नहीं है। चित्तवृत्ति निरोध का नाम योग है। चित्त के वशीभूत इन्द्रियों को कष्ट साधन में नियुक्त करने की क्षमता जिसको मिली है उनके लिए जगत और अरण्य दोनों समान हैं। एकाग्रता योग का प्राण है। एकाग्रता वश जब जीव आत्मा और पामात्मा एकीभूत होंगे, जीवात्मा तथा परमात्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं रहेगा, तभी साधक असली योगी होगा। ॅश्वर को पाने के लिए योगांग का अवलम्बन नहीं करना पड़ता, भक्ति द्वारा ही ईश्वर में समाहित हो सकता है। भक्त भक्ति के द्वारा उसको प्रसन्न करके उस में समाहित होते हैं और उसी को समाधि कहते हैं।

समाधि अर्थात् ब्रह्म में मन का स्थिरीकरण, जीवात्मा और परमात्मा में एकीकरण आदि समाधि–योग के फलस्वरूप है। चित्त वशीभूत होकर सब कार्य से निःस्पृह होकर जब आत्मा में अवस्थान करता है, तब वह समाधि कहलाता है। जिस अवस्था में विशुद्ध अंतःकरण द्वारा आत्मा का अवलोकन करके आत्मा में ही तृप्ति, बुद्धिमात्र, अतीन्द्रिय जैसे आंतरिक सुख की उपलब्धि होती है। जिस अवस्था में अवस्थान करके आत्मतत्व से विच्युति नहीं होती, जिस अवस्था में उपस्थित होने पर गुरुतर दुःख भी विचलित नहीं कर सकता, उसी अवस्था का नाम योग है। मन को आत्मा में निहित कर स्थिर बुद्धि द्वारा धीरे–धीरे विरति का अभ्यास करना चाहिए। बिना कोई चिन्ता किये चंचल स्वभाव वाला मन जिस–जिस विषय पर विचारण करेगा, वहाँ से उसको खींचकर आत्मा में वशीभूत करना चाहिए। रज और तमविहीन योगीगण इसी प्रकार मन को सर्वदा वशीभूत करके अनायास ब्रह्म–साक्षात्कार करके सर्वोत्कृष्ट सुख प्राप्त करते हैं। सर्वत्र ब्रह्मदर्षी समाहित चित्त होकर सकल भूतों का आत्मा में तथा आत्मा में सकल भूतों का अवलोकन करते हैं। कामना–शून्य होकर जो योग अभ्यास करते हैं, वे ही समाधिस्थ अथवा मुक्त होने के अधिकारी हैं।

ईश्वर में लीन होकर जीवात्मा तथ परमात्मा में मिलन का नाम मुक्ति है।

समाधि अथवा तन्मयभाव। जब जीवात्मा तथा परमात्मा में पृथक ज्ञान नहीं रहता। जब जीव वाह्य ज्ञान शून्य हो जाता है और बाह्य इन्द्रियाँ अचल हो जाती हैं, उसी अवस्था का नाम समाधि है। मन को इन्द्रियाँ के वशीभूत न करके इन्द्रियों को मन के वशीभूत करना योग–शिक्षा का प्रधान उपाय है। प्रथम इन्द्रियों से पैदा हुए चित्त के वृत्ति–समूह को संयत करके चित्त के वशीभूत करना होगा फिर चित्त को चित्त के वशीभूत करके सांसारिक तथा इन्द्रिय वृत्ति के वशीभूत चित्त को कामना शून्य चित्त बनाना होगा। विविध लक्ष्यों से चित्त हटाकर उसे अभीष्ट लक्ष्य के पथगामी करना होगा। विविध चिन्ता से क्रमशः संयत करके सर्वदा आत्मचिन्तन में नियुक्त करना होगा। योग दो प्रकार का है–सकाम एवं निष्काम। सकाम योगी मोक्ष प्राप्त नहीं करते, निष्काम योगी ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। निष्काम धर्मपालन ही योग का मूल है।

तन्मयत्व योग का एक अंग है और योग का फल भी है। तन्मयत्व भाव उपस्थित होने पर और किसी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती। योग की सिद्धि तन्मयत्व भाव ही है। ऐसा भाव उपलब्ध होने पर केवल काम्य वस्तु के प्रति ही दृष्टि रहती है। दूसरी किसी वस्तु पर दृष्टि नहीं रहती। अन्य चिन्ताधारा नहीं रहती। हृदय में एकमात्र काम्यवस्तु का ही अस्तित्व उपलब्ध होता है। मन तथा अभीष्ट वस्तु में पार्थक्य नहीं रहता। काम्य वस्तु को छोड़ मन में अन्य चिन्ता नहीं रहती। जगत का अन्य कुछ भी नहीं देखता, वही अभीष्ट वस्तु ही हृदय को परिपूर्ण किये रहती है, तब वह जगत में रहकर भी जगतवासी नहीं रह जाता। उसका अस्तित्व ही काम्य वस्तु हो जाता है और काम्यवस्तु न रहने पर उसका भी अस्तित्व नहीं रहता, काम्य वस्तु के संग मिल जाता है, उसी का नाम तत्मयत्व है। किसी भी कार्य का अनुष्ठान करने के समय उस कार्य में तन्मय होना आवश्यक है ऐसा होने से उस कार्य से विफल मनोरथ होने की संभावना नहीं रहती, उसकी सिद्धि निश्चित है। जिसकी जैसी भावना है उस कार्य में वह वैसी ही सिद्धि प्राप्त करेगा। जो व्यक्ति अभीष्ट विषय पर जितना मनोयोग देगा, वह कार्य उतना ही सिद्धि–प्रदायक होगा। किसी कार्य में सम्पूर्ण सिद्धि–लाभ करना हो तो उस कार्य में सम्पूर्ण तन्मय होना होगा। एकाग्रता बिना तन्मयत्व नहीं आता।

किसी कार्य को करने के लिए प्रस्तुत होने पर पहले एकाग्रता की शिक्षा लेनी चाहिए। एकाग्रता न होने पर उस कार्य में तन्मयभाव नहीं आता। कार्य में विश्वास न करने से, सिद्धि के विषयकृत निश्चिय न होने से, उस कार्य में कभी अग्रसर नहीं होना चाहिए क्योंकि वह सिद्धि नहीं होगा। पहले कार्य में विश्वास पैदा करना क्योंकि विश्वास ही सिद्धि का मूल है। तन्मयत्व एकाग्रता, सिद्धि लाभ, इन सभी के मूल में विश्वास है।

सृष्टिकाल में भगवान ने सर्वप्रथम माया को प्रकाशित किया। यह माया ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूपा एवं कार्य कारण रूपा और सत्व, रज, मन इन तीन गुणों से विशिष्ट है। उसकी दो शक्तियां हैं, एक आवरण शक्ति अर्थत माया द्वारा जीव आच्छन होने से नित्य सत्य परम्परा को देख नहीं पाता एवं अपने को अहंकारवश स्वतंत्र समझता है। दूसरी विक्षेप शक्ति जिससे जीव असत्य वस्तु में सत्यारोप करके, जगत को नित्य एवं सत्य ऐसा समझते हैं और परमात्मा को भूलकर अनित्य विषयवस्तु में रहते हैं।

तंत्रमत के अनुसार षटचक्रभेदन–इड़ा और पिंगला नाड़ी के मध्य में स्थित, सत्व रजः तम गुण विशिष्ट चन्द्र, सूर्याग्निरूपा धूसर–कुसुम की भांति शुभ्रा, सुषुम्ना नाड़ी अवस्थित है। यह नाड़ी चतुर्दल विशिष्ट एवं मूलाधार पद्म से लेकर मस्तक में ब्रह्मरन्ध तक गयी है। इस नाड़ी में ग्रथित मल द्वार में, लिंग में, नाभि में, हृदय में, कण्ठ में एवं मस्तक में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाक्ष एवं सहस्त्रार नाम के सात पद्म हैं। इस सुषुम्ना नाड़ी के मध्य में मणि की भांति प्रभा विशिष्ट वज्रा नाम की नाड़ी है, फिर उसके अन्दर, चन्द्र, सूर्य, अग्नि स्वरूप, ब्रह्मा, विष्णु और शिव युक्त मकड़ी के सूत की तरह चित्रा नाड़ी है। निर्मल ज्ञानोदय न होने से इस नाड़ी को कोई नहीं जान सकता। फिर इस चित्रा नाड़ी के अन्दर ब्रह्म नाड़ी के नाम से अति सूक्ष्म विद्युन्माला की तरह उज्जवल एक और नाड़ी है, जिसके छिद्र द्वारा ब्रह्मरन्ध्रस्थ सहस्त्रारपद्म से सुधा क्षरित होती है। योगीगण उस सुधा का मूलाधार पद्मस्थ कुण्डली शक्ति द्वारा पान करके सिद्धानन्द भोग करते हैं।

1. मूलाधार चक्र मलद्वार में है – यह चतुर्दल, रक्तवर्ण, स्वर्णाभ अधो–मुख पद्म है। साधकों को साधनाकाल में ऊर्ध्वमुख होकर चिन्तन करना चाहिए।

इसको चार दलों में वं, शं, षं, सं, से चार वर्ण हैं, बीच में चतुष्कोण पृथ्वी चक्र है और यह चक्र उज्जवल, पीत, वर्ण, अष्ट शूल युक्त है, उसके भीतर लं अर्थात् पृथ्वी बीच है और उसके साथ लक्ष्मी बीज है। उस चक्र में देवता इन्द्र हैं और उनके क्रोड़ में चतुर्मुख ब्रह्म भौतिक पदार्थ की सृष्टि करते रहते हैं एवं चतुर्वेद पाठ कर रहे हैं। वह चक्र रक्त वर्ण, चतुर्बाहु, द्वादश सूर्य तुल्य, डाकिनी शक्ति युक्त है। वज्रा नाड़ी के मुख में कामरूप नामका पीठ है और उसके भीतर त्रिकोण यंत्र है। इस यंत्र से निकला हुआ कन्दर्प वायु जीवात्मा को पकड़े हुए है। इस त्रिकोण यंत्र में शारदेन्दु सदृश लिंगरूपी स्वयंभू हैं। उस लिंग प्रदेश के साढ़े तीन बार वेष्ठन की हुई ब्रह्मनाड़ी के मुख के पास मुख लगाकर कुण्डली शक्ति निद्रित है। यही विद्युत रूपिणी महामाया भ्रमर की भांति मधुर गुन–गुन नाद कर रही है। आप ही शब्द जननी है और श्वांस–प्रश्वास द्वारा प्राणिमात्र की जीवन रक्षा कर रही है। इस कुण्डलिनी के शरीर के भीतर परमात्मा त्रिअंशरूपा प्रकृति निखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशित कर रही है।

2. स्वाधिष्ठान चक्र – लिंग मूल में है। षड् दल अरुण वर्ण पद्म है। असके षड्–दल में षड वर्ण–बं, भं, मं, यं, रं, लं है। उसमें श्वेत पद्माकार वरुण देवता चक्र है। इस चक्र में शारद चन्द्रद्युति और मस्तक में अर्द्धचन्द्रधारी, मकरारोही बं, बीज रूप धारण वरुण देवता हैं। उस देवता के क्रोड़ में चौबीस लक्षणयुक्त पीताम्बर नारायण हैं। उस चक्र की शक्ति लक्ष्मी रूपी राकिनी है।

3. मणिपुर चक्र – नाभि मूल में है। दस दल नीलवर्ण पद्म है। दस दल में डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, न, पं, फं, इस प्रकार दस वर्ण हैं। उसके ठीक बीच में रं कारात्मक त्रिकोण वह्नि बीज है। स्वस्ति मण्डल इसको बेड़े हुए है और यह वह्नि देवता, चतुर्बाहु लाल सूर्य के समान एवं मेघ वाहन है। उनके क्रोड़ में इष्टदेवता एवं संहारकारी महाकाल विद्यमान है। इस चक्र की शक्ति लाकिनी और श्यामवर्णा है।

4. अनाहत चक्र – हृदय में है। यह द्वादश दल सिन्दूर वर्ण पद्म है। द्वाद्वश दल में कं, खं, गं, घं, ङं., चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं, वर्ण युक्त पद्म है। उसके भीतर षटकोण धूम वर्ण वायुमण्डल है। इसके भीतर यं कारात्मक वायु बीज देवता, कृष्णवर्ण मृगारूढ़ है। उस बीच के अन्दर हंस जैसे शुभ्र वर्ण के अभय वरदाता ईशान महादेव हैं।

इस चक्र की शक्ति साकिनी है और यह पीत वर्ण और आनन्दमयी है। इस पद्म के कण–कर्णिका में अति कोमल, त्रिकोण शक्ति है और उस शक्ति में स्वर्ण वर्ण वाणालिंग महादेव हैं। उस पद्म में एक और दूसरा अष्टदल कमल है। उस पर एक कल्पतरू है। उसके नीचे मणिपीठ में हंसरूपी जीवात्मा है। साधक इस स्थान पर गुरुपदिष्ट इष्ट देवता का ध्यान करे, ऐसा करने से आत्मदर्शन मिलेगा।

5. विशुद्ध चक्र – कण्ठ में है, यह धूम्र आभायुक्त षोडश दल अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः यह षोडश स्वरयुक्त पद्म है। कर्णिका के भीतर सुधा तथा उज्जवल शरीरधारी, शुभ्रवर्ण, हाथी के ऊपर, शुक्लाम्बर परिवृत, गोलाकार, आकाश चक्रधारी हैं। उस चक्र के भीतर हंसाकार, पाशांकुशधारी द्विभुज और अभीति वरदाता, आकाश बीज है, उसके क्रोड़ में पंचमुख त्रिनेत्र, दशाभुजा हरगौरी हैं। इसके भीतर चन्द्र मण्डल से सुधापानासक्त, पीतवर्ण, चतुर्भुजा साकिनी शक्ति है।

6. आज्ञाचक – भ्रूयुग्म के मध्य में है। यह ध्यान करने का स्थान है और शुक्लवर्ण द्विदल है ह, क्ष, वर्णयुक्त है। इस स्थान पर इगंला, पिंगला, वरुणा एवं अस्सी रूप में मिलकर वाराणसी तीर्थ बना है। उस पद्म में शुक्तवर्णा षडमुखी हाकिनी शक्ति है। उनके चतुर्भुज में पुस्तक, कपाल, डमरू और जयमाला है। इस पद्म का ज्ञान करने से ब्रह्म ज्ञान होता है। इस पद्म के भीतर मन और कर्णिका में त्रिकोण यंत्र है। यह स्थान परम लय स्थान है। वहां शुक्ल नाम का महाकाल है और त्रिनेत्र सिद्धलिंग विराजमान है। यह शिव अर्द्धनारीश्वर नाम से प्रख्यात है। आज्ञाचक्र का ज्ञान होने से जीव अद्वैतवादी होते हैं।

आज्ञाचक्र के कुछ ऊपर शुद्ध, ज्ञान, दीपशिखा की तरह ज्योतिर्मय ओंकारात्मक अंतरात्मा निरन्तर वास करते हैं। उसके ऊपर अर्द्धचन्द्र, उसके ऊपर विन्दुरूपी नाद, यहाँ शक्ति रूप सकारात्मक पूर्णचन्द्र की भांति उज्जवल शिवलिंग है। उस ओंकार के ऊपर आकाश और नीचे पृथ्वी और बीच में निरालम्ब भगवान हैं। उस ओंकार के ऊपर द्विभुज महानाद नाम के शिखाकार वायु का लय स्थान है। उक्त आज्ञाचक्र के ऊपर शंखिणी नाम की नाड़ी के आगे आकाश में विसर्ग की तरह की तरह युगल बिन्दु है। उसके नीचे पूर्णेन्दु की तरह शुभ्र वर्ण, तरुण तपन की रश्मि की तरह केशरयुक्त सहस्र दल पद्म अधोमुखी होकर है। इसमें यथा स्थान पंचानन मातृका

वर्ण है। उस स्थान पर निर्मल यश और चन्द्र विराज रहे हैं। उस चन्द्र के भीतर विद्युत आकार त्रिकोण यंत्र है। उस यंत्र के भीतर गुह्यतम चिद्रूपाकार शून्य स्थान है। वहाँ परमात्मा का स्वरूप परम शिव विराज रहे हैं। वह योगानन्द, ज्ञान और मंगल के दाता हैं और उनको परमहंस भी कहते हैं। इसी स्थान पर शैवों का कैलाश, वैष्णवों का गोलोक और शाक्तों की महाशक्ति का निवास है। उस सहस्रदल कमल के भीतर प्रातःतपन की भांति लाल वर्ण, अति सूक्ष्म और विद्युतमाला की भांति ज्योतिर्विशिष्टा , शुद्धा, विकार, वर्जिता और नित्य प्रकाशा, क्षयोदयरहिता, अधोमुखी और पूणानन्द श्रेणी से जसे अमृतधारा क्षरण हो रही है, उसको धारण करने वाली अमानामा की शशिकला है। उसके भीतर केशाग्र के सहस्रांश परिमित अर्द्धचन्द्राकार द्वादश आदित्य की प्रभा से विशिष्ट प्राणियों की इष्ट देवता निर्वाण नाम की कला है, वह महाकुण्डलिनी नाम से ख्यात है। पुनः इस निर्वाण नाम की कला के भीतर कोटि सूर्य कान्तिमय शिवलिंग से प्रेमधारा विलासिनी कर्म–फल दायिनी निर्वाण शक्ति है। उस निर्वाण शक्ति के मध्य में योगी तथा महात्माओं के चिन्तनीय परम सुखमय नित्यानन्द स्वरूप तुरीय ब्रह्म है।

यम, नियम, आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि, तपस्या करके योगी दीर्घजीवन, व्योम गमन–क्षमता, अंतर्धान शक्ति अन्य शरीर में प्रवेश क्षमता, दूरदर्शन और भूत, भविष्य, वर्तमान, त्रिकाल दर्शन और अष्ट सिद्धि–अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और कामावसायिता का लाभ कर सकते हैं। अणिमा अर्थात् अणु तुल्य क्षुद्रदेह धारण की क्षमता। लघिमा अर्थात् लघुत्व ऊर्ध्व बन क्षमता महिमा अर्थात् वृहत् और महात्म्ययुक्त होने की क्षमता। प्राप्ति अर्थात् विश्व यावत् वस्तु हस्तगत होना। प्राकाम्य अर्थात् यथेच्छाकारित्व ईशित्व अर्थात् प्रमुख, वशित्व अर्थात् सबको वश में रखने की क्षमता। कामावसायित्व अर्थात् सब प्रकार के काम को पूरण करके अंत में निष्काम होना। भक्ति बिना साधक पुरुषकार साधन द्वारा जितना भी उन्नत क्यों न हो, फिर भी उनके पतन होने की संभावना बनी रहती है। तपस्या के उच्च सोपान पर पहुंच कर भी तपस्वी में कभी–कभी अविश्वास तथा नैराश्य उपस्थित होता है परन्तु उनके साथ भक्ति आने से फिर कभी अविश्वास नहीं आ सकता। योगी तब अनायास मुक्ति पा सकता है। आत्मा के साथ परमात्मा का योग ही तन्मयत्व है। तन्मयत्व होने से ही बंधन मोचन होकर मुक्ति लाभ होता है।

संक्षिप्त : योग शब्द का अर्थ है तन्मय हो जाना, तन्मय होकर ईश्वर और अपने में किसी प्रकार का भेद न रहने से योग शिक्षा ग्रहण करके सफलता मिल सकती है और वही योग शिक्षा के प्रकृत अधिकारी बन सकते हैं।

जीव शरीर में अन्नमय कोष का अवलम्बन करके मनमय, मनमय कोष, का अवलम्बन करके प्राणयम कोष– प्राणमय कोष का अवलम्बन करके विज्ञानमय कोष और विशानमय कोष का अवलम्बन करके आनन्दमय कोष स्थित है। जीवात्मा आनन्दमय कोष का आवलम्बन करके स्थित है।

नाड़ियों में निरन्तर जो वायु प्रवाहित हो रहा है, उसका अवलम्बन कर पंच वायु है, नाड़ी प्रधान सुषुम्ना नामक नाड़ी अन्तर के ऊर्ध्व से निकलकर मस्तिष्क के भीतर से केशमूलक प्रलम्बित है। प्राण वायु को सुषुम्ना में प्रवेश कराकर आनन्दमय अन्तराकाश सच्चिदानन्द के संग मिलाना होता है– यह सम्मेलन ही षटचक्र भेदन कहलाता है।

सरल योग सहज साध्य है और उसे साधारण व्यक्ति ग्रहण कर सकता है। सरल योग की शिक्षा के लिए कायिकक्लेश कुछ नहीं करना पड़ता है, केवल चित्तवृत्ति को अपने वश में करके उसे सन्मार्ग में संचालित कर सकने से महाफल लाभ होता है।

योगफल लाभ के लिए वृत्तियों का निरोध करना एकान्त आवश्यक होता है, उसके बिना योगफल प्राप्त नहीं होती। आचरण तथा हृदय में उस भाव को ग्रहण करने में समर्थ होने से योगफल अवश्य मिलता है।

आत्मा के साथ परमात्मा का योग ही तन्मयत्व है, तन्मयत्व होने से ही बंधन मोचन होकर मुक्ति लाभ होता है।

कुछ सार बातें

शिष्य – सृष्टि के आरंभ में पृथ्वी पर कौन था?
गुरु – ईश्वर।
शिष्य – पृथ्वी और जीव को किसने उत्पन्न किया?
गुरु – ईश्वर ने।
शिष्य – सृष्टि की वृद्धि कौन करता है?
गुरु – ब्रह्मा।
शिष्य – ब्रह्मा कौन हैं?
गुरु – ईश्वर की शक्ति।
शिष्य – सृष्टि का पालन कौन करते हैं?
गुरु – विष्णु अर्थात् नारायण।
शिष्य – विष्णु कौन हैं?
गुरु – ईश्वर की शक्ति।
शिष्य – सृष्टि का ध्वंस या लय कौन करते हैं?
गुरु – महेश्वर अर्थात् महादेव ।
शिष्य – महादेव कौन हैं?
गुरु – ईश्वर की शक्ति।
शिष्य – ब्रह्माणी कौन हैं?
गुरु – ब्रह्मा की शक्ति।
शिष्य – लक्ष्मी कौन हैं?
गुरु – विष्णु की शक्ति।
शिष्य – दुर्गा कौन हैं?
गुरु – महादेव की शक्ति ।
शिष्य – संसार–सागर से तारण कौन करते हैं?
गुरु – सद्गुरु के माध्यम से ईश्वर ।
शिष्य – बन्धन किसे कहते हैं?
गुरु – विषय में अनुराग।

शिष्य – मुक्ति किसे कहते हैं?

गुरु – विषय से विरक्ति तथा ईश्वर में लय?

शिष्य – घोर नरक क्या है

गुरु – चैतन्य बोध से हीन शरीर।

शिष्य – स्वर्ग कहाँ हैं?

गुरु – आशा का क्षय होने पर यह पृथ्वी ही स्वर्ग है।

शिष्य – संसार बन्धन कैसे छूटता है?

गुरु – आत्म–बोध होने से।

शिष्य – क्या करने से मुक्ति मिलती है?

गुरु – तत्वज्ञान होने से।

शिष्य – नरक का कारण क्या है?

गुरु – हिंसा।

शिष्य – स्वर्ग का कारण क्या है?

गुरु – अहिंसा।

शिष्य – मनुष्य के शत्रु कौन हैं?

गुरु – उसकी इन्द्रियाँ।

शिष्य – मनुष्य के मित्र कौन है?

गुरु – वशीकृत इन्द्रियाँ।

शिष्य – दरिद्र कौन है?

गुरु – जो अत्यन्त लोभी है।

शिष्य – ऐश्वर्यशाली कौन है?

गुरु – जो सदा संतुष्ट रहता है।

शिष्य – जीवन्मृत कौन है?

गुरु – उद्यमहीन पुरुष।

शिष्य – माया क्या है?

गुरु – अति प्यार।

शिष्य – महाअंध कौन है?

गुरु – कामातुर।

शिष्य – मृत्यु क्या है?

गुरु – अपयश ही मृत्यु है। मनुष्य अमर है।
शिष्य – चिर रोग क्या है?
गुरु – संसार।
शिष्य – उस रोग की औषधि क्या है?
गुरु – निर्लिप्त होकर वास करना।
शिष्य – प्रधान तीर्थ क्या है?
गुरु – अपना पवित्र मन।
शिष्य – त्याज्य क्या है?
गुरु – अर्थ, दुराशा।
शिष्य – श्रोतव्य क्या है?
गुरु – गुरु के निकट वेदान्त वाक्य।
शिष्य – ब्रह्म ज्ञान पाने का क्या उपाय है?
गुरु – सत् संसर्ग।
शिष्य – साधु कौन है?
गुरु – जिसको मोह और अनुराग नहीं है।
शिष्य – जीव का ज्वर क्या है?
गुरु – चिन्ता।
शिष्य – मूर्ख कौन है?
गुरु – विवेकहीन पुरुष।
शिष्य – नास्तिक कौन है?
गुरु – जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता।
शिष्य – पण्डित कौन है?
गुरु – ज्ञानी।
शिष्य – धार्मिक कौन है?
गुरु – यथार्थ पण्डित।
शिष्य – कर्तव्य क्या है?
गुरु – ईश्वर में भक्ति।
शिष्य – विद्या क्या है?
गुरु – जिसके द्वारा ब्रह्म ज्ञान मिलता है।

शिष्य – लाभ क्या है?

गुरु – ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति।

शिष्य – जगज्जयी कौन है?

गुरु – जिसने मन को जय किया है।

शिष्य – विष क्या है?

गुरु – विषय।

शिष्य – दुःखी कौन है?

गुरु – विषयानुरागी।

शिष्य – सुखी कौन है?

गुरु – जिसको किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है।

शिष्य – धन्य कौन है?

गुरु – पर उपकारी।

शिष्य – पूज्यनीय कौन है?

गुरु – तत्वज्ञानी व्यक्ति।

शिष्य – कर्तव्य कर्म क्या है?

गुरु – धर्म उपार्जन।

शिष्य – अकर्तव्य क्या है?

गुरु – स्नेह ओर पाप।

शिष्य – बुद्धिमान कौन है?

गुरु – जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म का दर्शन करे।

शिष्य – उत्तम व्रत क्या है?

गुरु – सत्पात्र को दान।

शिष्य – श्रृंखला क्या है?

गुरु – अज्ञान।

शिष्य – क्या जानने में सब लोग असमर्थ हैं?

गुरु – ईश्वर तत्व।

शिष्य – पशु कौन है?

गुरु – मूर्ख।

शिष्य – किसके साथ संसर्ग नहीं करना चाहिए?

गुरु – मूर्ख, पापी, खल और नीच व्यक्ति के साथ।
शिष्य – छोटा कौन है?
गुरु – जो माँगता है।
शिष्य – बड़ा कौन है?
गुरु – जो कुछ भी नहीं माँगता।
शिष्य – जन्म किसने लिया?
गुरु – जिसको फिर जन्म नहीं लेना होगा।
शिष्य – कौन मरा है?
गुरु – जिसको फिर मरना नहीं होगा।
शिष्य – विश्वासी कौन है?
गुरु – तत्वज्ञानी व्यक्ति।
शिष्य – अविश्वासी कौन है?
गुरु – तत्वज्ञान हीन व्यक्ति।
शिष्य – क्या करने से शोक नहीं होता?
गुरु – धर्म और उपासना।
शिष्य – किसकी आकांक्षा– निवृत्त नहीं होती?
गुरु – रिपुओं की।
शिष्य – दुःख का मूल क्या है?
गुरु – माया।
शिष्य – क्या देने योग्य है?
गुरु – अभय।
शिष्य – मन का विनाश क्या है?
गुरु – मोक्ष।
शिष्य – कहाँ किसी प्रकार का भय नहीं है?
गुरु – मुक्ति में।
शिष्य – क्या करने से मृत्यु भय नहीं होता?
गुरु – ईश्वर चिन्ता में मग्न रहने से।
शिष्य – दस्यु कौन है?
गुरु – कुवासना।

शिष्य – कौन सी वस्तु दान करने से बढ़ती है?
गुरु – विद्या।
शिष्य – कौन वस्तु दिनोंदिन घट रही है?
गुरु – परमायु।
शिष्य – चिरस्थायी क्या है?
गुरु – महाकाल।
शिष्य – किससे डरना चाहिए?
गुरु – लोकापवाद।
शिष्य – असली मित्र कौन है?
गुरु – जो विपत्तिकाल में सहायक होता है।
शिष्य – पिता–माता कौन हैं?
गुरु – प्रतिपालन करनेवाला।
शिष्य – क्या जानने से और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं होती?
गुरु – पूर्ण ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को।
शिष्य – दुर्लभ क्या है?
गुरु – सद्गुरु एवं आत्मज्ञान।
शिष्य – मित्र और शत्रु कौन है?
गुरु – अज्ञानी।
शिष्य – चंचल क्या है?
गुरु – धन, मन, यौवन तथा आयु।
शिष्य – उत्तम दान क्या है?
गुरु – तत्वज्ञान।
शिष्य – क्या नहीं करना चाहिए?
गुरु – पापकर्म।
शिष्य – कौन सा कार्य प्राण देकर भी करना चाहिए।
गुरु – ईश्वर की उपासना।
शिष्य – कौन सा कर्म अच्छा है ?
गुरु – जो कर्म ईश्वर को प्रिय हो।
शिष्य – किसके लिए यत्न नहीं करना चाहिए ?
गुरु – संसार के लिए।

शिष्य – दिन–रात क्या चिन्तन करना चाहिए ?

गुरु – संसार का मिथ्यात्व और आत्मतत्व।

शिष्य – ईश्वर है या नहीं, कैसे जाना जाय ?

गुरु – कैसे जानते हो कि तुम खुद हो या नहीं।

शिष्य – जिसका आकार नहीं है, उसको कैसे समझें ?

गुरु – जीवन, मन, बुद्धि इत्यादि हैं या नहीं, इनको कैसे समझ रहे हो ?

शिष्य – हमारा जीवन है, हम इच्छानुसार सब कुछ कर सकते हैं। इसलिए हम स्वयं को जान रहे हैं।

गुरु – जो अपने को जानता है, वह ईश्वर को भी जानता है।

शिष्य – जिस वस्तु को देखा नहीं जाता, उसमें सहजता से विश्वास नहीं होता।

गुरु – वायु, सुगन्ध जैसी वस्तुओं के आकार नहीं है फिर भी उनका अनुभव किस ज्ञान से करते हो।

शिष्य – वायु, सुगन्ध आदि में विश्वास उनके कार्य से होता है।

गुरु – क्या तुम और वायु दोनों ईश्वर का कार्य नहीं हो ? अब सोचो ईश्वर है या नहीं ?

शिष्य – समझ लिया कि ईश्वर है या नहीं परन्तु उनकी भक्ति और उपासना क्यों करनी चाहिए ?

गुरु – तुम सन्तान से स्नेह और पिता–माता के प्रति भक्ति क्यों करते हो ?

शिष्य – स्नेह नीचगामी और भक्ति ऊर्ध्वगामी है।

गुरु – इसीलिए ईश्वर में भक्ति करनी चाहिए। नेत्र मिले, परन्तु देखने की शक्ति कहाँ से पायी ? देखने की वस्तु न रहने पर नेत्र किस काम आते ? अपने प्रपितामह को तुमने नहीं देखा फिर भी वह थे इस बात को कैसे जानते हो ? इसलिए यह निश्चित है कि आकार न रहने पर भी ईश्वर है।

तत्वज्ञान

तत्वज्ञान अर्थात् परमात्मा या ईश्वर के संबंध में ज्ञान। अगर ईश्वर है ऐसा विश्वास है, तब उनका अनुसंधान करना चाहिए और अगर यह विश्वास नहीं है तब वृथा तर्क करके दूसरे के साथ विवाद करना या अपना मत बहाल रखने की चेष्टा करना विडम्बना मात्र है। जिनको यह विश्वास है और उनके पाने के पथ का अनुसंधान कर रहे हैं, उनको पहले जानना चाहिए– हम कौन हैं– फिर विषयों को विशेष रूप से जानना चाहिए। प्रणाली के अनुसार विश्वास और भक्ति के साथ साधना करने से तीन महीने के भीतर अवश्य आत्मदर्शन होता है। आत्मदर्शन मिलने से मनुष्य शांति तथा मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है। जब तक जीव जीवात्मा और परमात्मा को समझ नहीं सकेगा तब तक मुक्ति की आशा नहीं। योग पूर्ण होने से सूक्ष्म शरीर धारण कर इच्छानुसार गमनागमन कर सकता है, ऐश्वर्यिक बल तथा शक्ति मिलती है जिससे अंत में सर्वज्ञ बन सकता है।

हम कौन– पंचभूत, पंच प्राण, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय मन तथा बुद्धि। इनके अलावा नाड़ी चतुष्टय इड़ा पिंगला, सुषुम्ना व चित्रा, छः रिपु और चित्त–वासना, चिन्ता, माया, आशा, इन सब उपादानों से शरीर का गठन हुआ है। इनके भी अलावा ज्ञान, चैतन्य, आत्मा व जीवात्मा और परमात्मा हैं। इन सब विषयों के तत्व अवगत होने पर हम कौन और ईश्वर मानव शरीर में विराजमान हैं या नहीं, अच्छी तरह जाना जा सकता है। अगर हम अपने को पहचान सकें तो ईश्वर को भी पा सकेंगे। अगर ईश्वर है ऐसा विश्वास हो तो वह अति निकट है ऐसा जानना और अगर विश्वास नहीं हो तो वह बहुत दूर है और उनसे साक्षात्कार होगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता है।

पग से मस्तक तक विचार करने से हम नाम की कोई वस्तु दिखायी नहीं पड़ती। एकमात्र ज्ञानस्वरूप ही हम हैं, केवल विशुद्ध चैतन्य ही हमरूप से प्रकाशित हो रहा है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और चैतन्य एक–एक भाव होने पर भी इनमें परस्पर कोई संबंध नहीं। सब अंग होने पर भी शव दर्शन, स्पर्शनादि क्यों नहीं कर सकता।

शरीर और शव एक ही पदार्थ है। हममें चैतन्य है, इसलिए हम देख और सुन सकते हैं, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। अतः हम शरीर से भिन्न, नित्य तथा स्वप्रकाश हैं। जहाँ आत्मा रहती है, वहाँ मन, इन्द्रियाँ, वासना इत्यादि कुछ भी नहीं रहती। राजा के निकट छोटा व्यक्ति नहीं बैठ सकता। जैसे तिल से तेल निकल जाने पर खली से कोई संबंध नहीं रहता।

मन भी हम नहीं, जीव भी हम नहीं, कारण यह सब चैतन्य से ही बोधगम्य होता है। जीव की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह केवल साक्षी मात्र है, अतः हम वह अनन्त आत्मा है जैसे मोती के हार का प्रत्येक मोती सूत से गुंथा हुआ है। उसी तरह भगवान रूपी आत्मा में जीव समुदाय गुंथा हुआ है। सूत से मोती का कोई संबंध नहीं, उसी प्रकार शरीर और आत्मा में कोई संबंध नहीं है। शरीर जड़ पदार्थ लेकिन हम अमर है। मृत या जीवित ऐसा केवल भ्रम है। हम कहने से आत्मा से भिन्न और कुछ नहीं है। यह बात ज्ञान के उदय से जानी जा सकती है।

बाह्य जगत हम नहीं, अनित्य शरीर हम नहीं, पंच प्राण वायु हम नहीं, कारण यह सब अचेतन है, हम चेतन हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय हम नहीं, वाक्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस यह सब भी हम नहीं, तब हम कौन हैं। हम मनन के परे निर्मल, शांत, विशुद्ध, चेतन स्वरूप हैं। हम वाह्य, अभ्यन्तर सब स्थानों में व्याप्त हैं। हम दीप की तरह सब पदार्थों में प्रकाशित हो रहे हैं, हम सर्वगामी आत्मा हैं। जैसे अंधकार में दीप की सहायता से सफेद, काला द्रव्य आदि जाना जा सकता है, उसी तरह हममें अर्थात् हमारी आत्मा से सब वस्तु प्रतिपन्न होती है। दर्पण जैसे सभी वस्तु का प्रतिबिम्ब स्थान है, उसी प्रकार हम ही सभी जाग्रत पदार्थों का अनुभव स्थान हैं। अनादि, अनन्त, सर्वग्रामी चिन्मयम आत्मा ही हम हैं। यह स्थावर जंगम पदार्थ हमारा अनेक शरीर है। इसका परिणाम कितना है उसका ठिकाना नहीं, कब से है, कब तक रहेगा, उसकी भी सीमा नहीं और कितनी दूर तक व्याप्त है, उसका भी परिणाम नहीं।

हम स्वयं ही स्वप्रकाश है। हम कुसुम में सौरभ, बीज में वृक्ष, जल में शीतलता, अग्नि में तेज, सूर्य में किरण, दीप में आलोक, कान्ति में रूप और रूप में अनुभवी होकर अवस्थान कर रहे हैं। जैसे दूध में घृत, जल में रस, तिल में तेल, चीनी में मिष्टता विद्यमान है, उसी तरह हम भी निखिल पदार्थों में शक्ति रूप में विद्यमान है। हम आत्मा हैं, इसलिए किसी से प्रार्थना बिना किये इस विशाल जगत को व्याप्त किये हैं। तुम, हम या हमारा इत्यादि सब मिथ्या भ्रम है।

मन – मन को कहीं कुछ नहीं मिलता इसलिए वह दूर–दूरान्तर में भटकता फिरता है। मन की वृत्ति तंरग की तरह चंचल है। मन का तेज अग्नि से भी अधिक है इसका अतिक्रम करना पर्वत के अतिक्रमण से भी कष्टकारक है। मन को वश में करना, समुद्र पान, पर्वत, उत्पाटन अनल–भक्षण से भी कठिन है। लेकिन मन क्षीण होने से अर्थात् वासना शून्य होने से जगत नष्ट हो जाता है। यह जो सैकड़ों सुख–दुःख, मन से उत्पन्न होते हैं विवेक द्वारा मन क्षीण होने से वह सब सुख–दुःख विनष्ट हो जाते हैं। मन नट की भंति सब विषयों में क्षणिक आनन्द, क्षणिक विवाद और क्षणिक प्रसन्नता का अनुभव करता है। निर्मल बुद्धियोग से अगर अभी मन का इलाज नहीं हुआ, तब उसका प्रतिकार करने का समय कब मिलेगा। मन , चित्त, वासना, कर्म और दैव यह सब रूप से कथित होते हैं। मन की सत्ता से दृश्य वस्तु का दर्शन होता है और मन का उच्छेद होने से दृश्य का भी उच्छेद हो जाता है। मन ही जगत कर्ता, मन ही पुरुष मन के निश्चय से जो कुछ सम्पादित होता है, वह मन का ही प्रतिविम्ब है। यह आकाश विस्तृत तथा अनन्त है, मन भी उसी तरह विस्तृत तथा अनन्त है। चिदाकाश, इस विस्तृत मन के जिस अंश में चैतन्य का प्रतिविम्ब पड़ता है, वह अंश प्रकाशित होकर स्थिरता प्राप्त करता है।

मन की शक्ति अतनी प्रबल है कि एक मन से जो कुछ करे, वह निश्चय सफल होगा। यहाँ तक कि स्वयं ब्रह्म बन सकता है। मन चैतन्य शक्ति से चैतन्य भाव प्राप्त कर ब्रह्म भावापन्न होता है। मानव शरीर अभिन्न है, आत्मा ही मन तथा शरीर है। मन तथा शरीर की सब चेष्टा ही सफल होती है। मन जिस वस्तु को खोजता है, उसको प्राप्त करता है। मन के द्वारा अपने ही अपने को पवित्र पथ पर नियुक्त करना चाहिए। मन जिसका अनुसंधान करता है और कर्मेन्द्रियाँ उसी का स्पन्दन करती हैं। मालिन्यमुक्त चित्त को मन कहते हैं। मन और चित्त आत्मा के स्वरूप हैं, उससे भिन्न और कुछ नहीं है। वासना चित्त का अंश मात्र है। मन अपनी विनाश क्रिया निज में ही करता है। मन केवल विनाश के निमित्त आत्म दर्शन करता है। मन का नाश ही सब दुःखों से पार पाने का मूल है। विवेक के द्वारा शोधित होने से मन का नाश होता है।

मन कितनी शक्ति धारण करता है, यह सरलता से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। तुम्हारा मन अगर अत्यन्त निर्विष्ट रहे तो भोजन की वस्तु का चर्वण करने पर भी कुछ स्वाद नहीं मालूम होगा।

मन– मन को कहीं कुछ नहीं मिलता इसलिए वह दूर–दूरान्तर में भटकता फिरता है। मन की वृत्ति तंरग की तरह चंचल है। मन का तेज अग्नि से भी अधिक है इसका अतिक्रम करना पर्वत के अतिक्रमण से भी कष्टकारक है। मन को वश में करना, समुद्र पान, पर्वत, उत्पाटन अनल–भक्षण से भी कठिन है। लेकिन मन क्षीण होने से अर्थात् वासना शून्य होने से जगत नष्ट हो जाता है। यह जो सैकड़ों सुख–दुःख, मन से उत्पन्न होते हैं विवेक द्वारा मन क्षीण होने से वह सब सुख–दुःख विनष्ट हो जाते हैं। मन नट की भंति सब विषयों में क्षणिक आनन्द, क्षणिक विवाद और क्षणिक प्रसन्नता का अनुभव करता है। निर्मल बुद्धियोग से अगर अभी मन का इलाज नहीं हुआ, तब उसका प्रतिकार करने का समय कब मिलेगा। मन , चित्त, वासना, कर्म और दैव यह सब रूप से कथित होते हैं। मन की सत्ता से दृश्य वस्तु का दर्शन होता है और मन का उच्छेद होने से दृश्य का भी उच्छेद हो जाता है। मन ही जगत कर्ता, मन ही पुरुष मन के निश्चय से जो कुछ सम्पादित होता है, वह मन का ही प्रतिविम्ब है। यह आकाश विस्तृत तथा अनन्त है, मन भी उसी तरह विस्तृत तथा अनन्त है। चिदाकाश, इस विस्तृत मन के जिस अंश में चैतन्य का प्रतिविम्ब पड़ता है, वह अंश प्रकाशित होकर स्थिरता प्राप्त करता है।

मन की शक्ति अतनी प्रबल है कि एक मन से जो कुछ करे, वह निश्चय सफल होगा। यहाँ तक कि स्वयं ब्रह्म बन सकता है। मन चैतन्य शक्ति से चैतन्य भाव प्राप्त कर ब्रह्म भावापन्न होता है। मानव शरीर अभिन्न है, आत्मा ही मन तथा शरीर है। मन तथा शरीर की सब चेष्टा ही सफल होती है। मन जिस वस्तु को खोजता है, उसको प्राप्त करता है। मन के द्वारा अपने ही अपने को पवित्र पथ पर नियुक्त करना चाहिए। मन जिसका अनुसंधान करता है और कर्मेन्द्रियाँ उसी का स्पन्दन करती हैं। मालिन्यमुक्त चित्त को मन कहते हैं। मन और चित्त आत्मा के स्वरूप हैं, उससे भिन्न और कुछ नहीं है। वासना चित्त का अंश मात्र है। मन अपनी विनाश क्रिया निज में ही करता है। मन केवल विनाश के निमित्त आत्म दर्शन करता है। मन का नाश ही सब दुःखों से पार पाने का मूल है। विवेक के द्वारा शोधित होने से मन का नाश होता है।

मन कितनी शक्ति धारण करता है, यह सरलता से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। तुम्हारा मन अगर अत्यन्त निर्विष्ट रहे तो भोजन की वस्तु का चर्वण करने पर भी कुछ स्वाद नहीं मालूम होगा।

मन की चंचलता की अविद्या तथा वासना के विचार द्वारा वासना का त्याग करने से मोक्ष प्राप्त होता है। सत् व असत् का मध्य भाग चिन्मयत्व है और चिन्मयत्व और जड़त्व के मध्य भाग की अवस्था को मन कहकर जानने से जड़ता के अभ्यास से मन जड़ बन जाता है और विवेक के अभ्यास से मन चैतन्य रूप होता है। भावनायुक्त अस्थिर मन का विवेक द्वारा उद्धार करना होता है। जैसे राजा के अतिरिक्त अन्य कोई किसी को पराजित नहीं कर सकता, उसी प्रकार मन के बिना कोई और मन को जीत नहीं सकता। आत्मा को मुक्त करने के लिए मन का जय किये बिना और कोई उपाय नहीं है।

मन ही कर्म फल भोगता है। मन में ही अनन्त सुख–दुःख होता है। शरीर में कुछ नहीं होता है। जड़ शरीर सुख–दुःख भोग नहीं सकता। मन ही कर्ता है। अतः मन को मानव जैसा बनना चाहिए। मन का आदि और अंतः जब विनश्वर है, तब उसका मध्यम भाग भी असत् है, ऐसा कहना पड़ेगा। मन के इस असत् रूप को जो नहीं जानता उसके लिए दुःख भोगना अनिवार्य है। मन जो करता है, वह होता है, जो नहीं करता, नहीं होता। यह विश्व मनोवृत्ति स्वरूप है। मन ही सब कर्म, सब चेष्टा, सब भाव, सब गति का बीज है। इस मन का परित्याग कर सकने से सब कर्म ही परित्यक्त हो जाते हैं। सब दुःखों का क्षय होता हैं सभी कर्मों का लय होता है।

कोषकार कीट जैसे अपने रहने के लिए कोष बनाता है। मन को भी उसी तरह अपने रहने के लिए यह शरीर मिला है। जैसे कोषकार कीट का कोष कीट से अभिन्न है, वैसे मन तथा शरीर में पार्थक्य नहीं हैं मन ही शरीर का उपादान है और मन से ही सब संभव होता है। ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिसका मन में उदय नहीं होता। चित्त प्रतिबिम्ब स्वरूप मन ही जीव बनकर स्वकल्पित भूत, भविष्य, वर्तमान कलात्मक जात का निर्माण, परिवर्तन तथा विनाश करता हुआ खुद स्फुरित होता है। जैसे धान के अन्दर चावल रहता है, वैसे ही संसार ब्रह्म में अवस्थित है। इस जड़ जगत का अस्तित्व नहीं है। दुःख हर्ष इत्यादि आत्मकृत है। पुनः आत्मा में ही इसका रूप होता है।

मन पुरुष होता है अतः उसको अच्छे रास्ते पर पहले जाना चाहिए। चित प्रकृति का स्वरूप है। वह जब मनन धर्म विशिष्ट होता है वही दर्शन विशिष्ट होने से चक्षु, श्रवण विशिष्ट होने से श्रोत्र आदि बन जाता है। अतः हम मन को कर्म बीज कहते हैं। वर्तमान शरीर में मन सब वस्तुओं में आसक्त होकर नर नाम से व्यक्त है। मन ही जीव

है और मन ही निर्मलता का गुण पाकर परम ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

मनुष्य मनोमय छोड़ और कुछ नहीं। इस संसार में मन ही जन्म लेता है, मन को ही ह्रास और वृद्धि होते हैं। गहराई से समझकर देखने से ऐसा लगता है कि मोक्ष मन का ही होता है। मन ही प्रकृत रूप से संसारी है और जन्म और मरण वस्तुतः मन का ही होता है। मन ही सदा सबका सर्वनाश कर रहा है। ज्ञान का उदय होने से मन का नाश होता है। जैसे दर्पण के सामने की वस्तु हटा कर लेने पर छाया नहीं रहती वैसे प्राण शक्ति का विरोध करने से मन का नाश होता है क्योंकि मन प्राण का रूपांतर मात्र है। प्राणी अपनी स्पन्दन शक्ति द्वारा देशांतर के सभी द्रव्यों को हृदयंगम कर इसका अनुभव कर सकता है, इसीलिए मन बन जाता है। जैसे शिला में जलन शक्ति नहीं होती है, वैसे ही मन में अनुभव शक्ति नहीं होती। अनुभव शक्ति प्राणवायु में है, प्राण वायु एवं आत्मा इन उभय शक्तियों के समावेश को मन कहते हैं। मन ही कर्ता है मन जो कुछ संकल्प करता है, वही होता है। जहाँ मन है, वहाँ आशा और सुख–दुःख विद्यमान हैं। मन शब्द का अर्थ है मनन करनेवाला और वह कल्पनाकारी होने से मन कहा जाता है। मन जड़ और चेतन मध्य रहकर जीव बुद्धि, चित्त प्रभृति संग से अभिहित होता है। जब तक मन कर नाश नहीं होता, तब तक वासना का क्षय नहीं होगा।

चित्त– चित्त का स्वाभाविक धर्म है विषयानुराग। तीर स्थित वृक्ष को जैसे नदी ग्रस्त करती है वैसे वृत्तिशाली चित्त मनुष्य को ग्रस रहा है। जैसे जल प्रवाह को बांध द्वारा आबद्ध किया जा सकता है, मनुष्य भी चित्त के द्वारा उसी प्रकार आबद्ध हो रहा है। जिस तरह लटकायी हुई रस्सी ऊपर–नीचे दोनों तरफ लटकती है वैसे मनुष्य भी चित्त और मन द्वारा कभी ऊर्ध्वगामी और कभी अधोगामी होता है। गिद्ध जैसे हठात् मछली को पकड़ता है वैसे ही चित्त सहसा विषय में आसक्त हो जाता है। चंचल चित्त वाले मनुष्य किसी विषय में एकाग्र नहीं हो सकते। बुद्धिस्थ आत्मा ही चित्त है। जब चित्त की वासना क्षीण रहती है तब चित्त जीव कहलाता है। जब भ्रमित होता है तब शरीर और जब चित्त की कल्पना शांत हो जाती है तब वह परम ब्रह्म है, ऐसा जानना चाहिए।

विषय वासना से आवृत चिन्मात्र में अवस्थित और विकल्पों से कलुषित चित्ततत्व ही जीव नाम से कथित है। यह प्रपंचमय दृश्य ही चित्त का स्वरूप है। योगासक्त चित्त किसी कर्म को न करने पर भी कर्ता बनता है। चित्त से ही संसार आया है।

यह संसार चित्तमय है और चित्त में ही यह संसार अवस्थित है। चित्त जैसा होगा पुरुष भी वैसा होगा, ऐसा ही सिद्धांत है। आत्मा ही चित्त है, वही चित्त का हेतु है और वही चित्त के द्वारा सब कर्ममयी, वासनामयी तथा मनोमयी शक्ति संचार करती है। दृश्य बनते हैं, उपभोग द्वारा धारण करते हैं तथा उत्पादन करते हैं। सब जीव तथा समग्र पदार्थ ब्रह्म से ही बराबर उत्पन्न हो रहे हैं और उसी में विलीन हो रहे हैं।

मोह के वश में जरा, मृत्यु से चित्त ही व्यथित होता है। आत्मा की इच्छा विकृति ही चित्त है। वह अपनी उत्पति के हेतु स्थित आत्मपद को भूलकर कल्पना प्रसूत अनर्थ का हेतु होता है। आत्मा कोषकार कीट की तरह बंधन में फँसता है। शब्दादि तन्मात्र समूह उसका अवयव स्वरूप है। जरा मृत्यु से घिरा हुआ यह विष वृक्ष सदृश संसार ही चित्त है। जैसे छोटे से बीज में प्रकाण्ड वटवृक्ष अवस्थित है, वैसे आशा पाश, विधानकारी यह निखिल संसार चित्त में ही अवस्थित है, वही चित्त अनल की शिखा में दग्ध, कोषरूप, अजगर द्वारा चर्चित तथा काम समुद्र की तरंग से आहत होकर आत्मरूप पितामह (मूलकारण) को भूल जाता है। शोक से विलुप्त चैतन्य विषयानल में दग्ध होता रहता है वैसे चित्त जब वर्तमान शरीर को छोड़ने को होता है, तब उसके विच्छेद के लिए विशेष कातर होता है क्योंकि वह विषय, देह तथा इन्द्रियाँ इत्यादि शत्रुओं के अन्दर कैसे विश्वस्त बनकर रहता था। यह दृश्य प्रपंचमय तप ही चित्त का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त कोई और स्वरूप नहीं है। यह जगत प्रपंच सब केवल एकमात्र आत्मा ही है ऐसा बोध न होने से यह दृश्य जगत दुःखप्रद ही होता है और बोध होने से मोक्ष सुख प्रदान करता है। द्रष्टा और दृश्य की मध्यवर्ती अवस्था ही चैतन्य है।

जब चित्त कल्पना पर आश्रित होकर प्रकाशित होता है तब वह चित्त स्वरूप को भूल जाता है और जड़ता से घिर जाता है। जैसे चित्रित राजमूर्ति कभी भीषण युद्ध नहीं कर सकती, मृतदेह कही जा नहीं सकती, शिलाखण्ड मधुर गीत नहीं गा सकता, कृत्रिम सूर्य अन्धकार को दूर नहीं कर सकता वैसे ही अलीक भ्रमित चित्त कोई कार्य नहीं कर सकता। वास्तव में जो कुछ करता हुआ नजर आता है, वह प्राणादि वायुओं की क्रिया मात्र है जैसे अंधकार में आलोक आने से अंधकार दूर हो जाता है वैसे ही परमात्मा का साक्षात्कार होने से चित्त का अस्तित्व नहीं रहता इसीलिए पृथक रूप से चित्त का प्रकाश नहीं होता।

हम भी आत्मा हैं, हम भी जीव हैं ऐसे ज्ञान का नाम चित्त है और ऐसा चित्त अनादि तथा अनन्त दुःख का विस्तार करता है। अगर चित्त का क्षय करना चाहो, तो पहले चित्तवृतियों को ध्वंस करो, तब सहज में ही चित्त का क्षय होगा।

जैसे घट के मध्य में घटाकाश है वैसे चित्त के मध्य में संसार है। जैसे घट का नाश होने से घटाकाश नहीं रहता वैसे ही चित्त का नाश होने से संसार नहीं रहता। चित्त के उच्छेद के लिए पृथक यत्न नहीं करना पड़ता। अज्ञान दूर होने से चित्त का उच्छेद हो जाता है। जब तक चित्त अज्ञान से आच्छदित रहता है, तब तक वह वशीभूत रहता है जैसे–जैसे अज्ञान का अनुभव होने लगता है, वैसे–वैसे चित्त भी क्षीण होने लगता है। चित्त मिथ्या है इसीलिए उपदेश से उसका कुछ नहीं होता, केवल विचार से उसका कुछ किया जा सकता है, चित्त जो करता है, उसका तुम अनुभव करते हो और चित्त जो नहीं करता, उसका अनुभव नहीं करते चित्त के योग से हम स्वस्थान लाभ करने मे असमर्थ हो रहे हैं। पक्षी जैसे भ्रम वश जाल में फँस जाता है वैसे हम चिन्ता जाल मे फँस जाते हैं

वासना – निश्चयात्मक अन्तःस्थित मनोवृत्ति ही वासना है। मनुष्य कोई कार्य न करे। मन में जैसी इच्छा होगी, उसी के अनुसार स्वर्ग या नरक का अनुभव होगा। जिसको तत्वज्ञान हुआ है, उनकी वासना शिथिल हो जाती है, और वह सब कर्म फल की आत्मा से भिन्न अनुभव करते हैं। वासना में ही जगत का ज्ञान अवस्थित है। वासना से जकड़ा हुआ चित्त अन्तर में क्या नहीं दर्शन करता ? जिसके हृदय में वासना बसी हुई है, वह त्रिभुवन को सामान्य तृण समझता है। वासना का क्षय होने से किसी अवस्था में चित्तवृत्ति का विरोध नहीं होता। वासना का नाश न होने से तत्व ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता फिर तत्वज्ञान न होने से वासना का क्षय भी नहीं होता। अतः तत्व ज्ञान, चित्त नाश और वासना क्षय ये सब परस्पर प्रकाशित होने में बाधा डालते हैं, वासना का क्षय, चित्त का नाश और तत्व ज्ञान ये सब एक ही समय में इष्टफल प्रदान करते हैं। इन तीनों का एक साथ ही उच्छेद करने की चेष्टा होनी चाहिए।

बुद्धि – बुद्धि जगतव्यापी नहीं है। निश्चय ही कुछ सीमाबद्ध स्थान की व्यापिका है, इसलिए बुद्धि वस्तु विशेष है और बुद्धि प्रत्येक की भिन्न होती है। कम या ज्यादा बुद्धि सभी को होती है पर जिसकी बुद्धि कम है, उसको लोग निर्बोध कहते हैं। इसलिए बुद्धि साकार है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। बुद्धि ही अच्छा, बुरा का विचार करती है।

उत्कृष्ट, निकृष्ट पसन्द करती है नाना प्रकार की नयी वस्तुओं का अविष्कार करती रहती है, यदि कोई विद्याहीन हो, परन्तु बुद्धि रहे तो वह सब कार्य कर सकता है परन्तु यदि बुद्धि न रहे तो विद्या भी नहीं रहती और खूब परिश्रम कर कुछ परिमाण में बुद्धि हो भी तो वह विशेष कारगर नहीं होती। बुद्धि जीव–शरीर में दर्पण स्वरूप होती है।

तृष्णा – तृष्णा मनुष्य को इतना दग्ध करती है कि अमृत के द्वारा भी वह ज्वाला नहीं मिटती। तृष्णा ही मनुष्य को भीत, दुःखी और अंधा बना देती है। तृष्णा की अप्राप्ति वस्तु पर आसक्ति होती है। अभाव न रहने पर भी विषय की आकांक्षा करती है और एक स्थान पर स्थायी नहीं रहती। तृष्णा ही संसार में चिर दुःख प्रदान करती है। अंतःपुर में रहनेवाले को भी अति दुर्गम स्थान पर ले जाती है। तृष्णा ही आत्मतत्व को आच्छदित कर मानव में अज्ञान का आधिक्य पैदा करती है। मन तृष्णा में फँसा हुआ है। तृष्णा ने ही मनरूपी हाथी को श्रृंखला में बांध रखा है और तृष्णा ही जरा, मरण तथा दुःख का कारण है।

चिन्ता – चिन्ता का त्याग करने से मनुष्य सब दुःखों से पार पा सकता है। चिन्ता अनन्त समय के लिए सब विषयों में आसक्त रहती है। चिन्ता का छेदन करना दुःसाध्य होने पर भी ज्ञानी गण विवेक रूपी खड्ग से उसका छेदन करते हैं। जब तक तत्वज्ञान का उदय नहीं होता, तब तक चिन्ता नहीं जा सकती और मन को शान्ति नहीं होती तथा तत्वज्ञान नहीं हो सकता। चिन्ता का सगा भाई धन है। हम कैसे धनवान होंगे, किस उपाय का अवलम्बन लेने से अर्थापार्जन होगा। इस चिन्ता से सब मनुष्य जीर्ण होते जा रहे है। चिन्ता हर समय अस्थिर है। एक के बाद दूसरी चिन्ता कहाँ से आती है, इसका कोई निश्चय नहीं, इसलिए चिन्ता अशेष है और कोई भी मनुष्य चिन्ता से शून्य नहीं होता। ऐसा कोई दिन नहीं आता जब किसी मनुष्य को किसी प्रकार की चिन्ता न हो। जो चिन्ता नहीं करते, वे बहुत सुखी है। चिन्ता से शरीर र्जजर हो जाता है और चिन्ता की समप्ति होने से मुक्ति का मार्ग सुगम होता है।

माया – माया जगत की उत्पत्ति का कारण है और इसी माया से विवेक आच्छदित रहता है। यह माया क्या है इसे जाना नहीं जा सकता। यह जगत अतिविचित्र है।

विचार के साथ चलने से माया की वृद्धि होती है पर विवेक की दृष्टि से देखने से कुछ नहीं रहता। इस माया का स्वरूप अवगत न होने से इसकी महत्ता का अनुभव नहीं किया जा सकता। संसार के बन्धन के लिए यह माया आश्चर्यजनक कार्य करती है। इसका कारण यह है कि यह माया नितान्त असत्य होने पर सत्य की तरह अनुभूत होती है। यह संसार रूपी माया परमपद की प्राप्ति में भेद रचना करती है। इसकी परमार्थिक सत्ता नहीं है। अगर तुम एकाग्रचित्त होकर भावना के तत्व से माया की वास्नविक का स्वरूप को अवगत कर सके तो सब विषय का मर्म तुम्हारी समझ में आएगा। माया कहाँ से आयी, इसके विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय पर विचार करना चाहिए कि हम इस माया का कैसे विनाश करेंगे। जब यह माया क्षीण होकर सम्पूर्ण रूप से मन के वश में हो जाएगी, तब तुम समझोगे कि माया ने कहाँ से जन्म लिया? इसकी आकृति कैसे नष्ट हुई।

माया असत्य है, इसको देखा नहीं जा सकता। यह माया अज्ञान के कारण सत्यवत प्रतीत होती है अतः बलपूर्वक इसका विनाश करके तुम इस तत्व को जान सकते हो। माया द्वारा जीव समूह के जगत रूपी इन्द्र जाल को रचा गया है, इसलिए वह आत्मा के दर्शन पाने में असमर्थ रहता है और जल के आवर्त्त की तरह भ्रमण करता रहता है परन्तु जब वह आत्मदर्शन करने में समर्थ होता है तब असल दृश्यों का त्याग कर सत्यसंविद प्राप्त कर यथा समय माया पाश को काट कर परमपद प्राप्त करता है।

इस मायामय संसार में जो लोग असार सुख की भावना रखते हैं, उसका का भी छेदन करता है। जगत में पैदा हुई ऐसी कोई वस्तु नही है जिसको काल का ग्रास न बनना पड़े। काल कहीं–कहीं प्रगाढ़ अन्धकार की तरह श्यामवर्ण, कहीं कमनीय वर्ण, कभी अन्य वर्ण धारण किये रहता है। काल कि गति, स्थिति, उदय तथा अस्त कुछ भी नहीं है। किसी भी बुद्धि द्वारा काल की महिमा जानी नहीं जा सकती और समस्त जीव लोक में काल ही सबसे अधिक बलवान है।

मनुष्य की दृष्टि रजोगुण से दूषित है, तमोगुण उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। सतोगुण दूर जा चुका है, इसीलिए तत्व ज्ञान किसी में नहीं है। जीवन अस्थिर है, मृत्यु आने वाली है, धैर्य विफल है, असार विषय में आसक्ति, सुख में मस्त, बुद्धि मूर्खतादोष से मलिन, शरीर–विनाश के वशीभूत, जड़ता इस शरीर को जकड़ रही है, पाप बराबर बढ़ रहा है। यत्न करने पर भी यौवन नहीं ठहरता, सत्संग से दूर, सत्य का उदय कहीं नहीं, मोह से अन्तःकरण आच्छन्न है। व्यक्ति में सन्तोष नहीं रह गया है करूणावृत्ति उदित

नहीं होती, केवल नीचता ही निकट आती है, धीरता अधीर हो रही है, सत्संग दुर्लभ हो गया, विषय–वासना बन्धन का हेतु बन गयी है और मृत्यु जीव–समूह को कहाँ लिए जा रही है। सिद्धगण भी विनष्ट होते जा रहे हैं, तब हम मनुष्य के स्थायित्व में क्या विश्वास करें। ध्रुव का जीवन चिरस्थायी नहीं है, अमर कुल की भी मृत्यु हो रही है, ब्रह्म की भी समाप्ति होती है, अग्नि भी हमेशा के लिए बुझती है, हरि भी संहार दशा प्राप्त करते हैं। हर सिमट जाते हैं, काल नियति का भी विलय होता है और कारण का भी विनाश हो जाता है। अतः ऐसे असार लोक के प्रति क्या आस्था है? ऐसी एक शक्ति जो भ्रम फैला रही है, माया शक्ति जो एक दूसरा ही भुवन दिखा रही है। त्रिलोक में ऐसा कुछ नहीं है, नहीं है। स्वर्ग के देवता गण, पृथ्वी में मनुष्य गण, पाताल में भुजंग गण, उनकी कल्पना मात्र से उत्पन्न और विनष्ट हो रहे हैं।

जल में गिरने पर अंग में पानी नहीं लगेगा, ऐसा होना संभव नही है, वैसे ही संसार में रहकर व्यवहार कार्य किए बिना रहा नहीं जा सकता। अनल शिखा जैसे दाह–हीन नहीं होती, वैसे ही राग–देष–शून्य सुख–दुःख वर्जित, सदनुष्ठान भी संसार में असम्भव है।

तत्वबोध, युक्ति व उपासना के बिना अस्तित्व का अंत नहीं होता। अज्ञान से इस संसार की उत्पत्ति हुई है और अज्ञान का नाश होने से संसार का भी नाश होता है। वास्तव में जगत में पुरुष का ही अस्तित्व है और सब अस्तित्व हीन हैं। पुरुष अर्थात् आत्मा, ब्रह्म– वे ही अज्ञानवश संसार में जीव रूप से बद्ध होते हैं और अज्ञान का क्षय होने पर अपने स्वरूप में अवस्थान करते हैं।

जो मनुष्य जिस वस्तु को चाहता है अगर वह सही प्रणाली से कोशिश करता है तो वह उस वस्तु को अवश्य प्राप्त कर सकता है। त्रैलोक्य के अधिपति होने के नाते जिस इन्द्रत्व का इतना गौरव है, वह भी किसी जीव विशेष के पौरुष तथा प्रयत्न से प्राप्त किया है। वह पद उच्चारण मात्र करने से मिलता है, केवल मन पर नियंत्रण से ही वह पद प्राप्त किया जा सकता है।

श्रम, सत्संग, विचार और आनन्द ये मोक्ष के चार द्वारपाल है– प्रथम वैराग्य, द्वितीय मुमुक्ष, तृतीय उत्पत्ति, चतुर्थ स्थिति, पंचम उपशन्ति और षष्ठ निर्वाण है जो यथार्थ सत्य है। उसका कारण अर्थात् मूल वही है जिसका कारण नहीं वही परमार्थ सत्य है। वह वस्तु ही ब्रह्म है जैसे कमल से सरोवर की श्रीवृद्धि और सरोवर से कमल की श्रीवृद्धि हाती है वैसे ही ज्ञान से सम दमादि की वृद्धि होती है। आत्मा का स्वरूप

आकाश की तरह और निराकार है तथा चैतन्य स्वरूप है, वही जीव बनकर जगत दर्शन कर रहे हैं। यह जगत दर्शन स्वप्न दर्शन के समान है। तुम, हम इत्यादि दृश्य जगत संसार के स्वप्नों के साथ तुलना की जा सकती है। जगत दर्शन सत्य है किन्तु जगत मिथ्या है, वैसे ही स्वप्न दर्शन सत्य है, किन्तु स्वप्न दृष्ट वस्तु सभी मिथ्या है। इस जगत में जो जन्म लेता है, वह बढ़ता है, नष्ट होता है, मुक्त होता है, स्वर्ग या नरक भोगता है।

परमात्मा अति निकट है यहाँ तक कि हमारे शरीर के अन्दर चैतन्य रूप में अवस्थित है। पूर्ण स्वभाव चेतन का दृश्य रूप के दर्शन से निवृत्त होने पर बहुर्मुखी गतिरुद्ध होकर अंतर्मुखी गति उत्पन्न होती है। इसके बाद जो उनकी तत्कालीन पूर्णावस्था प्रकाशित होती है उसी का नाम तत्व साक्षात्कार है। वे परात्पर ब्रह्म को जान सकते हैं। उनकी हृदग्रन्थि अर्थात् माया मोह विच्छिन होती है सभी संदेह दूर होते हैं ओर कर्म लय को प्राप्त होता है। चित्तनिरोध करने से दृश्य दर्शन लुप्त नहीं होता बल्कि यह ज्ञान होता है कि यह सब दृश्य मिथ्या तथा भ्रांति का परिणाम है। जैसे रूपहीन आकाश में नीला रंग आदि दिखायी पड़ता है, वैसे चिन्मय ब्रह्म में यह भ्रांत जगत दिखायी पड़ता है। ऐसे ज्ञान का उदय होने से ब्रह्म स्वरूप को जाना जा सकता है तथा देखने को मिलता है और देख रहे हैं ऐसे बोध का विनाश होने से चैतन्य मात्र अवशिष्ट रह जाता है यह विपुल ब्रह्माण्ड जो दिखलायी पड़ रहा है, कभी उतपन्न नहीं हुआ था, यह वह निर्मल ब्रह्म चैतन्य में कल्पित अर्थात् उन्हीं का स्वरूप है। जब यह जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ, तब उसका अस्तित्व ही कहां? जैसे आकाश में वृक्ष होने की संभावना नहीं, उसी तरह जगत कुछ नहीं। जो बाहर से राग द्वेष, भय आदि का व्यवहार करता है परन्तु आकाश की तरह स्वच्छ तथा चितस्वरूप अवस्थान करता है। यह जीवन मुक्त है जिनसे लोग उद्विग्न नहीं होते। शोक या आनन्द जिनको छू नहीं सकता, वह भी जीवनमुक्त है। जैसे जल प्रवाह जल से भिन्न नहीं, आलोक तेज से भिन्न नहीं, स्पन्दन वायु से नहीं, आकाश शून्य से भिन्न नहीं, उसी तरह त्रिभुवन भी परम ब्रह्म से भिन्न नहीं। जिससे दृश्य जगत दृष्ट होता है, काल से उतपन्न होता है तेज का प्रकाश तथा चेतनादि जो कुछ जान रहे हो वह सब ब्रह्म छोड़कर और कुछ नहीं जिनके प्रभाव से जान रहे हो और बोधगम्य हो रहा है वह ज्ञान ही तत्व ज्ञान है और वह ज्ञान ही ब्रह्मा है।

जैसे हिम के साथ जाड़े का कोई भेद नहीं, अग्नि तथा उष्णता में कोई फर्क नही, उसी तरह ब्रह्म और जगत में कोई फर्क नहीं, जो जगत कारण के अभाव से पहले नहीं रहा, वर्तमान में नहीं है एवं भविष्य में नहीं रहेगा, उसका अस्तित्व कहाँ? वही आदि कारण ब्रह्म है वही कर्म रूप में विश्वाकार में प्रकाशित होकर अवस्थित है। यद्यपि अज्ञान विश्व का कारण है परन्तु वह विश्व की सृष्टि नहीं कर रहा है, स्वप्नावस्था में वस्तु का दर्शन और कार्य करने की भांति जाग्रत अवस्था में यह जगत दिखायी पड़ रहा है। जैसे स्वप्नावस्था में सब प्रत्यक्ष होने पर भी वह सब कुछ नहीं केवल भ्रम है उसी तरह ब्रह्म में जगत न रहने पर भी अज्ञानवश दृष्टिगोचर हो रहा है जो कुछ दिखायी पड़ रहा है, वह जब जगत ही परमात्मा में नित्य अवस्थित है। जैसे स्वप्नद्रष्टा के अंदर का ज्ञान ही नगरादि रूप में परिणत होता है वैसे अपनी आत्मा ब्रह्म में जगत के रूप में परिणत होती है। द्रष्टा रहने पर दृश्य रहेगा और दृश्य रहने से द्रष्टा भी रहेगा। इस प्रकार परम्पर बन्धन है परन्तु एक अभाव से दोनों मुक्त हैं। भगवान आत्मभाव को विस्मृत और परमपद का त्याग करके, संसार उपाधि से जीवमात्र को प्राप्त हुआ है। यह जगत चिदाकाश को छोड़कर और कुछ नहीं है जैसे निर्मल आकाश में मोती का भ्रम होता है। वैसे ही निर्मल आत्मा में जगत भ्रम होता है। अज्ञान की दृष्टि से यह जगत स्थूल होने पर ज्ञानियों की ज्ञान दृष्टि से परमाणु की अपेक्षा सूक्ष्म प्रतीत होता है। ब्रह्म ज्ञान से बिना इस जगत के सूक्ष्म भाव का ज्ञान नहीं किया जा सकता।

ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और क्रियाशक्ति यह तीनों कारण सूष्म तथा स्थूल शरीर के धर्म हैं। स्थूल शरीर क्रिया का आश्रय है, सूक्ष्म शरीर इच्छा का आश्रय है और कारण शरीर ज्ञान का आश्रय है। ब्रह्म का स्वरूप चेतन है और उसकी विशाल शक्ति आकाश से भी सूक्ष्म है, आकाश में जैसे सूर्यलोक प्रतिभासित होता है, उसी तरह यह दृश्य जगत चिन्मय ब्रह्म में प्रकाशित होता है। चित्ताकाश, चिदाकाश और आकाश इन तीनों आकाश चिदाकाश शून्यतर है, उसी चिदाकाश में मृत्यु के बाद पुण्यात्माओं की आत्मा अवस्थान करती है। वहाँ जाने से सब अनुभव होता है। मुहूर्त में चित्त से दूर जा सकता है। चित्त की सब वासनाओं को त्यागकर चिदाकाश में स्थित होने से सर्वात्मक परमतत्व मिलता है जैसे कल्पना से रची हुई किसी वस्तु को दूसरा देख नहीं सकता, उसी तरह तत्व ज्ञान के बिना कोई ब्रह्म दर्शन नहीं कर सकता ज्ञान चक्षु मिलने से सब का दर्शन होता है।

जैसे स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था की स्मृति लुप्त हो जाती है। उसी तरह मृत्यु होने पर पूर्व स्मृति कुछ याद नहीं रहती। जीव क्षणभंगुर, मिथ्यामरण, मोह का अनुभव करके पूर्व संसार विस्मृत होकर दूसरे ही रूप का दर्शन करता है तब चिदाकाश में आकाश रूपी जीव यह सोचता है कि मैं इस आधार में आधेय रूप से अवस्थान कर रहा है। एकमात्र चिदाकाश ही अपने प्रभाव से जगदाकार को दिखाता हैं दृश्य वस्तु कुछ नहीं रहने से द्रष्टा यादृश्य बोध भी नहीं रहता। जैसे जीव क्षणभर के लिए मरणरूपी मोह में त्रिभुवन की तरह दृश्य देखता है वैसे पूर्व स्मृति के अनुसार अर्थात् पूर्व काल में जैसा जगत देखा था और पूर्व में पिता, माता, मित्र, मृत्यु, वर्ण, ज्ञान, चेष्टा, क्षय, उदय वह सब जैसा रहा, चित्त शरीर में भी वह सब वैसा ही अनुभव करता है। यहाँ हमने जन्म लिया, हम रहे, यह हमारी माता, यह पिता पूर्वस्मृति के बल से इस प्रकार बोध होता है और जीव एक क्षण को, एक युग के समान अनुभव करता है। जैसे आँख खोलने पर नाना प्रकार के रूप दिखायी पड़ते हैं वैसे जीव के मरण मूर्च्छा के समय असंख्य दृश्य जगत दृष्टिगोचर होने लगता हैं। दिक्काल, आकाश, धर्म, कर्म और असंख्य वस्तुएँ उसी चिदात्मा में प्रस्फुटित होती हैं, जीव ने जिस वस्तु का कभी अनुभव नहीं किया देखा भी नहीं और वह वस्तु स्वप्न में अपने मृत्यु की तरह तत्क्षण स्मरण में आती है। इस संसार में अत्यन्त विस्तार ही मुक्ति है। तत्वज्ञान ही मुक्ति का कारण है, ऐसा ज्ञान होने से सारे संसार को परम ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ बोध नहीं होता।

परमात्मा ही एकमात्र कार्य और कारण का सारुप्य बनकर चिदाकाश में अवस्थान कर रहे हैं। पहले समाधि के प्रभाव से स्थूल शरीर छोड़कर चिद्रुपमय पवित्र दृष्टि पाकर और विमल होकर जैसे मर्त्यवासी कल्पना द्वारा आकाश नगर देखते हैं, वैसे ही चिदाकाश स्थित व्योमत्व स्वरूप सृष्टि का दर्शन होता है। इस प्रकार लोग स्वर्ग का दर्शन करते हैं। यह स्थूल शरीर सृष्टि दर्शन में बाधक होता है। ब्रह्म ही अपनी कल्पित दृष्टि जगत आदि नाम से अभिहित है। अभ्यास द्वारा जब तक निजी भेद ज्ञान दूर नहीं होगा, तब तक तुम ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होकर ब्रह्म दर्शन नहीं कर सकते। तुम जब अपने शरीर में अपना संकल्पित नगर ही नहीं देख पा रहे हो, तब अन्य शरीर का आश्रयकर दूसरों का कल्पित नगर कैसे देखोगे? अतः शरीर छोड़कर चिन्मय शरीर का आश्रय करो तब वह संकल्पित नगर देख सकोगे।

समाधिस्थ होकर अपना शरीर इसी स्थान पर रखकर विशुद्ध सत्य स्वरूप चित्त मात्र को लेकर वहाँ जाना होता है। देव–देवी का शरीर आकाश भर में है, ऐसे ज्ञान में मूर्ति शून्यता प्रतिबंधक नहीं होती। वह सब शरीर शुद्ध सत्वगण से निर्मित है। इसीलिए चित्त स्वरूप का अभ्यास मात्र है। अतः परमब्रह्म से कुछ भी भेद नहीं है। जैसे गन्ध के साथ वायु, जल में जल, अग्नि में अग्नि, वायु में वायु मिलता है। वैसे उनकी मनोमय देह, दूसरे मनोमय देह में मिलती है।

मरण के बाद जीवमात्र आतिवाहिक देह पाता है, लेकिन उस आतिवाहिक देह को कोई देख नहीं पाता, लोग मृत जीव के स्थूल शरीर को ही देखते हैं। जैसे लोग घर में ही रहकर स्वप्न में उज्ज्वल नगर देखते हैं, वैसे चित्त पदार्थ में यह अस्त संसार भी सत् की तरह उज्जवल दिखता है। जैसे आकाश में वायु, वायु में सौरभ अदृश्य रूप में रहता है, वैसे जीव मरण के बाद जीवाकाश बनकर गृहाकाश में अदृश्य रूप से रहता है। अंगुष्ठ मात्र आकाश में अनेक राज्य हैं परन्तु भ्रांतिवश ऐसा बोध होता हे कि वह कोटि योजन में बना है, परमाकाश का आदि, मध्य तथा अन्त नहीं है। परमाकाश महान है, उस निर्मल आकाश की सीमा नहीं। उस परमाकाश में यह विशाल जगत तथा और भी असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती।

चेष्टा चित्त की अनुगामिनी है और चित्त चैतन्य का अनुगामी है, जिसका असली स्वरूप आकाश के सदृश है। यह कैसे अवरुद्ध हो सकता है। अतिवाहिक शरीर चित्ताकृति और किसी प्रकार से अवरुद्ध नहीं हो सकता। ज्ञान के प्रभाव से यह भौतिक शरीर अतिवाहिक देह प्राप्त करता है। यह चित्ताकृति शरीर इतना सूक्ष्म है कि इच्छानुसार आकाश में तथा पर्वत के अन्दर भी जा सकता है। प्रत्येक चित्त वैसी शक्ति से सम्पन्न है। इस जगत में मरण, मूर्च्छा सब लोग अनुभव करते हैं। वह मूर्च्छा प्रलय रात्रि स्वरूप होती है फिर यह रात्रि बीत जाने पर जीव पुनः सृष्टि विस्तार करता है जिसका जैसा ज्ञान और कर्म करता है, वह उसी के अनुसार सृष्टि का अनुभव करता है। पूर्व संस्कार ही जन्म, मृत्यु का कारण बनते हैं। मरण मूर्च्छा के बाद जीव के अन्दर जो थोड़ा सृष्टि भाव उदय होता है, वही सृष्टि का ढांचा होता है। जीव का अतिवाहिक शरीर सूक्ष्म बुद्धिमय इन्द्रिय प्रपंच ही है। अनेक कल्प के बाद वह अतिवाहिक देह में स्थूल कल्पना के द्वारा आधिभौतिकता को प्राप्त होता है, तब वायु के स्पन्दन की तरह भुवन भ्रांति होती है। जैसे स्वप्न में अंग अथवा संभोग सत्य

की भांति होने पर भी मिथ्या होने पर भी मिथ्या ही है। जीव जहाँ मरता है उसी जगह वैसा ज्ञान होता है। यह आकाशव्यापी सूक्ष्म जीव वास्तव में जन्मादि शून्य होने पर भी भविष्य के शरीर की भावना के कारण, मैं जन्मा हूँ मैं जगत देख रहा हूँ ऐसे नाना प्रकार के भ्रम का अनुभव करता है।

यह स्थूल विश्वमन छोड़कर और कुछ नहीं है अगर कोई कहे कि मन तो चंचल है और यह विश्व स्थित रहे तो विचारकर देखो कि यह विश्व भी चंचल और क्षणभंगुर है। जो चिदाकाश वही परमपद है, जो दृश्य है, वही द्रष्टा है, मिथ्या रूपी अनादि माया, चिदाकाश में अथवा चित्ताकाश में नाम, रूप सम्पन्न विविध वस्तु, दर्शनकारी जीवभाव का स्फुरण कराती है और वह स्फुरण ही जगत है यह सब केवल हम ही हैं। ऐसा ज्ञान होने से जगत परमार्थ स्वरूप अनुभूत होता है, किन्तु तुम ऐसे ज्ञान से जगत आरोपित होता है, ऐसा बोध होता है। चिदवस्तु सर्वगामी और उसी में यथार्थ ज्ञान का उदय होता है और वह अतिवाहिक एवं सूक्ष्म है, अतः ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उस सूक्ष्म और सर्वतोगामी आप्तिवाहिक देह को अवरुद्ध कर सके।

यह जगत आत्मा ही है और जो कुछ देख रहे हो, वह सब आनन्द स्वरूप चिन्मय ब्रह्म ही है। आध्यत्मिक ज्ञान होने से शरीर भी रूई की तरह लघुता प्राप्त करता है। ज्ञानोदय होने से यह स्थूल शरीर आकाश गमन योग्य बन जाता है। रज्जु से सर्प भ्रम की भांति इस स्थूल शरीर का अनुभव भ्रांति मात्र है।

जैसे स्वप्न दृश्य वस्तु जागने के बाद कहाँ जाती है, यह जाना नहीं जा सकता वेसे ही विचारशील ज्ञानी व्यक्ति के लिए यह आधिभौतिक शरीर असत्य है। यह आधिभौतिक शरीर स्वप्न और जगत पदार्थ एक ही प्रकार के हैं। जागने पर स्वप्न जैसे असत्य हो जाता है, वैसे ही ज्ञान होने पर यह जगत तथा स्थूल शरीर आकाश में मिल जाते हैं।

अतिवाहिक शरीर प्राप्त करने पर अधिभौतिक शरीर की कुछ याद नहीं रहती। जैसे पुत्र, पुष्प, फल समेत वृक्ष एक ही पदार्थ है, उसी प्रकार एक पदार्थ को लेकर यह सारा जगत एक ही ब्रह्म हैं, जैसे जल से बर्फ पृथक नहीं, स्फटिक से शिला पृथक नहीं, वैसे ही जगत ईश्वर से भिन्न हैं सब प्राणियों के अन्दर जो परम ब्रह्म का ज्ञान है, वही जगत हम की तरह प्रतीत होता है। स्फटिक शिला से और आलोक दीप से अभिन्न होने पर भी विविध रूप स्पष्ट होता है। वैसे ही चिन्मय परमेश्वर, यह जगत तथा हम अभिन्न हाने पर भी विभिन्न रूप से दृष्ट होते हैं।

जैसे जल से तरंगे उठती हैं और विलीन होती है किंतु वे तरंगे जल को छोड़कर ओर कुछ नहीं होती, उसी में विलीन होती हैं वैसे ही सृष्टि प्रपंच उठता है और विलीन होता है पर उनसे पृथक कुछ नहीं। जैसे तेज तथा आलोक अभिन्न है उसी प्रकार चिदब्रह्म के प्रकार भेद से यह विश्व हुआ है। जैसे हाथ, पैर, शरीर से भिन्न नहीं है वैसे जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं जैसे अग्नि की उष्णता, बर्फ की शीतलता, आत्मा की ज्योति, मन की चंचलता है, जीवत्य भी वैसा ही है।

यह विश्व दीर्घ स्वप्न के समान है। इस स्वप्नमय विश्व में दर्शक मानव जैसा समझता है, उसको क्षणिक मानव जैसा बोध होता है। द्रष्टा का स्वरूप चैतन्य है, वह स्वप्नाकाश के अन्दर है, वह चैतन्य स्वप्नद्रष्टा की वासना के आधार के साथ मिलकर एक होकर प्रकाशित होता है। उस चैतन्य के प्रभाव से नरत्व का बोध होता है। यह अस्तित्व भी नहीं केवल भ्रांति मात्र है। केवल ब्रह्म ही सद् है उसमें जगत नाम की सृष्टि भ्रांति मात्र है। जल में जैसे तरंग है, वैसे ब्रह्म में सृष्टि है, जैसे सूर्य की किरण में धूलिकण दिखायी देता है, वैसे परमाकाश में ब्रह्माण्ड रूपी धूलिकण दिखायी पड़ते हैं सर्वगामी ब्रह्म जहाँ जैसी कामना करता है, वहाँ वैसा ही दृश्य होता है आत्मा सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान है, दृढ़ वासना में जब शक्ति का उदय होता है, तब उसी के अनुरूप दृश्य होकर प्रकाशित होता है।

मनुष्य तीन तरह के होते हैं– मूर्ख, धारणानिष्ठ और युक्तिवान। अभ्यासवश जो धारणानिष्ठ और युक्तिवान है, वह सुख से शरीर छोड़ता है। जो धारणानिष्ठ और युक्तिवान नहीं है, वह मूर्ख है। विषयासक्त व्यक्ति वासना के वशीभूत होने से मृत्युकाल में आक्षेप दुःख भोगता है। सब दिशाओं को अंधकारमय एवं चतुर्दिक बादल से घिरा हुआ देखता है और दिन में नक्षत्र का उदय देखता है। तब मर्म पीड़ा से पृथ्वी को आकाश की तरह और आकाश को पृथ्वी की तरह देखता है। कभी आकाश में उड़ा तो कभी अंधकूप में गिरा, ऐसा अनुभव करता है, कुछ बोलने की इच्छा होने पर भी जिह्वा की जड़ता के हेतु कुछ बोल नहीं पाता। मन में होता है कि ऊपर उठ रहे हैं और गिर रहे हैं। अपनी निःश्वास को सुनकर व्याकुल होता है, स्मृति शक्ति क्षीण होती है, फिर सब भूल जाता है।

जिसको किसी एक विषय में अत्यन्त अनुराग होता है उसको विषय गति मिलती है। एक विषय में अत्यन्त अनुराग होने से दूसरे विषय का ज्ञान विनष्ट हो जाता है।

मूढ़ व्यक्ति इस जन्म में आत्मनाश और परजन्म में दुःख भोगने के लिए जन्म ग्रहण करता है जो व्यक्ति अपनी आत्मा का दर्शन करने में असमर्थ है, उसका जीवनमरण एक समान ही है। आत्मा सर्वात्मक है। अतः उसका साक्षात्कार होने पर वही शेष रह जाता है और सब कुछ आत्मा के ही रूप में दिखायी देता है। यह आत्मा परमाकाश से भी सूक्ष्म है इसलिए लक्ष्य नहीं किया जा सकता। सर्वात्मक है इसलिए शून्य नहीं, फिर भी नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि है या नहीं, ऐसा जो कहेगा या बोध करेगा, वह तो आत्मा ही है। जैसे सोने के जितने प्रकार के अलंकार बनते हैं उनके नाम भिन्न होने पर भी सोना एक ही है। आत्मा की सत्ता नहीं है यह किसी युक्ति से प्रमाणित नहीं हो सकता है। जैसे कपूर सन्दूक के अन्दर रहने से भी उसकी गंध से मालूम हो जाता है, वैसे प्रत्येक रूप में रहने पर भी आत्मा ही नजर आती है। चैतन्य और देह अभिन्न है, वही इन्द्रियों का सार है अतः दृश्य रूप में प्रकट होने पर भी वही प्रत्यक्ष हैं। जब तक अंलकार का ज्ञान रहता है तब तक सुवर्णज्ञान नहीं रहता, उसी तरह जब तक दृश्य ज्ञान रहता तब तक दर्शन अर्थात् आत्म चैतन्य का ज्ञान नहीं रहता। जैसे अंलकार ज्ञान नष्ट होने से सुवर्ण ज्ञान होता है वैसे दृश्यज्ञान हो जाने पर वही एक परब्रह्म परमेश्वर प्रतिष्ठित होता है। यह चंचल जगत चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं, एकमात्र आत्मा का आभास ही सर्वत्र और सर्वप्रकार से प्रकाशमान है।

जीव देह परमपद से जन्म लेकर परमपद में ही विलीन होता है और हो रहा है जैसे फल–फूल वृक्ष से ही पैदा होता है, वैसे जीव देह ब्रह्म से ही पैदा होकर उसी में लीन होता है। जीव की वासना जहाँ जैसी होती है वहाँ वैसा ही फल प्राप्त होता है। अज्ञानवश परम ब्रह्म को ही चित्त और जीव समझता है। आत्मा कहीं जाती नहीं, शरीर क्षय होने से अनन्त आकाश में लीन होती है अर्थात् परम ब्रह्म में मिल जाती है। शरीर केवल मृत्यु रूप पद के द्वारा आच्छादित रहता है। आत्मा का निकल जाना ही मृत्यु लाभ कहा जाता है। यह जगत सृष्टि के आदि में कुछ नहीं था और अन्त में भी कुछ नहीं रहेगा केवल मध्य में दृष्टिगोचर हो रहा हे।

इस जगत को किसी ने रचा नहीं, स्वतः संभूत है। उन पदार्थों की शक्तियाँ आत्मा से ही प्रकाशित होकर व्यवहार दशा प्राप्त कर रही है। आत्मा केवल साक्षी रूप में अवस्थान करती है।

एक ब्रह्म से ही कितने जीव जन्म ले चुके हैं, जन्म ले रहे हैं और भविष्य में भी जन्म लेंगे। यह जीव समूह अपनी वासना से विवश होकर अति विचित्र दशा में गिरकर जल बुदबुद की भांति उठ रहे हैं और विलीन हो रहे है। ये जीव कई एक बार जन्म लेते हैं। कोई अभी जन्म ले रहा हैं, कोई कैवल्य प्राप्त किये हुए है। कोई सहस्त्र कल्प से बारंबार जन्म ले रहा हैं। कोई एक योनि में रहता है, कुछ अन्य योनि में जाते हैं। कुछ नारकीय बनकर दुःसह्य सहन करते हैं, कुछ मर्त्य में रहकर किंचित सुख भोगते हैं। कोई सूर्य, कोई इन्द्र, कोई वरुण और कोई ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के रूप में है, कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई शूद्र के रूप में है, कोई चाण्डाल, कोई कोल, भील, नाग के रूप में है, कोई तृण कोई फल, कोई पंतग, कोई कीट बनकर जल तथा स्थल में रहते हैं। कोई बड़े–बड़े वृक्ष के रूप में हैं। कोई वैभवशाली, कोई भूपति, कोई मंत्री, कोई सामंत है। कोई चीराम्बरधारी, मौनी मुनि के रूप में है, कोई नाग, कोई अजगर, कोई कृति, कोई चींटी के रूप में हैं। कोई सिंह, कोई व्याघ्र, कोई हरिण, कोई महिष, कोई गो, कोई घोटक, कोई हाथी, कोई बकरी के रूप में हैं, कोई वायु और कोई आकाश के रूप में है, कोई जीवन्युक्त होकर परमकल्याणकारी के रूप में विचरण कर रहा हैं, कोई विदेहयुक्त होकर परमात्मा में परिणत हुआ है। किसी को मुक्ति लाभ करने में बहुत विलम्ब है। कोई जीव विषय लम्पट है, कोई आत्मा की मुक्ति के प्रति द्वेष करता है और कोई नदी इत्यादि के रूप में है। कोई समाधि लगाये है। यह सब जीव अपनी वासना के बल से आबद्ध होकर ही इन सब अवस्थाओं में अवस्थान कर रहे हैं। यह जीव समूह वासना शरीर धारण कर आशा पाशा में आबद्ध है, जैसे पक्षी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाते हैं, वैसे ही जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में गमनागमन करते हैं।

अपनी आत्मा में अवस्थान करो, तब यह सांसारिक दुःख समूह नष्ट हो जायेगा। संकल्प, मन, चित्त, बुद्धि, वासना, जीव सब एक ही पदार्थ हैं, केवल नाम के अभेद हैं। अब जब पदार्थों में बाधा विद्यमान है, तब भावना का क्या मूल्य है, जिसको सत्य कहकर जानते थे, अगर वह असत्य हुआ तो वासना कैसे रह सकती हे। वासना के क्षय होने से आत्मलाभ सिद्ध होता है। अभ्यासवश जब सब पदार्थ के प्रति अवहेलना दृढ़तर होगी तब सब पदार्थ असत्य मालूम होंगे। परमात्मा इच्छाविहीन और उदासीन हैं इसलिए कुछ भोग नहीं करते, फिर दूसरी तरफ सभी

वस्तुओं के प्रकाशक हैं इसलिए भोग भी करते हैं और किया भी करते हैं। आत्मा ही आत्मा को जान सकती हे। वासना का क्षय ही मोक्ष कहलाता है। जिसका मन वासना शून्य हुआ है उसके लिए कर्म, प्राणायम, समाधि, जप इत्यादि का प्रयोजन नहीं। आत्म साक्षात्कार के सिवा जगत में ऐसा कोई सुख नहीं, जो पूरी तरह दुःख से वर्जित हो। जैसे अग्नि शिखा के प्रांत में काजल है, वैसे ही सब सुख के अंत में दुःख है।

तुम जो यह दृश्यमान जगत देख रहे हो, यह , वास्तव में और कुछ नहीं उस परम ब्रह्म का प्रकाश मात्र है। मनोमय देह ही सुख–दुख भोगता है, मांसमय देह नहीं। जगत की उत्पत्ति या विनाश कुछ नहीं है केवल भ्रांति मात्र है। आत्मा ही जाग्रत स्वप्न और सुप्रप्ति यह तीन अवस्था प्राप्त करती है, देह कुछ नहीं प्राप्त करता। आत्म जब जीवभावापन होता है, तब उसी में देहभाव प्रकाशित होता है। जैसे केले के वृक्ष और पत्ती कोई फर्क नहीं, वैसे ब्रह्म और सृष्टि में कोई पार्थक्य नहीं। अज्ञानवश सृष्टि सत्य मालूम होती है, ज्ञान होने से वह असत्य हो जाती है।

संसार की अपेक्षा दुःख का स्थान और कोई स्थान नहीं है। ऐसा कोई मूर्ख नहीं है जो श्मशान में पड़े हुए शव से आलाप करता है। देही के देह के अन्दर नाना प्रकार के कीटादि जन्म ले रहे हैं और उस देही के त्यक्त विष्टा में नाना प्रकार के कीट जन्म ले रहे हैं, इस तरह जीव को नाना अवस्था में जन्म लेना और कष्ट भोगना पड़ता है। अज्ञान में दिन न गंवाकर सर्वदा विचार चर्चा करना चाहिए। विषयासक्त व्यक्ति और पशु में कोई प्रभेद नहीं, कारण पशु रज्जु से बंधा रहता है और अज्ञानी व्यक्ति का चित्त विषय से आकृष्ट होता हैं आत्मा से अलग होकर मन की उत्पत्ति होती है और अगर उसका पृथक ज्ञान न किया जाय तो मन की उत्पत्ति नहीं होगी, हम आत्मा हैं, जीव नहीं है, जब ऐसे ज्ञान का प्रकाश होगा, तब यही चित्त की शान्त अवस्था है। जैसे लकड़ी के संयोग से अनल की वृद्धि होती है। जैसे काष्ठ के अभाव से अनल बुझ जाती है, वैसे चिन्ता से चिन्ता नष्ट हो जाती है। विषय चिन्ता को ही चित्त की वृत्ति कहा जाता है और वह चिन्तायुक्त चित्त आशा के साथ प्रकाश से आता है अतः आशा का नाश होने से चिन्ता का भी नाश होता है। आशा ही जीव के बंधन का हेतु है, अतः वह बंधन छिन्न करने पर कोई व्यक्ति मुक्त हुए बिना नहीं रहता।

इस ब्रह्माण्ड में मोक्ष नाम का एक स्थान है और भगवान रूपी आत्मा ही वहाँ का राजा तथा मन ही उसका मंत्री है। जैसे मृत्तिका में भावी घट है वैसे मन के अन्दर वासना के रूप में यह विश्व अवस्थित है। उस मन पर विजय करने से ही सबको जय किया जा सकता है और सब कुछ मिलता है। मन को दुर्जय ऐसा जानने से केवल युक्ति द्वारा इसका विनाश होता है और विषय में अनास्था ही मनोजय की युक्ति है। इस दृश्यमान विषय से क्रमशः वैराग्य का अभ्यास करना होता है। सभी मोक्ष चाहते हैं। किसने किसको आबद्ध कर रखा है ? ज्ञान का उदय होने पर देखे तो भी आबद्ध नहीं है। मनुष्य मृत भी नहीं, जीवित भी नहीं, यह जगत किसी का नहीं, कोई भी किसी का कुछ भी नहीं, जीव को आत्मा में अवस्थान करना चाहिए। आत्मदर्शन करने के लिए ऊंचे स्वर में आह्वान करने की जरूरत नहीं, अपने शरीर में ही उनका दर्शन मिलता हैं। ओंकार के उच्चारण द्वारा उनका स्मरण करने से ही वह थोड़ी देर में ही दर्शन देते हैं। जब तक आत्मा अज्ञानी है, तब तक शरीर है।

अज्ञान ही पाप है, यह पाप विचार द्वारा दूर होता हैं अतः पाप को निर्मूल करने वाले विचार को भी कभी छोड़ना नहीं चाहिए। अखिल जगत की आत्मा है उसी आत्मा में जब जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है, जीव उसी का दर्शन तथा मनन करता है। वासना के वशीभूत इस जगत को भ्रम के रूप में देख रहे है। जैसे बीज के अन्दर वृक्ष है, वैसे ही अपने चित्त में यह जगत विद्यमान है। जैसे अंकुर से निकलकर पत्रादि के साथ वृक्ष अपना रूप लेता है, वैसे चित्त से उत्पन्न होकर पृथ्वी आदि सभी पदार्थ बाहर प्रकाशित होते हैं। वास्तव में पृथ्वी आदि चित्त में ही अवस्थित है। जैसे जमीन से उत्पादित वृक्ष में फलफूल इत्यादि नहीं होते, वैसे ही वासना विमुक्त जीव का फिर जन्म नहीं होता। जैसे जल में स्थित रत्न अपनी प्रभा से पहचान में आता है, वैसे ही पूर्ण प्रकाश ब्रह्म जगत आदि के रूप में प्रकाशित है क्योंकि ब्रह्म को छोड़कर कहीं कुछ नहीं। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है अतः विवेक के जरिये आत्मा का उद्धार करना चाहिए। फिर से जन्म ग्रहण न करना पड़े, तब ही आत्मा का उद्धार होता है।

एकमात्र साथी मन के विचार से ही सर्वदा आत्मा का उद्धार होता है जैसे अंधकार दूर होने से आलोकित होता है, वैसे केवल मात्र अंहकार दूर होने से आत्मा का दर्शन मिलता है।

'हम और हमारे' जैसा भाव त्याग कर मन के द्वारा मन का उच्छेद करने से आत्मदर्शन होता है। सूर्योदय होने से भूतल आलोकित होता है, वैसे ही ज्ञान का उदय होने से ब्रह्म स्वरूप श्रेय, वस्तु स्वयं प्रकाशित होती है। स्थिर मन द्वारा विचार करने से मालूम होता है कि भगवान ने मनुष्य को अपने मनोनुरूप बनाया है और अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रदान कर मनुष्य शरीर के भीतर तथा बाहर व्याप्त है।

संक्षिप्त तत्त्वज्ञान : परमात्मा व ईश्वर के बारे में ज्ञान को तत्त्वज्ञान कहा जाता है। जिनकी ईश्वर को पाने की इच्छा है उनको पहले जानना चाहिये, हम कौन हैं ? उसके बाद और सात विषय के बारे में विशेष रूप में जानना चाहिए। सही प्रणाली, विश्वास और भक्ति के साथ कार्य करने से तीन महीने के अन्दर आत्मदर्शन होता हैं आत्म दर्शन होने से मनुष्य शांति तथा मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

हम कौन – पंचभूत, पंच प्राण, पंचकर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि उसके अलावा – इड़ा पिंगला, सुषुम्ना चित्त, छः रिपु – वासना, चिन्ता, माया तथा आशा, इन सब उपादनों से शरीर का गठन हुआ हैं। इनके अलावा – ज्ञान चैतन्य, आत्मा परमात्मा है। इन सब विषयों के तत्वों से अवगत होने पर हम कौन है और ईश्वर मानव शरीर में विराजमान हैं, जाना जा सकता है।

जीव की अपनी स्वतंत्र कोई क्षमता नहीं है। केवल साक्षी मात्र है – अतः हम अनन्त आत्मा हैं। जैसे मोती के हार का प्रत्येक मोती सूत से गुंथा हुआ है। सूत का मोती से कोई संबंध नहीं, उसी प्रकार शरीर तथा आत्मा में कोई संबंध नहीं है। शरीर जड़ है, आत्मा अमर है। आत्मा स्वयं ही स्वप्रकाश हैं। अनादि, अनन्त सर्वगामी चिन्मय आत्मा ही हम हैं।

मन – मन को कहीं कुछ मिलता नहीं, इसलिए दूर दूरान्तर में भटकता फिरता है। मन की वृत्ति तंरग की भांति चंचल है। उसे वश में करना अति कठिन है। लेकिन मन क्षीण होने से वासना शून्य होने से जगत नष्ट हो जाता है। निर्मल बुद्धियोग से मन का इलाज करना चाहिये। मन की शक्ति अति प्रबल है वह जो करने का निश्चय करता है, उसमें सफल होता है। यहाँ तक कि वह स्वयं ब्रह्म तक बन सकता है। मन की चैतन्य शक्ति से वह चैतन्य भाव को प्राप्त कर ब्रह्म भावापन्न होता है। मन केवल अपने विनाश के निमित्त आत्मदर्शन करता है। मन का नाश सब दुःख से पार पाने का मूल है। विवेक द्वारा शोधित होने से मन का नाश होता है।

मन इतनी शक्ति धारण करता है कि मन अगर अन्यत्र निर्विष्ट रहे तो भोजन का स्वाद तक मालूम नहीं होता दर्शन श्रवण भी नहीं किया जा सकता। मन और चित्त दोनों बराबर हैं तथापि मन उत्कृष्ट है, क्योंकि मन से चित्त की उत्पत्ति हुई है, मन के संयम से संसार विलास की शन्ति हो जाती है मनोजय कर सकने से त्रिलोक विजय भी तुच्छ मालूम होती है। मनोजय अर्थात् निज भाव अर्थात् पूर्ण ब्रह्म रूप में अवस्थिति करना मन का धर्म है। चंचलता बिना मन का अस्तित्व जाना नहीं जा सकता। जड़ता के अभ्यास से मन जड़ बन जाता है और विवेक के अभ्यास से मन चैतन्यस्वरूप होता है। मन ही कर्मफल सुख–दुःख भोगता है।

मन ओर शरीर में कोई फर्क नहीं है। मन ने अपने रहने के लिए शरीर बनाया है। मन पुरुष है मन सब वस्तुओं में आसक्त होकर नर नाम से व्यक्त हैं। मन ही जीव और मन ही निर्मलता का गुण पाकर परंब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है मनुष्य मन छोड़कर और कुछ भी नहीं है। मन ही जन्म लेता है। मन में अनुभव शक्ति नहीं है अनुभव शक्ति प्राण वायु में हैं। मन जड़ और चेतन के मध्य में रहकर जीव बुद्धि, चित्त आदि नाम से अभिहित होता है, मन का नाश नहीं होने से वासना का क्षय नहीं हो सकता है।

चित्त – बुद्धिस्थ आत्मा ही चित्त है। जब चित्त की वासना क्षीण रहती है तब चित्त जीव कहलाता है। जब भ्रमित होता है तब शरीर और जब चित्त की कल्पना शांत हो जाती है तब वह परम ब्रह्म है।

चित्त का स्वाभाविक धर्म है विषयानुराग। चंचल चित्तवाले मनुष्य किसी विषय में एकाग्र नहीं हो सकते। चित्त का स्वरूप यह प्रपंचमय दृश्य ही है। आत्म की इच्छा विकृति ही चित्त कहलाता है। अगर चित्त का क्षय करना चाहो, तो पहले चित्तवृतियों को ध्वंस करो। चित्त नष्ट होने से संसार नहीं रहता। अज्ञान दूर होने से चित्त का उच्छेद हो जाता है। चित्त मिथ्या है इसलिये उपदेश से उसका कुछ नहीं होता केवल विचार से उसका विनाश किया जाता है।

वासना – विषयात्मिक अन्तःस्थित मनोवृत्ति ही वासना है। वासना में ही जगत्, जाल अवस्थित हैं जिसके हृदय में वासना बसी हुई है, वह त्रिभुवन को सामान्य तृण समझता है। वासना का क्षय नहीं होने से किसी अवस्था में चित्तवृत्ति

का निरोध नहीं होता है। वासना का वास न होने से तत्वज्ञान लाभ नहीं हो सकता। तत्वज्ञान न होने से वासना का क्षय भी नहीं होता अतः तत्वज्ञान, चित्तनाश और वासना क्षय ये सब पास्पर प्रकाशित होने में बाधा डालते हैं इन तीनों का साथ ही अच्छेद करने की चेष्टा करनी चाहिए।

बुद्धि – बुद्धि प्रत्येक की भिन्न–भिन्न होती है। सबकी बुद्धि बराबर भी नहीं होती। बुद्धि ही अच्छा बुरा विचार करती है और नयी–नयी चीजों का अविष्कार करती रहती है। बुद्धि जीव शरीर में दर्पण स्वरूप है।

तृष्णा – तृष्णा मनुष्य को इतना दग्ध करती है कि अमृत द्वारा भी वह ज्वाला नहीं मिटती। तृष्णा मनुष्य को भीत, दुःखी और अंधा बना देती है। अप्राप्य वस्तु पर आसक्त होती है, अभाव न रहने पर भी विषय की आकांक्षा करती है तृष्णा ही संसार में चिर दुःख प्रदान करती रहती है। तृष्णा आत्मतत्व को आच्छदित करके मानव में अज्ञानता बढ़ाती हैं। तृष्णा ही जरा मृत्यु तथा दुःख का कारण है।

चिन्ता – चिन्ता सदा अस्थिर है उसका शेष भी नहीं है और चिन्ताशून्य मनुष्य भी नहीं है। एक के बाद दूसरी चिन्ता सदा आती रहती है चिन्ता शरीर को जीर्ण कर देती है। ज्ञानी व्यक्ति विवेक रूप खड्ग से उसका छेदन करते है। चिन्ता की शान्ति नहीं होने से तत्वज्ञान नहीं हो सकता और तत्वज्ञान नहीं होने से मुक्ति का रास्ता भी सुगम नहीं होता।

माया – माया ही जगत उत्पत्ति का कारण है और इस माया से विवेक आच्छदित रहता है। माया असत्य है पर सत्य की तरह अनुभूति होती है और परमपद प्राप्ति में भेद रचना करती है। इसकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है, यह भाव असत्य है पर अज्ञान वश सत्यवत प्रतीत होती है। माया द्वारा जीव समूह ने जगत रूपी इन्द्र जाल रचा है। जब तक मूढ़ रहकर आत्मदर्शन करने में असमर्थ रहता है तब तक जल के भंवर की तरह जीव जगत में भ्रमण करता रहता है और जब आत्मदर्शन करने में समर्थ होता हैं तब असत् दृश्य का त्याग कर सत्य संविद प्राप्त कर यथासमय मायापाश को काट कर परमपद को प्राप्त करता है।

काल – जगत् में पैदा हुई ऐसी कोई वस्तु नही है जो काल के कराल ग्रास में पड़ती नहीं। काल की गति, स्थिति, उदय तथा अस्त कुछ भी नहीं है।

संसार से उद्धार न होने, कालातीत न होने पर काल से मुक्ति नहीं मिल सकती।

बुद्धि काल की महिमा को व्यक्त नहीं कर सकती। सम्पूर्ण जीवलोक में काल ही सबसे बलवान है। अज्ञान से इस संसार की उत्पत्ति हुई और उसका नाश होने से संसार का भी अन्त हो जाता है। तत्वबोध, उपासना तथा युक्ति के बिना अज्ञान का नाश नहीं हो सकता। विवेक का आश्रय लेकर वैराग्य का अभ्यास करने पर ही इस संसार सागर से उद्धार पाया जा सकता है।

परमात्मा के साथ एकता की सिद्धि केवल ज्ञानयोग से ही प्राप्त की जा सकती है, कष्टकर अनुष्ठानादि से नहीं। तत्वज्ञान के बिना ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। तत्वज्ञान प्राप्त करने के लिये यथासम्भव जीविका से संतुष्ट रहना चाहिये। योग वासना को त्यागना चाहिये। उद्योगी होकर साधु–संत तथा सत् शास्त्रों जिसमें तत्वज्ञान की बात है, उसका अनुशीलन करना चाहिए।

परमात्मा दूरस्थ नहीं अति निकट हैं – हमारे शरीर के अन्दर चेतन्य रूप में अवस्थित है। पूर्णस्वभाव चेतन का दृश्यरूप के दर्शन से निवृत्त होने पर वर्हिमुखी गतिरूद्ध होकर अंतर्मुखी गति उत्पन्न होती है। उसके बाद जो उनकी तत्कालीन पूर्णावस्था प्रकाशित होती है उसी का नाम तत्व साक्षात्कार है। वे परात्पर ब्रह्म को जान सकते है, उनकी हृदयग्रन्थि अर्थात् माया, मोह विच्छिन हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञान से इस जगत के सूक्ष्म भाव को जाना जा सकता है। दृश्य वस्तु के विनष्ट हो जाने पर मात्र चेतना ही बची रहती है। यह दृश्य जगत, काल की उत्पत्ति, तेज का प्रकाश, चेतना द्वारा जो भी बोधगम्य होता है, वह ज्ञान ही तत्वज्ञान है और ज्ञान ही ब्रह्म है।

ज्ञान शक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति यह तीनों कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर के धर्म है। स्थूल शरीर क्रिया का आश्रय है, सूक्ष्म शरीर इच्छा का आश्रय है और कारण शरीर ज्ञान का आश्रय होता है। चित्त या चेतना ब्रह्म का स्वरूप है। आकाश तीन हैं – चित्तकाश, चिदाकाश और आकाश। इन त्रिविध आकाशों में चिदाकाश शून्यतर है। मृत्यु के बाद आत्मा इसी चिदाकाश कोष में अवस्थान करती है। चित्त के समुदय से वासना का परित्याग कर चिदाकाश में स्थिति लाभ कर पाने पर निश्चित रूप से सर्वात्मक परमतत्व का लाभ किया जा सकता है। जिस प्रकार कल्पना से सृष्ट किसी वस्तु को कोई अन्य नहीं देख सकता उसी प्रकार तत्वज्ञान के बिना कोई ब्रह्म का दर्शन नहीं कर सकता। इस अनंत संसार की विस्मृति ही मुक्ति है।

ज्ञान उत्पन्न होने पर असीम संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी बोध नहीं रहता।

समाधि के प्रभाव से स्थूल देह का परित्याग कर चिद्रूपमयी पवित्र दृष्टि का अवलम्बन कर अमल होने पर चिदाकाश स्थित व्योमात्म स्वरूप सृष्टि का दर्शन होता है। ब्रह्म होकर ही ब्रह्म का दर्शन किया जा सकता है।

जबतक अभ्यास द्वारा भेदज्ञान दूर नहीं होता तबतक ब्रह्म दर्शन एवं ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती। समाधिस्थ होने पर अपने शरीर को इसी स्थान में रखकर मात्र सत्य स्वरूप चित्त का अवलम्बन कर सर्वत्र जाया जा सकता है।

यह शरीर शुद्ध सत्व गुण से निर्मित है इसीलिए चित्तस्वरूप का प्रतिभास मात्र है, परमब्रह्म से इसमें कोई भेद नहीं है। परमाकाश की सीमा नहीं है, उसका आदि, अंत नहीं है। परमाकाश महान आत्मा में अवस्थित है, यह विशाल जगत और असंख्य ब्रह्माण्ड इस परमाकाश में ही स्थित हैं।

चेष्टा चित्त की अनुगामिनी है और चित्त चैतन्य का अनुगामी है। चित्त जब ज्ञान के प्रभाव से भौतिक अतिवाहिक शरीर को प्राप्त होता है तब यह इतना सूक्ष्म हो जाता है कि वह स्वेच्छा से आकाश में, अंकुर में, पल्लवों में, पर्वतों में, जहाँ भी चाहे जा सकता है। प्रत्येक चित्त इस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न है एवं प्रत्येक चित्त पृथक–पृथक जगत का भ्रम धारण किए हुए है। चिद् वस्तु सर्वगामी है एवं उसी से वास्तविक ज्ञान का उदय होता है, वह अतिवाहिक और सूक्ष्म है अतएव ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो ऐसे सूक्ष्म और अतिवाहिक शरीर को रोक सके। जिस प्रकार जागने पर समस्त स्वप्न असत्य हो जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान होने पर स्थूल देह आदि आकाश में परिणत हो जाते हैं। अतिवाहिक देह प्राप्त होने पर अधिभौतिक शरीर की अवस्था के बारे में कुछ भी स्मरण नहीं रहता। जिस प्रकार पत्र, पुष्प, फल आदि एक ही वृक्ष में होते हैं, उसी प्रकार इस असीम जगत के समस्त पदार्थ उस एक ब्रह्म में ही हैं। जगत सत्य नहीं, असत्य है, उसका सत्य होना केवल भ्रांति है। एक ब्रह्म ही जगत है, जिसमें सृष्टि नामकी भ्रांति विद्यमान है। आत्मा सव्रव्यापी और सर्वशक्तिमान है, जड़ अभिनिवेश वासना में जब शक्ति का उदय होता है तब वह उसी के अनुरुप अवस्थित एवं प्रकाशित होता है।

मनुष्य तीन तरह के होते हैं– मूर्ख, धारणानिष्ठ और तर्कवान। अभ्यासवश जो धारणानिष्ठ और तर्कयुक्त है यह सुख से शरीर छोड़ता है। जो धारणा में अभ्यस्त एवं

तर्कयुक्त नहीं है, वह मूर्ख है।

विषयों के अनुराग व विषय गति से अनासक्त होने पर विषयज्ञान विनष्ट होता है। आत्मा के सर्वात्मक होने से उसका साक्षात्कार होता है एवं उसके बाद एकमात्र वही अवस्थित होती है। यह आत्मा परमार्थ एवं सूक्ष्म है अतः उसे देखा नहीं जा सकता, सर्वात्मक है अतः कभी शून्य नहीं होती। एकमात्र आत्मा ही सर्वत्र सर्वप्रकार से प्रकाशमान है, जगत में कोई भी पदार्थ उससे अलग नहीं है। चित्त अहंकार से अन्य शरीर प्राप्त होता है। आत्मा के तिरोधान को ही मरण कहते हैं।

इस ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियों से प्रकाशित होकर व्यवहारिक दशा प्राप्त होती है। जीव समूह वासना की दशा में पतित होकर अति विचित्र विविध दशाओं मे फँसकर जल, स्थल चारों ओर पानी के बुलबुले की तरह बनता और बिगड़ता रहता है। समस्त जीव वासना द्वारा शरीर धारण कर आसपास से आवद्ध होकर एक शरीर से दूसरे शरीर में आवागमन करते हैं।

कुछ लोग आत्मदर्शन की शक्ति प्राप्त करके भी तुच्छ बुद्धि के कारण विफल मनोरथ हो अधोगामी बनकर नरक में जाते हैं और कोई वासना के बल से देहभाव प्राप्त करता है। आकृति और प्रकृति में विलक्षणता प्राप्त कर असंख्य जीव इस प्रकार अवस्थान कर रहे हैं। उस परम ब्रह्म से निरंतर असंख्य जीवों का उद्‌भव होता रहता है एवं वे देह परम्परा का भोग कर समय पर फिर उसी परमपद में लीन हो जाते हैं।

मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय है संकल्प द्वारा मन को दृढ़ करना। संकल्प द्वारा संकल्प का एवं मन द्वारा मन का छेदन कर केवल स्व आत्मा में अवस्थित करने पर निखिल संसार रूपी दुःखों का विनाश हो जाएगा। जिसे सत्य समझते आये हैं अगर वह असत्य सिद्ध हो तो वासना कैसे रह सकती है? वासना का क्षय होने पर आत्म सिद्धि प्राप्त होती है। अभ्यास द्वारा जब दृश्य पदार्थों के प्रति उपेक्षा दृढ़तर होगी तब पता चलेगा कि सबकुछ असत्य है। उदासीन होने की वजह से ही परमात्मा किसी वस्तु का भोग नहीं करते, एवं समस्त पदार्थों के प्रकाशकारी होने की वजह से भोग तथा क्रिया करते हैं। वासना के क्षय को मोक्ष कहते हैं। जिसका मन वासना शून्य हो गया है उसे प्राणायाम आदि कर्मों एवं जप–तप आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मनोमय देह ही सुख और दुःख का आगार है, मायामय देह नहीं। प्राणियों की आत्मा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त करती है।

आत्मा के जीव भाव को प्राप्त करने पर आत्मा में ही देहभाव को प्राप्त करती है। विचार करने पर देह का पृथक प्रकाश नहीं होता। चित्त शक्ति में सर्वत्र मैं भाव के होने के कारण वह मनोमय जगत में प्रवेश करती है। बीज अपने बीजाकार को त्यागकर वृक्ष और फल रूप को प्राप्त करता है लेकिन ब्रह्म अपनी आकृति का त्याग न कर जगत भाव धारण करते हैं।

जीव में बीज स्वरूप परमब्रह्म होने के कारण ही जीव के उदर जगत में भी अनेक प्रकार के जीव हो सकते हैं। जिसमें स्थिरता की प्रतीति होती है उसे जगत और जिसमें अस्थिरता होती है उसे स्वप्न कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में प्राण सौम्य भाव को प्राप्त करता है। आत्मज्ञान में प्रवेश होने पर सुख–दुःख आदि का मूलोच्छेद हो जाता है। अचंचल आत्मा में चंचल चित्त ही चमत्कार दिखाता रहता है। चित्त शक्ति का वह चमत्कार ही जगत के रूप में बोध गम्य होता है। अंतर में जबतक चित्तज्योति अंधकार मेघ से आव्त्त रहती है तबतक परमार्थ की कुमुदिनी विकसित नहीं होती। कलुषित चित्तत्व ही जीवके नाम से जाना जाता है। सव्रगामी स्वच्छ आत्मा सर्वत्र विद्यमान है, उसमें देह एवं मैं को आरोपित करना ही बंधन कहलाता है।

कौन ऐसा मूर्ख है जो श्मशान में पड़े हुए शरीर से वार्तालाप करता है? किसी विषय में संदेह उत्पन्न होने पर कोई उसके बारे में मूर्ख से नहीं पूछता। देही के देह के अन्दर नाना प्रकार के कीटादि जन्म ले रहे हैं और उस देही के त्यक्त विष्ठा में नाना प्रकार के कीट जन्म ले रहे हैं, इस तरह जीव को नाना अवस्था में जन्म और कष्ट भोगना छोड़ और कुछ नहीं। आत्मा से प्थक चित्तता प्राप्त करने पर ही मन की उत्पत्ति होती है लेकिन पृथक ज्ञान न होने पर मन की उत्पत्ति नहीं होती। जब यह ज्ञान हो जाता है कि मैं आत्मा हूँ जीव नहीं, तब चित्त को शांत अवस्था प्राप्त हो जाती है। लकड़ी के न होने पर आग बुझ जाती है, चिंता के न होने पर चित्त नष्ट हो जाता है।

विषयों की चिंता को ही चित्तवृत्ति कहते हैं। इस चिंता में चित्त आशा सहित प्रकाशित होता है इसलिये आशा का परित्याग करने पर चित्त नाम भर रह जाता है। कामना–वासना ही जीव को बंधन में डालती है, उस बंधन को छिन्न करने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

इस ब्रह्माण्ड में मोक्ष नाम का एक स्थान है और भगवान रूपी आत्मा ही यहाँ का राजा है और मन ही उसका मंत्री है। यह विश्व मन के अन्दर वासना के रूप में

अवस्थित है। किंतु उसे किसने बंद कर रखा है? किसी ने नहीं। ज्ञान का उदय होने पर कोई वद्ध नहीं रहता। ध्यान करने या न करने का क्या फल होता है? आत्म दर्शन पाने के लिके उच्च स्वर में आह्वान नहीं करना होता, अपने ही शरीर में उसे पाया जा सकता है। प्रणव को प्रस्फुटित कर उनका स्मरण करने पर वे पल भर में दर्शन देते हैं

हरि समस्त जीवों की आत्मा हैं। यह आत्मा जब जिसमें प्रतिविम्वित होती है, तब जीव उसे ही दर्शन और मनन करता है, ऐसे वासना विमुक्त जीव का दुबारा जन्म नहीं होता। आत्मा ही आत्मा की मित्र है, आत्मा के द्वारा विवेक के बल से वद्ध भव से भवना करनेवाले जीव का उद्धार होता है। 'मैं' 'मेरा' भाव का त्याग कर स्थिर मन द्वारा चंचल मन का दमन करने पर आत्मदर्शन होता है। यह शरीर परमात्मा का का कौन है? जिस प्रकार वस्तु को जल के पास ले जाने पर जल में उसका प्रतिविम्ब पड़ता है, उसी प्रकार परमात्मा इस शरीर में प्रतिविम्व के रूप में दिखाई देते हैं। प्राणादि वायु के संसर्ग से शरीर में स्पन्दन होता है और अन्नादि वस्तुओं से स्थूलता प्राप्ति होती है। आत्मा से शरीर का कोई संपर्क नहीं है।

देह सर्वदा वायु के वश में ही चालित होती है, आती–जाती है,कार्य करती है। जिस प्रकार वाद्ययंत्र में वायु प्रवेश करने पर शब्द बाहर निकलता है, उसी प्रकार दर्शन, श्रवण, स्पर्शादि सब वायु द्वारा चित्त में ही होते हैं। जिस प्रकार जमीन पर एवं निम्नस्थान में जल का आश्रय होता है उसी प्रकार आत्मा का आश्रय अंतःकरण है।

देह के क्षय होने पर भी देही का अंत नहीं होता। क्योंकि वह आत्मा के वासनापन्न होने पर वासना में और आत्मा रहित होने पर अंतरीक्ष में अवस्थान करता है। जीव देश और काल में आवर्तित होकर बार–बार अन्य शरीर ग्रहण करने को वाध्य होता है और वासना की वजह से यत्र–तत्र भ्रमण करता है। देह, इन्द्रिय, मन और आत्मा भी आपस में स्नेह नहीं रखते। आत्मा का आदि न होने से वह जन्म विहीन और अंत न होने के कारण जन्मशून्य है। इस शरीर की प्रत्येक नाड़ी में जो वायु दोनों तरफ चलती है उसे ही प्राण कहते हैं। जब भौंहों के बीच चक्षु इन्द्रिय रहती है तभी परमेश्वर को आत्मरूप में जानना असंभव होता है, उस समय प्राणों का स्वतः निरोध हो जाता है।

प्राणों का स्पन्दन ही मन का रूप है, उसी से संसार भ्रम उत्पन्न होता है, उसका उपशम होने पर संसार की भ्रांति दूर हो जाती है। सुख या दुःख के भोग में आत्मा की कोई भागीदारी नहीं होती।

जिसप्रकार अंधकारनाशक दीप से वस्तु पूर्णरूप से दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार अंधकारनाशक विचारों से वह एकमात्र ज्ञेय, विमल ब्रह्म स्वरूप स्वयं प्रकाशित होता है।

संदर्भ सूत्र

1. महात्मा तैलंग स्वामीजी का जीवन चरित्र और तत्वोपदेश
   – स्वर्गीय उमाचरण मुखोपध्याय
2. महायोगेश्वर बाबा तैलंग स्वामीजी की जीवनी
   – स्वामी परमानन्द सरस्वती
3. महात्मा तैलंग स्वामीजी का जीवन चरित्र और उनका तत्वोपदेश
   – स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती
4. श्रीमद्भगवत गीता– पहला, दूसरा तथा तीसरा भाग
   – श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल
5. धर्म प्रसंग – स्वामी ब्रह्मानन्द
6. श्री श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग – पहला और दूसरा भाग
   – स्वामी शारदानन्द, उद्बोधन कार्यालय
7. श्री विजयकृष्ण गोस्वामीजी का जीवन चरित
   – अमृतलाल सेनगुप्त
8. सत्कथा – दूसरा भाग–स्वामी अद्भुतानन्द महाराज
9. भारत के साधक – पहला भाग– शंकर राय
10. आशावाणी का उपाख्यान – श्री विजय कृष्ण गोस्वामी
11. भारत मेरा अमर भारत – स्वामी विवेकानन्द
12. प्रवाहेर वारि (गुरु परम्परा की बातें)
    – श्रीश्री परमानंद योगानंद योगाश्रम
    (श्रीश्री योगानंद ब्रह्मचारी सोसियो रिलिजियस एंड चैरिटेबल ट्स्ट)

•••

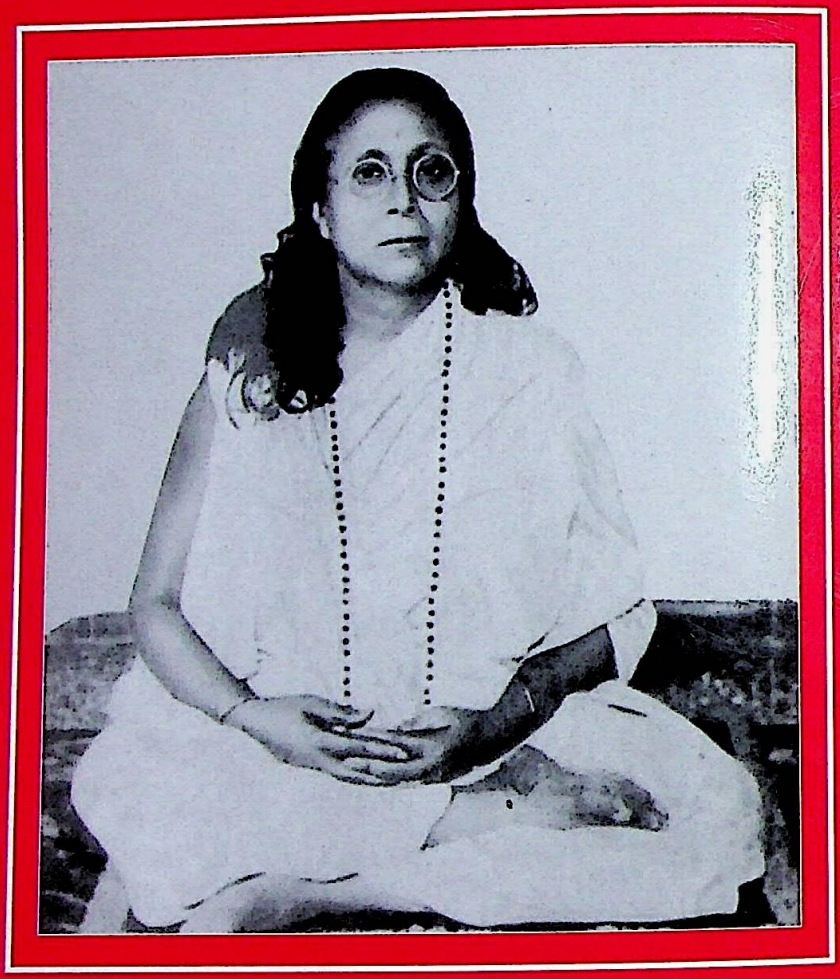

Shri Shri Shankari Mata Ji

Published By
Shri Tailanga Swami Math
K-23/95, Pancha Ganga Ghat, Varanasi - 221001